मैंने देखा

भगवत शरण उपाध्याय

कि ता ब म ह ल

इलाहाबाद बम्बई

प्रथम संस्करण, १९५१

समर्पण

रक्त और आँसुओं को जो इन नगरों ने बहाये—

प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद।
मुद्रक—ए० डबल्यू० आर० प्रेस, इलाहाबाद।

भूमिका

'मैंने देखा—' भारत के १४ नगरों की आप बीती है। देश प्राचीन है, इसके नगर प्राचीन हैं, उनकी सभ्यता प्राचीन है। सदियों की दौड़ में इन नगरों पर क्या बीती है, इन्होंने क्या झेला और देखा है वह सब ये स्वयं इमानदारी के साथ कहते हैं। इतिहास, जैसा का तैसा, ये सदियों-सहस्राब्दियों के पार हमारे सामने खोल कर रख देते हैं।

पुस्तक की पाण्डुलिपि लेखक के मित्र श्री जयदत्त पन्त ने प्रस्तुत की इससे वह उनका ऋणी है। ग्रन्थ का रचना-काल ७-१-५० से २७-१-५० तक।

६, हेस्टिंग्स रोड,
इलाहाबाद

लेखक

सूची
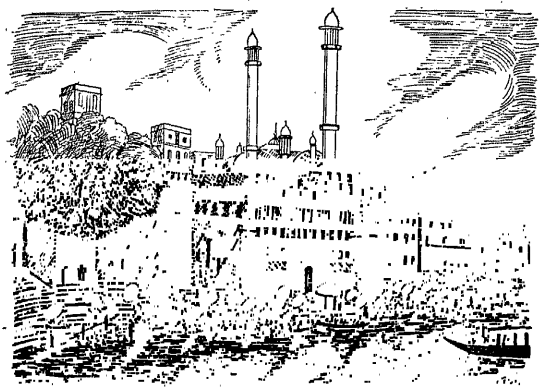
काशी

मैं काशी हूँ। आर्यों की सात प्राचीन नगरियों में मैं गिनी जाती हूँ। पर त्रिशूली के शूल पर मेरे जो बसने की बात कही जाती है, वह मुझे अधिक मान्य है। इसका कारण यह है कि उन सात नगरियों के साथ मेरी गणना, उनकी और मेरी प्राचीनता प्रायः समकालीन बना देती है। पर यह केवल अर्धसत्य है। वास्तविक बात तो यह है कि मैं अत्यन्त प्राचीना हूँ। आर्यों की कोई नगरी मेरी इतनी प्राचीन नहीं। अगर प्राचीनता में मेरी समता कोई कर सकता है तो महोनजोदेड़ो, बाबुल, ऊर।

मैं मैदान में बसी हूँ, पापनाशिनी गंगा के तट पर। आज से नहीं अति प्राचीन काल से मेरी महिमा गंगा के साथ ही अति पवित्र और स्तुत्य मानी गई है। गंगा निसन्देह मुझसे अत्यन्त प्राचीना है। परन्तु पतितपावनी जितनी वह है, उतनी ही मैं भी हूँ। और इस मैदान में बस-कर जो मैंने अपने केश पकाए हैं, तो वह कुछ हिम के सम्पर्क से नहीं वय और अनुभूति से।

मैं इस देश की धरा पर आर्यों के आने से बहुत पहले से खड़ी हूँ। धर्म पुस्तकों में जितनी ही मेरी महिमा गाई गई है, उतनी ही मेरी नाक-दरी भी हुई है। इतिहास की बीती सदियों में मैंने जो सुख-दुःख भोगे हैं उनका वर्णन करना मेरे लिए कुछ आसान नहीं। परन्तु मुझे सब कहना ही है तब मैं कहूँगी—अपने पुण्य प्रताप भी, पाप-अपमान भी। सदियों सहस्राब्दियों से मेरे तन से भावुक श्रद्धालु लिपटे रहे हैं। कहाँ तक मैं उनके क्लेश को दूर या पाप का शमन करती हूँ, यह मेरे कहने की बात नहीं, उनके विश्वास की बात है, मेरी खुद की कहानी ताप और शीत सहनेवाले और उनके स्पर्श से दुःख-सुख का अनुभव करनेवाले प्राणी की है।

मेरी महिमा सर्वत्र गाई गई है, परन्तु मेरा जीवन ज्यादातर तकलीफ का जीवन रहा है, लूटों से भी मुझे तकलीफ पहुँची है। मुझे उसी बनैले-पन से आर्यों ने भी लूटा है, जिससे इस्लाम के गाज़ियों ने लूटा, या हेस्टिंग्स के फिरंगियों ने। परन्तु उस लूट से मैं इतनी न कुढ़ी, जितनी अपने अन्तर की व्यथा से। उस व्यथा की कहानी भी उस इतिहास का अंग है जिसका मैंने अपने उन हजारों साल के जीवन में निर्माण किया है और जिसे मैं अब सुनाने जा रही हूँ।

दूर का जमाना हुआ, इतने दूर का कि साफ साफ याद नहीं आता। नाटे कद के घने घुँघराले बाल वाले श्याम रंग के कुछ मनुष्य मेरे तट

पर एक बार आए। मेरे आसपास की जमीन बनों से ढकी थी और गंगा का उनके बीच से होकर बहना कठिन हो रहा था। उन्हीं बनों की आड़ में गंगा के इस तट पर जो थोड़ी सी खुली जमीन थी वहीं, उन्होंने अपने शत्रुओं से रक्षा का समुचित स्थान समझ, अपने गाँव के बल्ले गाड़े। वही मैं हूँ जो आज शहर हूँ, सात नगरियों में से एक विशिष्ठ नगरी।

तब निरन्तर चारों ओर मार-काट हुआ करती थी। एक जन दूसरे जन को मार डालता। उसकी ढोरें छीन लेता, उसके गाँव और खेत ले लेता, उसकी नारियाँ ले लेता और नरों को अग्नि की लपटों के हवाले कर देता। वह जीवन भी अपनी जगह पर कुछ कम भयावह न था और खूंरेजी प्रायः रोज की बात थी, और इसलिए वन में विशेष कर नदी के तट पर यदि कोई स्थान मिल जाता तो वह सुरक्षित माना जाता और जनों के बसने के लिए समुचित स्थान। मैं इसी प्रकार की बचाव की जगह थी, जहाँ जंगल पार कर शत्रु का आना कठिन था और जहाँ कम से कम एक ओर गंगा स्वयं गहरी और चौड़ी खाई की भाँति मेरा पानी का परकोटा बनाती थी।

मैं बढ़ चली, फैल चली गंगा के तट पर, इस बन के पीछे जो दूर तक फैला हुआ था, जिसमें शेर और चीते दहाड़ते थे। भूखे भेड़िये फिरते थे, हिरन चौकड़ी भरते थे। स्वयं गंगा में जल-जन्तुओं की कमी न थी। घड़ियाल बराबर मुँह बाये घाट की ओर घूरते रहते थे और समय असमय मेरे नागरिकों को वैसे ही उदरस्थ कर लेते थे जैसे स्थल का शेर। फिर भी मेरे नागरिक वीर और साहसी थे, जीवन की रक्षा के लिए लड़ कर भी उन्होंने कभी उसे सारभूत न माना और जल-थल के शत्रुओं से बचते वे अपने जीवन का नित्य नैमित्तिक रूप से निर्वाह करने लगे।

मेरे नागरिकों की उन्नति मेरी उन्नति थी। पास के खेत में अन्न

उत्पन्न होता, बन में फल और मद, नदी अपने अनन्त अनन्त जीवों की भेंट लिए सदा तत्पर रहती और मेरे बन के जन्तु भी मेरे नागरिकों की उदरपूर्ति में कुछ कम काम न आते। मिट्टी के मेरे घरों में चर्खे और कर्घे निरन्तर चलते रहते, मोटा खुरदुरा वस्त्र मेरे बसने वालों के तन ढकता और मैं उनकी सफाई और सूझ देख फूली न समाती।

धीरे धीरे मेरे मिट्टी के घर भी कम हो चले और उनके स्थान पर कालान्तर में धूप में सुखाई ईंटों के मकान बन चले। कुछ ही काल बाद जाहिर हो गया कि आग में तपाई ईंटें अधिक टिकाऊ होती हैं, अधिक लाल तब आग में पकाई ईंटों का इस्तमाल होने लगा। मेरी नगरी अब गाँव न थी। खासा शहर था। तब दूर पास के शत्रुओं में मुझे लूटने और कभी कभी मुझमें बसने की भी कामना बलवती हो चली। अक्सर मैं लुटी, अक्सर मुझे लूटने वाले ही मेरे परकोटों के पीछे आ बसे।

और मेरे एक देवता भी थे, वही देवता विश्वनाथ। तब वे पशुपति थे; सारे चराचर के स्वामी, त्रिशूली, लिंगराज, जिनकी शूली की नोक पर भक्तों ने मुझे बसी कह और जिसके सम्पर्क से निश्चय मैंने अपने को धन्य माना। उसी देवता का तब देश में बोलबाला था। उसी के मेरे नगर में मन्दिर बनते थे; उसी की पूजा होती थी, क्रोध और भक्ति में उसी को साक्षी कर प्रतिज्ञा और प्रणाम किया जाता था।

मेरे बसे प्रायः दो हजार वर्ष बीत चुके थे कि दूर के नगरों के बसने वाले भागे हुए मेरी नगरी में पनाह लेने आए। उसका और यहाँ आकर जो उन्होंने विध्वंस और अग्निदाह की कहानी कही तो, मेरे रौंगटे खड़े हो गए। सिन्धु नद की घाटी में मेरी ही सी एक समृद्ध सभ्यता फैली थी। वहाँ के नगर ज्ञान-विज्ञान में, कला-कौशल में, कृषि-वाणिज्य में संसार में प्रसिद्ध हो चुके थे और विशेषकर सिन्धु देश का आज के परकाने

का वह प्राचीन नगर तो तबके संसार के क्रय-विक्रय का केन्द्र था। ऊर और बाबुल, मिश्र और चीन सर्वत्र से व्यापारी अपने काम की चीजें वहाँ के बाजार में खरीदते। मेरे नगर के भी अनेक प्रकार के कला-कौशल कब के जग चले थे। मेरे नागरिक भी सौदागरी की कितनी चीजें तैयार करते थे, विशेषकर भाँड और रेशमी वस्त्र तो मेरे दूर-दूर तक जाने लगे थे। चाँदी की बनी मेरे नगर की चीजें विशेष तरह से दूर की दुनिया वाले पसन्द करते और इन मेरी चीजों की बिक्री का बाजार भी सिन्ध के उसी नगर में था।

सो वहाँ के जो भगेड़े आए उन्होंने बताया कि किस प्रकार ऊँचे, तगड़े, गोरे सुन्दर, तुंगनास, पिंगलकेश आक्रमकों की अनेक बाढ़ों ने आकर सारे सप्तसिन्धु को आप्लावित कर दिया है। आक्रमक अपने को आर्य कहते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, सूरज और चाँद को देख विह्वल हो मन्त्र पढ़ने लगते हैं, मन्त्र पढ़ कर ही वे शत्रुओं पर चोट करते हैं, उनके पास तीर है, कमान हैं, भाले हैं, बर्छे हैं, फर्से और ढाल हैं, शिरस्त्राण और कवच हैं, उनके पास कोई धन नहीं, कोई घर नहीं, हथियार उनके धन हैं, घोड़ों की पीठ उनके घर, विकराल सिंह सदृश कुत्ते उनके साथ ही वायुवेग से, वे शत्रु पर टूट पड़ते हैं, उनका संहार कर उनकी स्त्रियाँ छीन लेते हैं। वृद्धों को मार देते हैं, तरुणों को दास बना लेते हैं। उनकी विजय के स्मारक जले हुए गाँवों की राख है, मरे हुओं की रक्त की धाराएँ। उन्होंने ही सिन्धु तट के नगरों को उजाड़ दिया है। वहाँ वे स्वयं बस गए हैं, परन्तु उन्हें नगर बनाने नहीं आते, नगरों में बसना वे नहीं जानते, वे गाँवों में रहते हैं, तृण के मण्डपों में। आखिर उनको एक जगह रुकना भी तो विशेष नहीं, आज यहाँ, कल वहाँ। इसी से तो हमारे नगरों को जो ईंट-पत्थर के बने हैं, वे लोहे के दुर्ग कहते हैं। इसी

से तो उनका सम्पर्क, उनका आगमन अशुभ और मृत्यु का सूचक है। शिव हमारा कल्याण करें।

और एक दिन ऐसा हुआ कि मुझे भी गोरे, ऊँचे-तगड़े उन धनुर्धरों का सामना करना पड़ा। झुण्ड के झुण्ड घोड़ों पर चढ़े वे मेरी प्राचीरों को तोड़ते हुए, सड़कों और गलियों में पिल पड़े। उनकी संख्या तो बहुत न थी पर उनका कायिक बल अपूर्व था और जिन बाहनों पर वे चढ़े थे, उन्हें वे अश्व कहते थे। यह अश्व ही उनके राष्ट्र या धन के पर्याय थे, क्योंकि इन्हीं की पीठ पर उनका घर था, उनका धन था। उन घोड़ों को मैंने पहले पहल तभी देखा जब उन्होंने मेरे नगर में यम की सेना की भाँति प्रवेश किया और मैं डर गई। दोनों से, उन घोड़ों से भी, उनके सवारों से भी। और यह सवार! ये दुर्दान्त, भीमकाय, गौरवर्ण, जालिम लुटेरे उन्होंने एक घर न छोड़ा। सब में आग लगा दी। मेरे नागरिकों को कुचल डाला, मेरे देवता को भ्रष्ट कर दिया, उसका आयतन तोड़ कर ईंटें जमीन पर बिखेर दी, देवता कुछ न बोला, अपने अपमान के प्रतिकार में वह कभी न बोला, न तब न पीछे।

मेरे नागरिक शान्तिप्रिय थे। युद्ध के कौशल कबके उनके पराए हो चुके थे। शान्ति का जीवन बिताने वाले उनके हाथ-पैर इन संहारकों के आते ही फूल गए। उनको उनके विजेताओं ने अनार्य कहा, कृष्णाकाय, अनासा, मृध्रवाक, अयज्वन, अदेवयु, शिश्नदेवा। ये सारे शब्द उनके विचार में गाली थे, परन्तु मेरे नागरिकों के लिए वे गाली न थे और कुछ ही काल बाद फिर वे स्वयं इन शब्दों को गाली की तरह शत्रुओं के विरुद्ध प्रयुक्त भी न कर सके। शिश्नदेवा, जितने मेरे प्राचीन नागरिक रह चुके थे उतने ही अब मेरे नए गौरांग विजेता हुए। लिंगपूजन उनका भी सर्वस्व हुआ और मेरे त्रिशूली को उन्होंने शिव, शंभू, शंकर आदि कल्याण-सूचक विरूदों से आमन्त्रित किया। मैं हँसी जब मैंने देखा

कि कभी की गाली अब का विरुद बन गई। शत्रु विजेता होकर भी विजित की संस्कृति का किस प्रकार दास हो जाता है, यह मैंने तभी देखा। सुन्दर, श्मश्रु और केशधारी पुरोहित जिन्हें विजेता आर्य ऋषि कहते और गुरु मानते थे अब अपनी यज्ञशालाओं से बाहर निकल मेरे पुराने नागरिक पुजारियों से मन्त्र सीखते, उनकी गति-विधि क्रियाएँ सीखने के लिए उनके चारों ओर मंडराते रहते। और मेरे वे पुराने पुजारी अपने चारों ओर रहस्य का आवरण पहने भेद की चेष्टाओं से निरन्तर अपने विजेताओं को स्तब्ध और मुग्ध रखने लगे।

नवागन्तुक विजेता कई जातियों में बँटे थे। उनमें 'ऋषि' और 'राजा' थे, 'ग्रामणी' और रत्नी थे। धीरे धीरे एक कुल ने मेरे नगर में अपनी शक्ति की स्थापना की। वह कुल मेरी नगरी में प्रायः तभी प्रतिष्ठित हुआ, जब अयोध्या में इक्ष्वाकु कुल प्रतिष्ठित हुआ, जब विदेह माथव सदानीरा (गंडक) को पार कर मिथिला की ओर चला गया, जिस काल भरतों के राजा प्रतर्दन का राजकुल भी अपना शासन मेरे नगर और उसके आसपास के इलाकों पर कुछ सदियों बनाए रहा। फिर जब विदेहों के सीरध्वज जनक ने सांकिश्य का राज जीत कर अपने अनुज कुशध्वज को दे दिया, तभी मैं भी कुशध्वज की ही एक शाखा के हाथ में आई।

फिर धीरे धीरे मेरे नगर में उन ब्रह्मदत्तों की प्रतिष्ठा हुई जो पूर्व के आर्यों में संस्कृति और ज्ञान के अप्रतिम अग्रणी माने गए। महाभारत युद्ध के बाद ही उनकी विशेष प्रतिष्ठा बढ़ी। महाभारत काल में मगध ने अपना साम्राज्य काफी बढ़ा लिया था। उस काल से पहले जब आर्य पंचाल से पूरब बढ़े थे और उन्होंने काशी, कोशल और विदेह में जब अपना वैश्वानर प्रज्वलित किया और वहाँ अपने राजकुलों की नींव डाली तब अपनी दिशा में, मैं ही पूर्व की उनकी सीमा बनी।

अंगों-मगधों को आर्यों ने अपावन देश माना और अपने ज्वर आदि व्याधियों को उन्होंने मन्त्र द्वारा उन्हीं में निर्वासित करने के उपक्रम किए।

परन्तु महाभारत काल के कुछ पहले से ही जो वहाँ आर्य कुल प्रतिष्ठित हो चुके थे तो उन्होंने एक के बाद एक नए राज्य खड़े किए और बार्हद्रथों ने तो अपना साम्राज्य इतना बढ़ाया कि जरासंध के शासन काल में मैं और कोशल दोनों मगध की बदली सीमा में समा गए। कुछ ही काल पहले मेरे नगर में भीष्म तक आए थे। काशीराज की कन्याएँ जिन्हें भीष्म ने स्वयंबर में जीता पर जीत कर भी जिन्हें न ब्याहने के कारण उन्हें परशुराम के कोपानल का सामना करना पड़ा, वे मेरी ही नगरी की थीं। उसी कुल की जिसे यहाँ प्रतिष्ठान से चन्द्रवंशी प्रतापी पुरुरवा के एक वंशधर ने प्रतिष्ठित किया था। महाभारत काल तक पहुँचते पहुँचते वह कुल मगध का अनुचर हो गया। परन्तु जरासन्ध के बध के बाद जब उसका पुत्र सहदेव भी महाभारत में जूझ गया तब बनी न रह सकी। महाभारत के बाद शीघ्र ही जिस प्रकार निचक्षु ने वत्स में डेरा डाल कोशाम्बी को सनाथ किया, जिस प्रकार गिरिव्रज में एक नए राजकुल की प्रतिष्ठा हुई, जिस प्रकार विदेह में एक नए जनक कुल ने सीरध्वज के बाद स्थापित होने वाले गणतन्त्र को उलट कर अपना राजतन्त्र स्थापित किया, जिस प्रकार पंचाल में एक विचक्षण राजवंश जमा, उसी प्रकार मेरी नगरी में भी। उन ब्रह्मदत्तों का कुल अंकुरित हुआ, जिनके शान और प्रताप की बात मैं अभी कह चुकी हूँ।

ब्रह्मदत्त कुल के राजा चिन्तक थे, दार्शनिक और उन्होंने अपने विचारों के जो वितान ताने, यद्यपि उनमें साक्षात् तत्व का लेश भी न था, वह फला खूब। वस्तुतः तब के आर्य जगत में जनपद राज्यों की प्रतिष्ठा के बाद चिन्तन की एक धुन सी सवार हो गई थी। आर्य नगरों

के समीपस्थ बनों में ऋषियों के चरण प्रतिष्ठित थे, जहाँ ऋषि ब्राह्मण क्षत्रियों और कभी-कभी विशेष कृपा होने पर वैश्यों को वेदाध्ययन कराते। मैंने अपने प्राचीन नागरिकों में जिनको आर्य गाली देते थे, कभी जन-जन में भेद न देखा था परन्तु आर्यों की जनता में अनेकों स्तर थे, झुण्ड के झुण्ड पशु से भी गए बीते दास और असंख्यक सेवक जिन्हें पढ़ने लिखने का तो अधिकार नहीं ही था ग्रन्थगत बातें सुनने का भी अधिकार न था। अस्तु।

जनपद राज्यों की प्रसरलिप्सा अन्न की उपज ने कम कर दी थी। सहस्राब्दियों से लूट और आहार की खोज में फिरते रहने वाले घुमक्कड़ों को आधार मिला था जहाँ वे अब बस गए थे और जिस समृद्धि को वे अब भोगने लगे थे, उसने उन्हें प्रमादी बना दिया था। तलवार उठाने की उनमें न तो अब विशेष क्षमता ही रह गई थी न इच्छा ही। अब वे द्वन्द्वात्मक चिन्तन मात्र करते थे, दार्शनिक वाद-प्रतिवाद मात्र और इस वाद-प्रतिवाद में, द्वन्द्वात्मक चिन्तन में अग्रणी ये राजकुलीय क्षत्रिय थे, ब्राह्मण ऋषि नहीं।

इस प्रकार का चिन्तक केकयों में अश्वपति था, पंचालों में प्रवाहण जैबलि, विदेहों में जनक और मुझ काशी में अजातशत्रु। चारों ब्राह्मण ऋषि कुमारों को निरन्तर अपने नए ज्ञान से विदग्ध करते उद्दालक आरुणि, याज्ञवल्क्य आदि सभी ऋषि कुमार अपने ज्ञान के लिए उन्ही राजपुरुषों की ओर ताकते थे।

अजातशत्रु मेरी नगरी का ही राजा था जिसने दृप्तिबालाकि को अपने प्रश्न से स्तब्ध और निरुत्तर कर दिया, निःसन्देह आत्मा अथवा शरीर में रहने वाले किसी ऐसे जीव की कल्पना जो बँधा भी है, स्वतंत्र भी है, खाता भी है, निराहार भी रहता है, मारता भी नहीं, मारा भी नहीं जाता, नित्य है, अमर है और शरीर के मरने पर फिर

भी जीवित रहता है, बार बार दूसरे शरीरों में अनन्त काल तक जन्मता रहता है—निःसन्देह इस भूल-भुलैया को समझना कर्मकाण्डी ब्राह्मण के लिए टेढ़ी खीर था। चिन्तन पहेलियों में होने लगा था और मेरे क्षेत्र का अदम्य ब्राह्मण उस पहेली को न सुलझा सकने के कारण विजित हो गया। अजातशत्रु ने गङ्गा के तट पर अपने प्रासाद के विमल ऊँचे आसन से उपनिषद् तत्व का व्याख्यान किया। इस आर्य राज कुल ने मेरी महिमा ही बढ़ाई। यद्यपि मैं अब शूली के शूल की नोक पर विराजमान न थी आर्य चिन्तन के मैदान में उत्तर आई थी। परन्तु आर्यों ने भी मुझे कुछ कम गौरव न दिया। उनके ज्ञान का मैं कबसे केन्द्र हो चली थी और अजातशत्रु ने तो मुझे निश्चय अग्रणी बना दिया। ईस्वी पूर्व की वह नवी सदी चिन्तन में विशेष जागरूक थी और मैं जब विविध सिद्धान्तवादियों को अपने अपने सिद्धान्तों का निरूपण और व्याख्यान करते सुनती तो यद्यपि मुझे उनके रहस्य में कोई सार्थकता न जान पड़ती दूसरों पर उनके प्रभाव की मात्रा देख पुलकित अवश्य हो जाया करती।

जमाना बदला। कर्मकाण्ड विरुद्ध विद्रोह कब का हो चला था। सरस्वती के तट पर खड़े अनन्त यूप अब बेकार हो गए थे। उनमें बँधने वाले बलिपशु अब उस यज्ञ स्थल से दूर जा पड़े थे। सरस्वती का तट वीरान हो गया था। मेरा तट अब जनाकुल था भरा-पूरा। मेरा तट भी जो कभी यूप से बँधे बलि के लिए कटने वाले पशुओं की चीत्कार से गूँजता रहता था, अब शान्त था। उसके स्थान पर अब जीव और अहिंसा की महिमा गाई जाने लगी थी। इस विद्रोह के इस नए आन्दोलन के अग्रणी क्षत्रिय थे और अनेक बार इस काल के राजकुलों के उन कनिष्ठ वंशधरों ने चिन्तन के क्षेत्र में नेतृत्व किया जिनको गद्दी पाने का अवसर न मिला। मेरे राजा अश्वसेन का पुत्र पार्श्व इसी प्रकार का

चिन्तक सिद्ध हुआ। ब्राह्मणों के प्रति उसका विद्रोह सबल हो उठा और उसने कर्मकाण्ड से विमुख हो अस्तेय अहिंसा सत्य और धनहीनता के सिद्धान्तों का प्रचार किया। ये चारों और विशेषकर अहिंसा तो कभी की आर्यों की सम्पति न रही थी। मैं जानती थी कि यह मेरे प्राचीन नागरिकों के विचारतत्व हैं जो काल के जादू से अब उनके विजेताओं के सिर पर चढ़ कर बोल रहे हैं और मैं उस चमत्कार को चुपचाप, पर सन्तोषपूर्वक देखती रही।

ब्रह्मदत्तों के शासन काल में मैं विशेष फली-फूली। मेरा वाणिज्य अनियत मात्रा में बढ चला। युद्धों का डर कब का हो चला था। शान्ति के जीवन में नागरिकों का कलाकौशल में लग जाना स्वाभाविक ही है। वाणिज्य की अनन्त अनन्त वस्तुएँ तब मेरे विविध मुहल्लो में प्रस्तुत होने लगीं। मेरी नगरी कब की दूर-दूर के सीमाप्रान्तीय नगरों से वाणिज्य पथों द्वारा जोड़ दी गई थी। मेरे केन्द्र से वणिकपथ पाटलिपुत्र और गिरिब्रज, मिथिला और अयोध्या, कोशाम्बी और अहिच्छत्रा, मथुरा और तक्षशिला उज्जैनी और पश्चिमी समुद्र-तट को दौड़ने लगे थे। मेरे वणिक गाड़ियो में भाँड़, वस्त्र और अन्य अनन्त सौदा की वस्तुएँ भर-भर कर दूर देश की यात्रा करते और उनके बाजारों में मेरी चीजें बेचकर समृद्ध हो जाते। उनकी यात्राओं की कहानियाँ जातकों और पंचतन्त्र में लिपिबद्ध हुई। दूर के नगरों में मेरी नगरी की बनी चीजों के नाम पर उनके बाजारों में बीथियों और सड़कों के नाम पड़ गए। मेरे कारवाँ बावेरु (बाबुल) और मिश्र तक स्थल मार्ग से जाने लगे। मेरे वणिक विशाल पोतों पर समुद्र लांघ दूर के द्वीपों में पहुँचने लगे।

कुछ ही दिनों बाद, प्रायः दो सदियाँ बीतने पर विद्रोह की धारा जो अब नितान्त प्रबल हो उठी थी वैशाली और कपिलवस्तु के क्षत्रिय गण-तन्त्रों में बह चली। गणतन्त्र अपेक्षाकृत अधिकाधिक जनसत्ताक होते थे

और वहीं विरोधी भावनाओं के पनपने के लिए भूमि प्रस्तुत थी। वहीं उसकी बेलें लगीं और फूली-फली। वर्द्धमान महावीर ने विजित होकर वैशाली की जनता में अहिंसा और यज्ञ विद्रोह का प्रचार किया और कपिलवस्तु के गौतम बुद्ध ने मगध, कोशल, वत्स और वैशाली में। वज्जियों और शाक्यों में अप्रतिम नेता गाँव-गाँव नगर-नगर घूम कर मनुष्य मात्र की एकता और उसके कल्याण के साधनों का प्रचार करने लगे।

परन्तु तब तक मेरी राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनों स्थितियों में पर्याप्त अन्तर पड़ गया था। मेरी राजनीतिक चेतना, शस्त्र के प्रति उदासीनता और वाणिज्य के बाहुल्य से कब की खो चुकी थी। मेरी समृद्धि और निष्क्रियता बाहरी साहसिकों की तृष्णा का कारण हुई। उनके भीतर उन्होंने लोभ की जो भावना जगाई उससे स्वयं मैं अपनी रक्षा न कर सकी। मगध के गिरिव्रज में हर्यकों का राजकुल कायम था, वत्स की कौशाम्बी में भरतों का राजकुल, दूर की अवन्ती में प्रद्योतों का राजकुल शासन कर रहा था और पास के कोशल की श्रावस्ती में कोशलों का राजकुल और मैं मगध तथा कोशल की प्रसर-लिप्सा का निरन्तर उद्दीपन करने लगी थी। फिर तो एक दिन श्रावस्ती के कंस ने मुझ पर आक्रमण कर मुझे हड़प ही लिया। मैं कोशल के अधिकार में तब चली गई और कंस ने 'बाराणसी गहो' अपना नया विरुद धारण किया। वह ईसा पूर्व सातवीं सदी का अन्त था जब एक नया युग धीरे-धीरे मध्य देश के इस पूर्वी भू-खण्ड पर अपना मस्तक उठा रहा था।

मैं राजनीति विहीन निश्चय हो गई परन्तु मेरी सांस्कृतिक और धार्मिक मर्यादा फिर भी बनी रही। ईसा पूर्व छठी सदी में अवन्ती का राजा चण्डप्रद्योत महासेन हुआ, वत्स का उदयन, कोशल का

प्रसनजित, और मगध का बिम्बिसार। उदयन ने मेरे पड़ोसी भर्गों को जीत उनकी राजधानी शुमशुमारगिरि (चुनार) में अपने पुत्र बोधी को शासक बना कर भेजा और बिम्बिसार ने अंग को जीत मगध में मिला लिया। मेरी राजनीतिक सत्ता पहले ही नष्ट हो चुकी थी, सोलह जनपदों की गणना से मैं कब की अलग हो चुकी थी और अब मुझे मेरे नए प्रभुओं ने वाणिज्य की वस्तु की भाँति कभी लेना कभी देना शुरू कर दिया। श्रावस्ती के महाकोशल ने अपनी पुत्री कोशलदेवी का विवाह मगध के बिम्बिसार से किया और उसके 'चूड़ास्नान' (पाकेट खर्च) के लिए मेरी एक लाख की वार्षिक आय उसके यौतुक में दे दी। अब मैं मगध की नगरी हुई। जिस मगध को मैंने प्राचीन काल से ही अपावन माना था उसी की आश्रिता नगरी होते मेरी छाती फट गई। परन्तु जब मुझ में स्वयं सामर्थ्य न थी और मैं दूसरों के लेने-देने की नारी की ही भाँति वस्तु हो गई थी तब मुझे अपनी स्वतंत्र इच्छा-अनिच्छा का ही क्या अर्थ और प्रयोजन ? मैंने चुपचाप मगध को आत्मसमर्पण कर दिया यद्यपि मेरा बिसूरना नियति ने सर्वथा व्यर्थ न जाने दिया और शीघ्र मेरे ही लिए मगध और कोशल में भयानक द्वन्द छिड़ गया।

बिम्बिसार का पुत्र अजातशत्रु सिंहासन का लोभ और अधिक संवरण न कर सका और उसने पिता को हटाकर उसे हस्तगत कर लिया। पता नहीं बिम्बिसार कैद में भूख से मरा या पुत्र के विष से पर इतना जरूर है कि वह राजगृह के प्रासाद से गायब हो गया और अजातशत्रु ने नए सिर से मगध की शक्ति बढ़ानी शुरू की। महाकोशल का पुत्र प्रसेनजित, कोशलदेवी का भाई था। बहिन का वैधव्य उसे खल गया और उसने अब मेरी नगरी की एक लाख की वार्षिक आय मगध को देनी बन्द कर दी। अजातशत्रु कोशल पर चोट करने का

मौका तो देख ही रहा था यद्यपि वज्जियों की तत्परता और अवन्ती के प्रद्योत के भय ने उसे कोशल पर चोट करने के संबंध में कुछ शंकित कर रखा था पर प्रसेनजित के इस आचरण ने उसे युद्ध के लिए प्रस्तुत कर दिया। युद्ध ठन गया। मैं चुपचाप देखती रही। अपने भाग्य से मैं उदासीन थी और युद्ध से मेरी वस्तुस्थिति में कोई अन्तर पड़ने वाला न था क्योंकि दोनों में से किसी एक की जीत होनी आवश्यक थी और इस दशा में मुझे उसकी ही होकर रहना होता तब जब मुझे स्वतंत्र रहना ही न था तब मेरे लिए जैसा एक तैसा दूसरा। फिर भी युद्ध की भयंकरता कुछ असाधारण थी। उसका काल विस्तार भी कुछ कम न था और दोनों पक्षों की असामान्य दृढ़ता उस युद्ध को निश्चय औरों के लिए ही नहीं मेरे लिए भी आकर्षक बनाए रही। पर अन्त में जीत मगध की हुई और न केवल मैं वरन् प्रसेनजित की पुत्री वजिरा भी अजातशत्रु की गाँठ बाँध दी गई। मैं फिर मगध की चेरी हो गई और अब की न केवल मेरी आय वरन् सारा शासन राजगृह के हाथ चला गया।

राजगृह फिर भी दूर पड़ता था और मुझ पर उसकी पकड़ कुछ ढीली ही थी पर दर्शक के पुत्र उदायीभद्र ने जब राजगृह छोड़ गंगा-शोण के कोण में नई राजधानी पाटलिपुत्र बसा ली तब तो नित्य ही उसके दूत मुझे नग्न करने लगे। जो स्थिति पिछले काल में अवध की बेगमों की हुई वही स्थिति तब मेरी थी। मेरा राजकुल अपना न था, मगध के शासन का मैं केन्द्र न थी, मैं केवल उनके लोभ और तृष्णा को बुझाने वाली वह उदासीन साधन थी जिसका अपनी कुछ प्रतिक्रिया नहीं होती अपनी कुछ इच्छा नहीं होती। फिर भी मेरी सांस्कृतिक प्रतिष्ठा अभी बनी थी जो सदियों बनी रही और मगध बार बार मुझे अपनी विजय के प्रतीक के रूप में दुनिया के सामने रखता रहा।

एक दिन मगध का वह राजकुल भी न रहा। मन्त्री शिशुनाग ने हर्यंकों का वह राजकुल समाप्त कर उसकी गद्दी पर अधिकार कर लिया। वह फिर राजगृह के प्रासाद में प्रतिष्ठित हुआ और मैं उसके शासन की नगरी हुई। परन्तु उसने मुझ पर अपनी पकड़ मजबूत रखने के लिये मेरा एक शासक नियत किया जो मेरे ही प्रासादों में रहने लगा। इससे मेरी राजनीतिक स्थिति में कुछ अन्तर पड़ा और मुझे कुछ प्रतिष्ठा मिली। इस बीच मैं अपने पुरानी सांस्कृतिक मंजिलें सँभा-लती रही थी। अनेक शैव तन्त्रों का मैं कब का प्रणयन कर चुकी थी, अनेक नये तन्त्रों का उद्घाटन मैंने अब किया।

मगध की राजनीति में सहसा एक क्रान्ति हुई और यह क्रान्ति साधारण न थी। शैशनागों के राजकुल का अन्त कर महानन्दी की रानी का नापिक पुत्र महापद्मनन्द राजा को मार मगध की गद्दी पर बैठ गया और उसने अपना सर्वक्षत्रान्तक शूद्र राज्य वहाँ प्रति-ष्ठित किया। प्राचीन मगध की म्लेच्छ परम्परा के अनुकूल ही यह क्रांति थी और मुझे स्वयं डर लगा कि इस नई वस्तु स्थिति में मेरी क्या गति होगी क्योंकि मेरे विचार अब सर्वथा बदल चुके थे। अब मैं आर्य राजकुलों की संगिनी थी। मुझे निम्नवर्णियों का शासन प्रिय न था परन्तु जो होना था वह हो कर ही रहा और महापद्मनन्द और उसके शूद्र बेटों का अधिकार पाटलिपुत्र के साथ ही मेरे नगर पर भी हो गया, सौ वर्षों का यह नया जीवन मैंने फिर किसी प्रकार काटा। ब्राह्मण और क्षत्रियों ने मुझे आदर और सम्मान दिया था। ब्राह्मण पाटलिपुत्र के दरबार में अब भी प्रबल थे। पाणिनी और चाणक्य दूर से वहाँ आ बसे थे और कात्यायन फिर भी यहीं अपनी 'वृत्ति' का उदघोष करता था। परन्तु क्षत्रियों ने अपना कृपा हस्त मेरे मस्तक से हटा लिया यद्यपि उनकी कृपा में अब विशेष शक्ति न रह गई थी।

परन्तु यह क्रान्ति भी मगध में चिरस्थाई न हो सकी और शीघ्र चाणक्य ब्राह्मण की सहायता से क्षत्रिय चन्द्रगुप्त मौर्य ने नन्दों का नाश कर मगध का सिंहासन छीन लिया और उसने अपने नये साम्राज्य का निर्माण शुरू कर दिया। साम्राज्य बढ़ चला। जब दूर की तक्ष-शिला और उज्जयिनी तक उसकी शासन केन्द्र हुईं तब मेरी क्या बात थी। मैं तो वैसे भी सांस्कृतिक दृष्टि से पर्याप्त पूज्य थी यद्यपि मेरे भी अनेक नागरिक दीर्घ काल से तक्षशिला के विद्यापीठ में अध्ययन करते रहे थे। चाणक्य के प्रभाव से मेरी शक्ति फिर भी बढ़ चली और मेरा गौरव भारत के नगरों में असाधारण हो गया। अनेक बार व्यस्त रह कर भी स्वयं चाणक्य ने मेरे तट पर डुबकी लगाई। दूर दूर के भक्त अब विशेषकर एक साम्राज्य के नागरिक हो जाने के कारण मेरी नगरी में आने लगे। सिकन्दर का सेनापति सेल्यूकस जब दूर की सीरिया से हिन्दूकुश की ओर बढ़ा तब एक बार मैं अवश्य डरी कि कहीं मेरा हाल भी वही न हो जो पंजाब का कभी हुआ था पर वह विपत्ति केवल टल ही नहीं गई पर मगध के साम्राज्य को हिन्दुकुश के प्रान्त और मिल गए। मेरे यज्ञ स्तूप पूर्ववत् गंगा तट पर खड़े रहे। मेरे त्रिशूली के गण सर्वत्र मेरी नगरी में नाचते रहे। वीरभद्र और काल भैरव दोनों मेरी रक्षा में सन्नद्ध थे।

परन्तु बहुत काल मेरे यूप खड़े न रह सके और यदि वे खड़े रहे भी तो नितान्त अकेले। उनकी अर्गला में बहुत दिनों तक फिर बलि पशु के बँधने का सौभाग्य न हुआ क्योंकि चन्द्रगुप्त के पोते अशोक ने जो बुद्ध, संघ और धम्म की शरण ली तो सारे साम्राज्य से उसने जीव-हत्या उठा दी। उसी के साथ मेरी पशु-बलि भी बन्द हो गई और मेरी यज्ञक्रियाएँ कुछ काल के लिए सर्वथा लुप्त हो गईं।

ईसा पूर्व दूसरी सदी के पुष्यमित्र शुंग नामक भारद्वाज गोत्रीय

ब्राह्मण ने उस ब्रह्मद्वेषी कुल का अन्त कर दिया। ब्राह्मण पुरोहित और राजन्य यजमान का संघर्ष पुराना था। जनमेजय-तुरकावषेद से भी पुराना और वह अब नये रूप में जीवित हो उठा था। पुष्यमित्र शुंग अन्तिम मौर्य बृहद्रथ का केवल पुरोहित ही नहीं, उसका सेनापति भी था और उसने अपनी सेना के सामने ही उसको मार डाला। इस ब्राह्मण षड्यन्त्र की मेधा महाभाष्यकार पतञ्जलि था जो पाणिनी चाणक्य की ही भाँति बाहर से पाटलिपुत्र में आ बसा था। पुष्यमित्र ने दो दो अश्वमेध कर बहुत काल से लुप्त अश्वमेधों की परम्परा लौटाई, ब्राह्मण धर्म को पुनः प्रतिष्ठित किया और मेरे गंगा तट पर फिर विधि क्रियाओं की परम्परा जगी। उस ब्राह्मण नृपति को बौद्धों और ग्रीकों दोनों से संघर्ष करना पड़ा परन्तु उसने दोनों को सर्वथा कुचल डाला। दिमिट्रियस ने कभी उसकी तरुणावस्था में पाटलिपुत्र को उजाड़ डाला था, ब्राह्मण राजा ने उसके दामाद मेनामदर का बध कर और ग्रीकों को सिन्धु नद पार भगा उसका बदला लिया। और जब जलन्धर तक उसने सारे बौद्ध-बिहार जला डाले तब मैं प्रसन्नता से थिरक उठी। अशोक ने कभी मेरे यज्ञ बन्द कर दिये थे अब मुझे उसका डर न था।

मुझे ब्राह्मण की इस क्रूरता के विरुद्ध इतना कुछ नहीं कहना है जितना बौद्धों की उस देशद्रोहिता के विरुद्ध जो इन विहारों में पनपती थी और जहाँ ब्राह्मण राज्य और धर्म के विरुद्ध निरन्तर षड्यन्त्र रचे जाते थे। मुझे शुद्ध बौद्ध धर्म अप्रिय नहीं बल्कि मैं तो बुद्ध विद्रोही आचरण से प्रसन्न भी हुई थी। इतना सत्यग्राही, इतना पावन, इतना दयावान प्राणी मेरी पृथ्वी पर कभी न चला। मुझे इस बात का गर्व है कि उसकी पहली आवाज मैंने ही सुनी। मेरी नगरी के बाहर उत्तर-पूर्व की ओर जो हिरनों का घना जंगल था वहाँ प्राचीन काल से साधु

निवास करते आए थे ! उसे तब की भाषा में मृगदाव कहते थे—हिरनों का जंगल। उसी मृगदाव में तथागत बुद्ध की पहली आवाज गूँजी। उर्वेला में सम्यक सम्बोधि प्राप्त कर तथागत ने सोचा, भला कौन उचित व्यक्ति है जिसे मैं अपना वह पुनीत अक्षय ज्ञान पहले सुनाऊँ। गुरुओं की याद आई, आलारकालाम की, रुद्रक रामपुत्र की, पर दोनों मर चुके थे। फिर उन पंच भद्रीय ब्राह्मणों की याद आई जिन्होंने गौतम को पेटू कह कर तब छोड़ दिया था। जब तप को निरर्थक जान उन्होंने आहार लेना निश्चित कर लिया था। चूँकि उन्होंने गौतम को छोड़ दिया था बुद्ध ने निश्चित किया कि उनको ही वह अपने ज्ञान का पहला सन्देश सुनाएँगे ! और वे मेरे मृगदाव की ओर सहसा चल पड़े थे। भिक्षु को अपनी ओर आते देख, पंच भद्रीया ने तय किया कि हम भिक्षु का कमण्डलु न लेगें, उसे आसन न देगें, जल न देगें, परन्तु जब भिक्षु पास पहुँचा और उसका तेजस्वी मुखमण्डल उन्होंने देखा तब वे विजित हो गए। उन्होंने उसका कमण्डलु लिया, उसे आसन दिया, जल दिया। और तभी शाक्य सिंह की वाणी दहाड़ उठी—"भिक्खुओं, मार्ग दो थे, एक अतिविलास का, दूसरा अति तप का। दोनों त्याज्य हैं। एक तीसरा तथागत का देखा है, मध्यम मार्ग—मज्झिम पटिपदा (मध्य प्रतिपदा)-न अति विलास का न अति तप का—यही ग्रहण करने योग्य है।" यही तथागत का पहला धर्मचक्र-प्रवर्तन था जो उन्होंने सारनाथ में किया। उसी मृगदाव की पर्णकुटी में उन्होंने डेरा डाला। उसी का नाम कालान्तर में मूलगन्ध कुटी करके विख्यात हुआ। बौद्ध धर्म की गन्ध उसी कुटी के मूल से दिगन्त में फैली थी।

उसी सारनाथ में, सदियों बाद बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर अशोक ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन के स्मारक स्वरूप 'धर्म राजिक' नामक महा स्तूप बनवाया, जहाँ उसके पास ही गुप्त काल में 'धर्माख्य' (धमेख) स्तूप भी अपने

विशाल कलेवर के साथ खड़ा हुआ। अशोक ने उस अपनी धर्म यात्रा में मेरा और मृगदाव का गौरव जाना। उसने फिर अपने उपदेश भी वहाँ अपना स्तम्भ खड़ा कर, उस पर खुदवाए। संघभेदकों के विरुद्ध जो उसने प्रायश्चित अथवा दण्ड नियत किया, वह उस स्तम्भ पर खोदा गया। वह दर्पण सदृश वहिरंग वाला विशाल स्तम्भ सदियों खड़ा रहा। बौद्ध धर्म और अशोक की कीर्ति का स्मारक। उसी का सिंह मस्तक आज भारतीय राष्ट्र का मुद्राचिन्ह है।

इस कारण मुझे कभी शुद्ध बौद्ध धर्म से घृणा नहीं हो सकती थी। परन्तु जब इसके अनुयायी अपने विहारों में षड्यन्त्र कर, राजनीति में भी दखल देने लगे और इस प्रकार जब उन्होंने शुद्ध विद्रोही धर्म तथ्य को बदनाम कर दिया तब निश्चय मैं इधर से विरक्त हो गई और इस आशा में क्षितिज की ओर देखती रही कि कोई समान धर्मा खड़ा होकर उनके इस अनाचार को बन्द कर दे। पूर्वी क्षितिज पर पास ही तब समान धर्मा वह पुष्यमित्र उदित हुआ जिसने मेरी वह कामना सिद्ध कर दी।

शुंगों के पिछले वंशधर कमजोर हुए और उन्होंने अपनी कृपा पाटलिपुत्र से हटा कर, अयोध्या और विशेष कर विदिशा पर बरसाई। मुझे उनसे कोई मोह न था, सिवा इसके कि वे उस महान् पुष्यमित्र के वंशधर हैं, जिसने सेना के साथ निरन्तर सम्पर्क के कारण अपने को सदा सेनापति कहा सम्राट कभी नहीं। शुंगों के बाद कण्व आए जो नितान्त दुर्बल थे और उनके साथ मेरा औदार्य इसीलिए कुछ काल कायम रह सका कि वे ब्राह्मण थे और मेरी विधि-क्रियाओं को अभिमान के साथ देखते थे। उनके दुर्बल हाथों से दक्षिण के आन्ध्र सातवाहनों ने कृष्णा के कछार से उठ कर गंगा के इस कांठे पर अधिकार कर राजदण्ड छीन लिया। वे भी ब्राह्मण थे और उन्होंने भी मेरे यज्ञ कर्मको

सराहा और बढ़ाया। परन्तु आन्ध्र सिमुक का यह एक राजनीतिक धावा मात्र था और वह न तो मुझ पर दीर्घ कालिक अधिकार ही रख सका और न उस भयानक आक्रमण से मेरी रक्षा ही कर सका, जिसका नेता शक सेनापति अम्लात था। पुष्यमित्र शुँग के समय आचार पूत जिस मनुस्मृति की रचना हुई थी, उसके कुछ अध्याय मेरी नगरी में भी लिखे गए थे। उनको मैं संसार की अद्भुत विधान-पुस्तकों में मानती थी। सहसा शकों के आक्रमण ने उसे छिन्न-भिन्न कर दिया। उसके सामाजिक स्तर बिखर गए, उनके आचार-शील की ग्रन्थियाँ टूट गईं, एक नई दुनिया अब मुझे ढककर खड़ी हुई जिसमें बराबर अग्नि और लोहा बरसता रहा। कुछ काल बाद जब उसके बादल छँटे, तब मैंने देखा कि मेरे सामाजिक आचार बन्धन सहसा टूट गए थे। राजाओं और उनके प्रान्तों के साथ ही मेरे गुरु और पुजारी भी धूलि में पड़े थे और उनके सीने पर शूद्र सवार थे, शकों की ही भाँति उत्तरापथ की उस धरा पर।

परन्तु शीघ्र स्थिति बदली। ब्राह्मण बराबर समाज के नेता रहते आए थे। चक्र और कुचक्र किस प्रकार समाज में चलाए जाते हैं इसका जितना ज्ञान उन्हें था, उतना किसी को न था। और फिर एक बार उन्होंने समाज के साथ ही धरा पर भी अधिकार किया। उसी विदिशा के आस-पास से वाकाटक ब्राह्मण भी उठे जहाँ से कभी शुंगों का उदय हुआ था और उन्होंने मध्य देश पर भी अपनी शक्ति की छाया डाली यद्यपि वह चिरस्थायी न रही। भारशिव नागों और बाद में प्रबल गुप्तों तक ने उनसे विवाह संबंध किए! वाकाटकों ने मेरी महिमा और बढ़ाई।

परन्तु मेरे गौरव का गगनचुम्बी उदय तो पद्मावती के भारशिव नागों के साथ हुआ। 'भारशिव' नाग इसलिए कहे जाते थे कि वे शिव का भार लिंग के रूप में अपनी पीठ पर वहन करते थे। उनके उदय

के कुछ काल पहले शक अम्लात के अग्निकाण्ड के कुछ ही बाद उत्तर भारत में पेशावर से पाटलिपुत्र तक कनिष्क कुषाण का साम्राज्य फैल गया था। मैं भी तब विदेशी कुषाणों के अधिकार में आ गई थी और यद्यपि धर्म के विचार से कनिष्क बौद्ध था, उसने मुझको भी अपना राजनीतिक केन्द्र बनाया। मेरे ही केन्द्र से उसका शासक बनस्फर उसके साम्राज्य के पूर्वी प्रान्तों पर शासन करता था। कुषाणों के पिछले शासन में तो उनके राजा प्रायः सर्वथा हिन्दू हो गए। मेरे त्रिशूली की उन्होंने विशेष पूजा की यद्यपि उनके विविध धर्मों के अनुयायी होने के कारण त्रिशूली प्रायः असन्तुष्ट हो उठते थे। पिछले कुषाण राजा वासुदेव ने तो वैष्णव धर्म अंगीकार कर, मेरे त्रिशूली की कुछ कम अवमानना न की ; परन्तु शीघ्र ही मुझे उनके अधिकार से मुक्त कर नागों ने त्रिशूली को देवताओं में फिर अग्रणी का स्थान दिया, महादेव कह कर उन्हें पुकारा। भारशिव नागों ने देश में राष्ट्रीयता की पहली आवाज उठाई। यह देश भारतीयों का है, विदेशियों को उस पर अधिकार करने का कोई हक नहीं और उनको वे भारत से बाहर कर ही दम लेंगे। यह उनकी प्रतिज्ञा मुझे बहुत भाई और बार बार उसकी गूँज मेरे कानों में अमृत बरसाने लगी। गंगा की लहरें भी उत्सुक हो, उठ-उठ, तब उनके बढ़ते हुए उत्कर्ष को देख अभितृप्त होतीं। नागों ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और मुझे उन्होंने वह गौरव प्रदान किया, जो कभी किसी नगर को प्राप्त न था। सरस्वती के तट पर कभी आर्यों ने यज्ञ किए थे, परन्तु कब का वह तट वीरान् हो चुका था। और उस काल के आर्यों की ही तब क्या हक़ीक़त थी? एक एक गाँव का मुखिया राजा कहलाता था—राजा जिसकी नागों के माण्डलिक तक होने की हक़ीक़त न थी। अब मेरे गंगा तट पर नागों ने अश्वमेधों की परम्परा बाँध दी। बार-बार वे अश्वमेध करते, बार-बार उनके अर्चित निरर्गल अश्व कुषाणों की अधिकृत भूमि पर दौड़ पड़ता।

बार-बार उसे लौटा कर उसके स्वामी मेरे तट पर भागीरथी में 'अवभृथ' स्थान करते। इस प्रकार उन्होंने मेरे उस तट पर दस अश्वमेध किए जिसकी संज्ञा परिणामस्वरूप 'दशाश्वमेध' हुई और जा मेरे घाटों में सब से पुनीत आज तक माना जाता है। नागों ने जिस शक्ति की प्रतिष्ठा की वह स्वयं तो अधिक दिनों न टिक सकी, परन्तु उसने मध्यदेश में वह भूमि निश्चय प्रस्तुत कर दी, जिसमें शीघ्र बाद गुप्तों के साम्राज्य का पौधा लगा और देखते ही देखते विशाल वट की भाँति उसने देश पर अपनी छाया डाली।

गुप्तों का काल भारत का स्वर्णयुग कहा जाता है। निःसन्देह वह भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग था, यदि हम सम्भ्रान्त वर्गों और अभिजात कुलों को ही तब का भारत मानें। मेरे इतिहासकारों ने इसी दृष्टिकोण से उसे स्वर्ण युग कहा है। जब साहित्य, संगीत, कला, राजनीति सभी का अपूर्व उत्कर्ष हुआ। परन्तु यदि कोई मुझसे पूछे और मुझे सच्चाई का उद्घाटन करने का समुचित अवसर दे तो मैं अपने उन मलिन अन्धकार युक्त गलियों की ओर चुपचाप संकेत कर दूँगी जिनमें मेरे गंधेले दरिद्र निम्नवर्गीय नागरिक निवास करते थे—वास्तव में मेरी गलियों में नहीं, मेरी नगरी से बाहर प्राचीरों के उस पार शमशान के निकट जिनके लिए इस काल में होने वाले मानव धर्मशास्त्र के नए संस्करण ने सवर्णों को छाया छूनी भी गर्हित समझी और जिस जघन्य पाप के लिए उसने प्रायश्चित के ब्योरे बाँधे। मनुष्य अपने से ही मनुष्य से जिस मात्रा के उस काल भय मानने लगा, घृणा करने लगा, उतना सम्भवतः न कभी पहले हुआ था न पीछे। और जिस मात्रा में गुप्तों की भागवत धर्म में प्रति श्रद्धा बढ़ती गई, जिस मात्रा में वे ब्राह्मण के संरक्षक बनते गए, इसी मात्रा में मानवता के प्रति यह घृणा बढ़ती गई, यह भय विकराल होता गया। उन दयनीय परिवारों के अन्त्यज जब कभी मेरी नगरी

में आना चाहते, पहले उन्हें सूर्योदय और सूर्यास्त का विचार कर लेना पड़ता क्योंकि वे दिन में ही, उसकी दोनों संध्याओं के बीच मेरे द्वार में प्रविष्ट हो सकते थे। रात में उनको मेरे नगर में ठहरने का अधिकार न था और दिन में भी जब वे कभी प्रवेश करते, काष्ठ-दण्ड बजाते हुए वे कई एक साथ मेरी सड़कों पर चलते, जिससे शुद्ध पुनीत मेरे स्वर्ण युगीय नागरिक उनके अपावन स्पर्श से दूषित न हो जायँ। इतिहासकार मेरा यह उद्गार फाह्यान के वृतान्त में पढ़ता है और उसकी सच्चाई में सन्देह करता है, परन्तु कैसे वह मेरे वचन में सन्देह कर सकता है, जब मैंने स्वयं मानवता के विरुद्ध उस उपचार को अपनी ही धरा पर घटते देखा।

उनकी भी इच्छा होती, मेरे उन अभागे नागरिकों की भी, जिनके पूर्वजों ने पहले-पहल मेरी बस्ती की नींव डाली थी, कि वे उस त्रिशूली के दर्शन कर पाते, जिनके औदार्य और भोलेपन का देवत्व, स्वयं उन्होंने ही कभी सिरजा था। हाँ, शिव आर्यों के नहीं, उन्हीं मलिन-वसन, घृणित-अपावन कृष्णकाय मेरे प्राचीनतम नागरिकों के थे, जिन्हें आर्यों ने उनकी नगरी, उनकी समृद्धि, उनके सर्वस्व के साथ छीन लिया था और उस देवता को जिसको उन्होंने ही सिरजा था, अब देखने का उन्हीं को अधिकार न था। मैंने शक्ति से दूसरों की समृद्धि छीनते साहसिकों को देखा है, परन्तु अपने विजितों का देवता छीनने का यह पहला ही दृश्य था।

चन्द्रगुप्त प्रथम ने जिस गुप्त राज्य को खड़ा किया, जिस गुप्त-साम्राज्य का समुद्रगुप्त ने निर्माण किया, जिसको मालवा और पश्चिमी समुद्र तट की समृद्धि दे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने यशस्वी बनाया, वही साम्राज्य कुमारगुप्त के विलास से बिखर चला। उसकी दुर्बल काया पर जब वीर्यवान हूणों की चोटें पड़ीं, तब वह लड़खड़ा कर गिर पड़ा।

कुमारगुप्त के तपशील पुत्र स्कन्दगुप्त ने उसे सहारा देने की बड़ी कोशिश की, अनेक प्रकार से तप, संयम और पराक्रम से, इस तरुण ने हूणों का प्रतिकार किया, परन्तु सामन्त संघ की नींव पर खड़ी वह विशाल अट्टालिका गिर ही पड़ी, रुक न सकी! कुछ काल मैं, स्कन्दगुप्त का वह संघर्ष देखती रही। एक बार विजयी हो स्कन्दगुप्त ने जब मेरे पास ही सैदपुर भीतरी की प्राचीन भूमि पर जब अपनी विजय का स्मारक स्तम्भ खड़ा किया, तब मैंने गर्व के साथ उस तरुण की ओर निहारा था। स्तम्भ पर उसने खुदवाया—हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता। भीमावर्त करस्य......हूणों के साथ समर में उसकी भुजाओं के टकरा जाने से भयानक आवर्त बन गया। कितनी सही थी यह प्रशस्ति परन्तु यदि कहीं इसका अर्थ तत्कालिक भारतीय राजनीति में टिकाऊ हो पाता! साम्राज्य का मूर्ख सरीखा कुमारगुप्त अपने आसव सेवन से विक्षिप्त हो राजनीति से कब का निकृत हो चुका था और उसके अंगराग, हेनक तथा प्रसाधन के अन्य द्रव्यों ने, उसे सर्वथा स्त्रैण कर दिया था और उसका साम्राज्य जब बर्बर विदेशियों की संहारक चोटों से गिर चला तब कोई शक्ति उसे न रोक सकती थी। वास्तव बात तो यह है कि उस पर विदेशी आक्रमण चाहे होते या न होते; उसका अपने आन्तरिक वैषम्य से ही टूक-टूक हो जाना स्वाभाविक था।

हूण आए और उत्तरापथ को उन्होंने वैसे ही आक्रान्त कर लिया जैसे कभी शकों ने कर लिया था। परन्तु उनको निकाल कर 'हूणांय' बनने का किसी शकारि को बनने की कामना न हुई और इस शकारिता का भी राज जो मुझे मालूम है और किसी को मालूम नहीं। शकारि का अर्थ लोगों ने शकों को भारतीय समाधि तथा भारत-भूमि से निकाल देने का अर्थ लगाया है जो सर्वथा गलत है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने और उनसे पहले नागों ने ही शकों-कुषाणों की शक्ति तोड़ दी थी, पर

वह शक्ति राजनैतिक ही थी, सामाजिक कतई नहीं। समाज में उनकी पैठ हो गई थी और खूब ही। समाज का रोम-रोम अब उनके स्पर्श से पुलकित हो रहा था परन्तु उनसे कहीं बढ़कर हूणों ने उसके भीतर प्रवेश पाया। उनकी शक्ति इतनी प्रबल थी, उनकी पकड़ इस जमीन पर इतनी गहरी हुई कि हमारे नेताओं को उन्हें अंगीकार करना ही पड़ा। उनके लिए धर्म गुरुओं ने एक सर्वथा नया विधान किया। आबू की चोटी पर अग्निकुण्ड खुदा और उसमें से चार प्राकृत पुरुष निकलने की कल्पना हुई। ये चार पुरुष कुशीवशिष्ट ने हिन्दू समाज को अब दिए, जिनकी मन्त्रणा से रघुकुल ने कभी शृंगी से अपने चार विधाता राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न पाए थे। ये चार पुरुष प्रतिहारों (परिहारों) परमारों, चालुक्यों और चाहमानों (चौहानों) के थे। परमार जिनके मुंज और भोज ने भारतीय साहित्य का मण्डन किया उतने ही हूण थे कन्नौज को समृद्धि और गौरव देने वाले प्रतिहार जितने गुर्जर। कभी ईश्वरदत्त के उन आभीरों ने ब्राह्मण सात वाहनों और विदेशी शकों के हाथ से शक्ति छीन ली थी, जिन्होंने अपने को पीछे यादव कहा और यदुकुल से अपना नाता जोड़ा, परन्तु उनके वंशधर अहीर, जाट और गूजर जिनमें दूसरे रक्त भी प्रवाहित हो रहे थे, अब नए सिरे से इस समाज में प्रविष्ट हुए और यद्यपि प्रविष्ट हुए फिर भी अपने अवयवों, तौर-तरीकों और व्यक्तित्व से साफ पहिचाने जा सकते हैं। इतना जरूर है कि वे ही पीछे अपने पराक्रम से राजपूती आन के लिए प्रसिद्ध हुए और हिन्दुत्व की उन्होंने ही नाक रखी।

गुप्तों के बाद मगध में जो एक कमजोर गुप्त राजकुल नए रूप से खड़ा हुआ उसकी और कन्नौज के मौखरियों की परस्पर चोटें चलती रहीं और मैं परिणामस्वरूप कभी एक की, कभी दूसरे की होती रही। मालव गुप्तों ने जब मौखरियों का अन्त कर दिया तब हर्ष ने थानेश्वर से

आकर कन्नौज की गद्दी सँभाली और उसी के नए साम्राज्य में अन्य नगरों की ही भाँति मुझे भी प्रवेश मिला। परन्तु मेरी कान्ति अब तक मलिन पड़ गई थी। मेरी महिमा सर्वथा नष्ट तो न हो गई थी, पर उस पर मोटा परदा निश्चय पड़ गया था। ऐसा भी नहीं कि बौद्ध होने के कारण हर्ष प्राचीन तीर्थों को भूल गया हो क्योंकि अपने पंच वर्षीय मोक्ष परिषद के छः छः अधिवेशन आखिर उसने प्रयाग में त्रिवेणी के संगम पर किए ही। जो भी हो, मेरा प्रताप कुछ काल के लिए ठन्डा पड़ गया था और अगर मैं फिर उठी तो हर्ष के बाद प्रतिष्ठित होने वाले उन गुर्जर प्रतिहारों के शासन में ही जो अभारतीय होकर भी निष्ठावान थे। प्रतिहारों और पालों में जो संघर्ष चला, उसमें मुझे भी अपना प्रभु बार-बार बदलना पड़ा। एक बार तो दक्षिण के राष्ट्रकूट नरेश ने भी धर्मपाल को परास्त कर, मेरे जनपद को लूटा। कालान्तर में मुझ पर त्रिपुरी का भी अधिकार हुआ और दूर की उस नवीना ने मुझ पर कुछ कम प्रहार न किए। माना कि उसके कलचुरियों ने मेरा गया हुआ गौरव कुछ अंश तक मुझे लौटाया परन्तु मुझ पर त्रिपुरी का भृकुटि भंग सदा अखरता रहा। उसके स्वामी गांगेयदेव और कर्ण दोनों ने, मुझ पर अपना स्वत्व रखा। उन्हीं दिनों जब गांगेयदेव का शासन मेरे जनपद पर चल रहा था, मुझे पहले पहल इस्लामों की चोट सहनी पड़ी। अहमद नियल्तिगीन सुबुक्तगीन के बेटे उस महमूद गज़नवी का पंजाब का शासक था जिसने शाहियों का नाश कर कन्नौज तक को जीत लिया था और जिसकी चोट से सोमनाथ, मथुरा और कन्नौज के देवता चूर-चूर हो गए थे। वह महमूद तो कन्नौज से ही लौट गया था पर उसका शासक यह नियल्तिगीन सहसा मंजिल पर मंजिल तय करता मेरे द्वार पर आ खड़ा हुआ। दूर की त्रिपुरी के राजा गांगेयदेव की सेनाएँ मेरी रक्षा न कर सकीं। मैं नितान्त अरक्षित थी यद्यपि मेरे प्राचीरों

के भीतर नागरिकों के अतिरिक्त केवल पुजारी ही इतने थे कि यदि वे साधारणतः अफ़गानों की उस सेना पर गिर पड़ते तो वह कुचल जाती ; परन्तु उनकी ओर रुख करना तो दूर रहा लोग तितर-बितर हो जिधर ही सींग समाई उधर ही भाग चले। सड़कें वीरान हो गईं। जिन्होंने तेवर बदले, उनको तलवार के घाट उतार दिया गया और मेरी गलियों ने रक्त उगल दिया। हाँ, यह लूट झट समाप्त हो गई और जब तक मेरे जनपद के ग्रामीण स्तब्ध, कुण्ठित त्रिशूली की रक्षा के लिए मेरे खुले द्वारों में घुसे तब तक नियाल्तिगीन अपने सवारों के साथ अनन्त धन लिए नौ दो ग्यारह हो गया। यह बहुत दिनों बाद मेरी पहली लूट थी और इस्लाम के झण्डे के नीचे चलने वाली सेनाओं की पहली चोट थी।

त्रिपुरी के तेजस्वी गांगेयदेव और उज्जयिनी के यशस्वी भोजदेव दोनों जीवित थे। दोनों ने अपने पराक्रम से प्रशस्ति गँवाई थी, और भोज का सर्वनाश कर देने वाले लक्ष्मीकर्ण और चालुक्य भीम का भी दबदबा कुछ कम न हुआ था, जब मैंने इस प्रकार अपमान सहा। भीम तो खैर मेरी रक्षा क्या कर सकता था, जो स्वयं महमूद के आने पर अपने सोमनाथ और अन्हिलवाड़ को अरक्षित छोड़ भाग गया था, फिर भी मुझे आशा थी कलचुरी नरेश से, परन्तु वह भी मुझे बचा न सका।

हाँ, कुछ ही काल बाद एक गाहडवाल सरदार ने निश्चय मुझे ख्याति दी और मेरी सर्वथा रक्षा की। वह चन्द्रदेव था, जिसने प्रति-हारों की गद्दी पर बैठ, कन्नौज में अपने नये राजकुल की प्रतिष्ठा की—गाहडवाल राजकुल की। उसके बेटे गोविन्दचन्द्र ने तो पूर्व में इतने प्रान्त जीते कि उनके शासन के लिए मुझको ही उसे दूसरी राजधानी बनानी पड़ी। नियाल्तिगीन के बाद कुछ और अफ़गान सरदारों ने

भी मुझे लूटने के मनसूबे बाँधे। वास्तव में महमूद गज़नी ने अपनी लूट से अपने देशवासियों में जो कामना बलवती कर दी थी, उसे चरितार्थ करने को अनेक साहसिक मेरी ओर चल पड़े थे यद्यपि उनमें से कोई इस काल मुझ तक पहुँच न सका। और उनसे जो मेरी रक्षा हुई, वह कन्नौज के मेरे गाहडवाल नृपतियों के पराक्रम के कारण ही। मसूद तृतीय के भेजे हाजिब तुगात्गिन ने जब मेरी ओर रुख किया तब उसे परास्त कर युवराज गोविन्दचन्द्र ने उसकी वही दशा की जो कभी महमूद के भांजे सय्यद सालार के भेजे फ़ज़ल की हुई थी जो कुछ ही काल पहले अयोध्या की राह मेरी ओर बढ़ा था। गोविन्दचन्द्र बड़ा पराक्रमी राजा निकला और उसने दिल्ली से गया तक अपने अधिकार में कर लिया।

विजयचन्द्र ने भी साम्राज्य की सीमाएँ पूर्ववत् रखीं यद्यपि दिल्ली उसके हाथ से निकल गई। उसके शासन काल में भी इस्लाम ने मेरी ओर एक बार रुख किया और जब गज़नी से निकाले जाने पर, अमीर खुसरो पंजाब को लाँघ कन्नौज की ओर बढ़ा, तब विजयचन्द्र ने उसके घोड़ों की बाग रोक दी। परन्तु गाहडवालों में भी कमजोरी घुन करने लगी। पारस्परिक फूट और गृह-कलह, हिन्दू राज्यों में शीघ्र इतनी बढ़ी कि चन्देल, चौहान और गाहडवाल एक साथ जूझ मरे और बारहवीं सदी के अन्त में, जब गोर का मुहम्मद शाहाबुद्दीन हिन्दुस्तान पर टूटा तब पानीपत की एक रुकावट के सिवा, फिर उसे कहीं और बाधा न पड़ी। वह निरन्तर बढ़ता चला आया। जयचन्द स्वयं यद्यपि वीर था और बुढ़ापे में उसने चन्दावर के मैदान में अपने बलिदान से नदी का जल लाल कर दिया फिर भी उसके वीरों का पराक्रम नैषध चरित्र के महाकवि श्री हर्ष ने अपने रस से निरस्त कर दिया था। खण्डन खण्ड खाद्य का रचयिता यह तार्किक जब कभी तर्क की अपनी

कृत्रिम दुनिया से हटता तो सदा श्रंगार की काल्पनिक भूमि पर ही जा उतरता और गाहडवाल शक्ति का वही हाल हुआ जो कभी गुप्तों का हुआ था। मुहम्मद गोरी, कुतुबउद्दीन ऐबक की हरावल लिए मेरी ओर बढ़ा और उसने मेरे द्वारों, प्राचीरों, शिखरों और कनक कंगूरों को तोड़ दिया। नगर और जनपद में कोहराम मच गया। काशी करवट लेने वाले मेरे भक्तों में से एक सामने न आया और मोहम्मद ने मुझे भरपूर लूटा। अनन्त धन चिरकाल से मेरे मन्दिरों और ऋद्ध भवनों से संचित पड़ा था। असीम रत्नराशि वाणिज्य और भक्ति की राह मेरे नगर में धारा सार गिर कर बनी थी, अब वह सारी ऊँटों पर लद चली और वह मेरी विभूति लाद कर जाता हुआ, ऊँटों का कारवाँ आज भी मेरी स्मृति का आकाशचुम्बी आलोक स्तम्भ है।

मुहम्मद तो लौट गया, यद्यपि मेरा सारा जनपद अब उस दिल्ली की सल्तनत के आधीन हुआ जिसके तख्त पर तुर्कों का गुलाम राजकुल बैठ चुका था; परन्तु उसके लिए मुझे कुछ ग्लानि नहीं। राजनीति में धरा का अप्रतिवाद यातायात स्वाभाविक है। मैं उस विनयन की पक्षपातिनी चाहे न होऊँ, उसका परिणाम मुझे निरन्तर भोगना पड़ा है। परन्तु स्तब्ध जो मैं हूँ तो इस बात पर कि अपने अठारह सवारों के साथ इतने बड़े शत्रु राष्ट्र को रौंदता हुआ, बख्तियार किस तरह मेरे पास से ही निकल गया। किस तरह उसने उस सेनवंशीय लक्ष्मणसेन को अपने प्रासाद के पिछले द्वार से भागने पर मजबूर किया, जिसने अपनी झुकी प्रशस्ति में प्रयाग और काशी में विजय-स्तम्भ स्थापित करने की बात खुदवाई थी। उसकी विलासिता की हदें न स्वयं उसने वरन् उस जयदेव ने भी तोड़ दी थीं जो अपने उस गेय गीतगोविन्द के से संस्कृत साहित्य के अप्रतिम काव्य में, अपने देवता तक को नंगा करने से न चूका था।

मुसलमानी शासन के आरम्भ के दिन मेरे कठिन बीते क्योंकि न तो शासकों को अपनी लूट से अभितृप्ति थी, न मुझे ही निरन्तर लुटते रहने की आदत पड़ गई थी। दोनों में से कोई भी एक स्थित सिद्ध हो जाने तक मेरी आकुलता मिट जाती, परन्तु चूँकि स्थिति डाँवाडोल थी, मेरा चित्त भी व्याकुल ही रहने लगा। ऐबक के दिल्ली में प्रतिष्ठित हो जाने पर निश्चय हुकूमत में कुछ स्थिरता आई, परन्तु विजेता की जो समस्याएँ होती हैं, वही समस्याएँ ऐबक या उसके उत्तराधिकारियों की थीं। मंगोलों के निरन्तर धावे उत्तर-पश्चिम की ओर होते रहते थे। उनसे दिल्ली की रक्षा करनी स्वयं एक बड़ी बात थी। पर उसी कारण इधर पूरब में छीना-झपटी भी खूब होती रही। जो मुसलमान सरदार इधर शासक बनाकर भेजा जाता, वही मनमाने ढंग से मुझे चूसने की कोशिश करता।

बलबन के शासन काल में बंगाल ने स्वतंत्रता घोषित कर दी और वहाँ के प्रान्तीय शासक तुग़रिल ने अपने को बादशाह एलान कर दिया, अपने नाम के सिक्के ढलवा लिए। बलबन जल-भुन गया, परन्तु उसने दो दो बार जो अपनी सेना भेजी तो दोनों बार उसे अपनी मुँह की खानी पड़ी, तब वह खुद सेना लिए बंगाल की ओर चला। अयोध्या की ओर से बढ़ता हुआ, मेरी राह हो, वह बंगाल गया और उसकी सख्ती तथा क्रूरता का जो बयान मैं सुन चुकी थी, उससे उसके आगमन से मैं नितान्त शंकित हो उठी। पर भाग्य अच्छे थे, बदतमीजी ने उसके बदन में आग भड़का दी थी और उसे किसी और बात को सोचने का समय न था, मैं बाल-बाल बच गई। खिलजियों के पहले और पीछे दिल्ली की स्थिति फिर डाँवाडोल हो गई और उन दिनों दिल्ली दूर के प्रान्तों पर अपनी हुकूमत न रख सकी। तभी मैं भी पूर्व के बाग़ी मुसलमान सरदारों के हाथ में आती-जाती रही और उनकी मेहमानदारी का जब

तब फल भोगती रही। मुहम्मद तुगलक के बाद उसी के नाम पर फिरोज़-शाह ने जौनपुर का नगर मेरे पड़ोस में ही बसाया जो पिछले दिनों में न केवल सूबे का प्रधान नगर बना वरन् शरकी बादशाहों की राजधानी भी। मालवा, गुजरात, बिहार, बंगाल, जिस तरह दिल्ली की पकड़ कमजोर पड़ते ही स्वतंत्र हो गए और उन्होंने अपनी अपनी आज़ाद बादशाहतें खड़ी कीं, उसी तरह जौनपुर का शरकी खान्दान भी आजाद हो गया और उसने भी अपनी बादशाहत की बुनियाद वहाँ डाली। तब से जौनपुर के भाग्य के साथ ही मेरी किस्मत भी बँधी और उसी के साथ कमजोर और मजबूत दिल्ली का बंधन मुझ पर पड़ता रहा। बाबर के आगमन तक बराबर मेरी यही स्थिति रही और मुगल सल्तनत के कायम होने के बाद ही वह कुछ सँभली।

बाबर ने जिस समय दिल्ली पर अधिकार किया, उस समय बंगाल, बिहार और अवध तीनों अफ़गानों के केन्द्र हो गए थे। बिहार के अफ़गान दिल्ली की सल्तनत के हौसले करते थे और जौनपुर की बादशाहत खुद कुछ कम दावेदार न थी, पर बाबर ने उनकी एक न चलने दी। इब्राहीम लोधी के भाई जब जौनपुर और बिहार के अफ़गान सरदारों को लेकर दिल्ली की ओर बढ़ा, तब मुझे ऐसा लगा कि शायद अफ़गानों का अधिकार फिर दिल्ली पर हो जाएगा, पर बाबर ने जिसने बचपन से ही लड़ाइयों में साँस ली थी, उसे बरबाद कर दिया। चुनार पर अफ़गानों का कब्जा तो था ही, पर अवध उनके हाथ से निकल गया और शेरखाँ जो बाद में शेरशाह के नाम से बाबर के बेटे हुमाँयू से गद्दी छीन, उस पर बैठा मेरे नगर में ही डेरा डाले हुए था, पर बाबर के आते ही, उसके सरदार भी तितर-बितर हो गए और खुद शेरखाँ गंगा पार कर, रोहतास की ओर गायब हो गया। बाबर मेरी ही राह, चुनार लेता, बक्सर जा पहुँचा और पूर्वी अफगानों

को कुचल कर आगरे लौटा। अब मैं फिर दिल्ली की सल्तनत में दाखिल हुई।

शेरशाह ने बाबर के मरने के बाद ही अपनी महत्वाकांक्षा को चरितार्थ करने के इरादे, पक्के कर लिए और वह नगर पर नगर जीतने लगा। जौनपुर की बादशाहत भी उसने खतम कर दी। मुझ पर भी उसका अधिकार हुआ, बिहार तो वह कब का ले चुका था। हुमायूँ उन दिनों मालवा और गुजरात सर कर रहा था और उधर से जब वह, लौटा तो आगरे में ऐश करने लगा। इधर शेरशाह चुनार को अपना केन्द्र बनाने में व्यस्त था। पूर्वी इलाकों को इस तरह शत्रु के हाथ में जाते देख, हुमायूँ जब सँभला तब पूरब की ओर चला। मेरे नगर में ही उसने पड़ाव डाला। चुनार लेकर वह बिहार पहुँचा और वहाँ से बंगाल। पर बंगाल में फिर वह भोग विलास में डूब गया। इधर कन्नौज तक के सारे इलाकों में कब्जा कर शेरशाह ने उसके लौटने का नाका-नाका बन्द कर दिया। चौसे में जो दोनों सेनाओं में भिड़न्त हुई तो हुमायूँ को भागने का ठौर न मिला और किसी तरह डूबता-उतराता एक भिश्ती की मदद से गंगा पार कर, उजियार घाट की ओर से फिर मेरी ओर अकेला भागा। मेरे पास ही सारनाथ में उसने पनाह ली। उसी सारनाथ में जहाँ पहले बुद्ध ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया था, अशोक ने अपने स्तूप और स्तम्भ खड़े किए थे और गहड़वालों ने अपने अभिलेख खुदवाए थे। उसी पनाह के स्मारक स्वरूप बाद में उसके बेटे अकबर ने एक प्राचीन खोखले स्तूप के ऊपर एक छोटी सी इमारत बनवा दी।

मैं अब शेरशाह की हिफाजत में थी। मैं यह प्रसन्नता के साथ कह सकती हूँ कि यद्यपि शेरशाह स्वयं सख्ती में किसी से कम न था, अपने मजहब के उसूलों का भी वह गजब का पाबन्द था, पर उसने हिन्दू-

मुसलमान अपनी दोनों प्रजाओं के साथ न्याय किया और कभी किसी को मेरे मन्दिरों पर हाथ न लगाने दिया। मैं अपने पिछले अनुभव के कारण शंकित जरूर थी, पर फिर भी सहमी-सहमी रहती हुई भी मैं साधारणतः सन्तुष्ट थी। हिन्दी का पहला महाकाव्य 'पद्मावत' अवध के जायस में, मालिक मुहम्मद जायसी ने शेरशाह के ही जमाने में लिखा। शेरशाह दिल्ली का सुल्तान हुआ। बिहार, बंगाल, मालवा, गुजरात, पंजाब और राजपूताना अपनी जिस सेना के साथ उसने सर किया उसकी हरावल से, मेरे जनपद की कितनी ही प्रजा और मेरे नगर के कितने ही नागरिकों ने कठिन लड़ाई लड़ी थी। शेरशाह के पिछले उत्तराधिकारियों के हाथ से जब हुमायूँ ने ईरान से लौट कर फिर दिल्ली ले ली, तब ऐसा लगा कि मैं सम्भवतः दिल्ली में ही फिर मिला ली जाऊँगी मगर कम से कम कुछ काल तक ऐसा हो न पाया। अकबर, हुमायूँ का तेरह साल का बेटा, अभी बालक था और दिल्ली के पूरब-दक्खिन का सारा हिन्दुस्तान फिर आज़ाद हुकूमतों में बँट गया था। बिहार-बंगाल के अफ़गानों ने फिर एक बार दिल्ली की सल्तनत के लिए मुग़लों से कशमकश शुरू की, यद्यपि उसका कुछ परिणाम उनके पक्ष में न हुआ। अफ़गानों का सरदार जब रेवाड़ी का हिन्दू भार्गव बना, हेमचन्द विक्रमादित्य, तब मुझे बड़ी आशा बँधी।

भारतीय इतिहास में विक्रमादित्यों ने अपना यह विरुद, विदेशियों को देश से निकाल कर अपना मुल्क आजाद कर ही धारण किया था और मुझे ऐसा लगा, कि हेमू भी कुछ कर गुजरेगा और वह कुछ कर गुजरता भी, मगर भाग्य उसके बुरे थे। पाँसा पलट गया। जिन खूँखार पठानों को हाथ में रखना पठान सरदारों के लिए भी कठिन हो गया था, उनको तो उसने आसानी से अपने अँगूठे के नीचे कर लिया और उन्हीं की हरावल बना आगरे और दिल्ली को भी उसने मात की

बात में ले लिया पर धोखे से तोपखाना छिन जाने के कारण पानीपत के मैदान में न केवल मैदान ही बल्कि उसे अपनी जान तक खोनी पड़ी। और अकबर का दिल्ली-आगरे पर कब्जा हो गया। मैं भी फिर दिल्ली की मातहत हुई।

पूर्वी इलाके बार-बार सिर उठाते रहे, बार-बार उन पर तलवार बरसती रही, पर मैं जमाने की रफ्तार देख चुपचाप सिर झुकाए पड़ी रही। अकबर पटने, चुनार और इलाहाबाद आया। मैं राह में पड़ी, पर मैंने कभी उसकी मुखालफत करने की कोशिश न की। वास्तव में जीवन में मैंने कभी लड़ाई न लड़ी थी। लड़ाई, मेरे बूते के बाहर की बात थी। मैं बराबर अपने आक्रमणों के सामने सिर झुकाती रही। बाबर आया—तब मैंने सिर झुका दिया; शेरशाह आया तब और अब जब अकबर आया तब भी मैंने अपना रुख न बदला। अकबर के विचार उदार थे। हिन्दू प्रजा उसके आचरण से आश्वस्त हुई और यद्यपि हिन्दुओं की नाक मेवाड़ दिल्ली से लड़ता रहा, अकबर का अभय हस्त मेरी चोटी पर बना रहा।

अकबर की बात यहीं छोड़, मैं फिर एक बार सिंहावलोकन करूँगी। मैं पहले कह आई हूँ कि यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से मेरा पलड़ा कभी विशेष भारी न हुआ, सांस्कृतिक दृष्टि से मैं बराबर महान् बनी रही। भारतीय संस्कृति, ज्ञान और विज्ञान के कितने ही पंडित मेरी नगरी में समय-समय पर आए और उन्होंने अपनी मेधा से मेरा भन्डार भरा। चिरकाल से जो मैं पुण्यतीर्थ का गौरव प्राप्त कर चुकी थी, बराबर दक्षिण-उत्तर से, पूर्व-पश्चिम से यशस्वी दार्शनिक आते और अपनी सूझ से, अपने तर्क और ज्ञान से मुझे प्रकाशित करते रहे, पर स्वयं मैंने भी कुछ कम मेधावी उत्पन्न न किए। सरस्वती का असाधारण लाड़ला, दर्शन का अप्रतिम आचार्य, दक्षिण का अप्रतिरथ वक्ता, शंकर

जब सुदूर केरल से चलकर, अपनी ज्ञानमय दिग्विजय से भारत को मुग्ध करता, मेरे नगर में पहुँचा और उसने मेरे दार्शनिकों को शास्त्रार्थ की चुनौती दी, तब मण्डन ने उसकी वाग्धारा रोक दी, यद्यपि वह उसे हरा न सका। परन्तु मण्डन मिश्र की पत्नी ने उस अद्वितीय मेधावी आचार्य शंकर को परास्त कर दिया। शंकर चकित हो विजित हो गया। चकित तो वह मण्डन के भवन में प्रवेश करते ही हो गया था। जब उससे उस भवन के शुक शारिकाओं ने अपने निरन्तर के ब्रह्म घोष को रोक उससे उसके कल्याण की बात पूछी।

कुमारिल भट्ट भी जैनों का पराभव करता, उसी काल प्रायः नवीं सदी में यहाँ आया और अपने स्पर्श से उसने भी मुझे महिमा दी। अप्पय, दीक्षित आदि वैयाकरणों ने सुदूर दक्षिण से आकर मेरे चरणों में निवास किया। रामानन्द मेरी ही सीढ़ियों पर ब्राह्म मुहूर्त में कबीर से टकरा गए थे और मेरे ही तट पर, उन्होंने उस सत्य के दर्शन किए थे कि स्पर्शमात्र से किसी का धर्म परिवर्तन नहीं हो जाता। इसी धारणा के वशीभूत हो उन्होंने अयोध्या में जा, उन हजारों हिन्दुओं को सरयू में मन्त्र दे शुद्ध किया जो इस्लाम की अनीति से मुसलमान हो गए।

और उन्हीं रामानन्द का चेला वह कबीर था जो न केवल हिन्दू-मुसलमानों की एकता का स्तम्भ था वरन् दो महान् संस्कृतियों का सन्धि स्थल भी। उस कबीर ने भी अपने 'सबद', 'साखी' और 'उलट-बाँसी' यहीं मेरी ही जमीन पर कहे। मैं मानती हूँ, हिन्दी में अनेक कवि हो गए हैं जो कबीर से मधुर शब्द योजना में कहीं ऊँचे थे, परन्तु मुझे जो इस पर गर्व है तो उसके वागाडम्बर पर नहीं, बल्कि उसकी उस महानता पर जो सामाजिक दृष्टि से अपना सानी नहीं रखती। इस्लाम के भारत में आने के बाद, उसकी और इस देश की संस्कृतियों में संघर्ष छिड़ गया। संघर्ष के बाद बराबर समन्वय होता है। उस

संघर्ष और विशेषतः उसके समन्वय का एक मात्र प्रमाण वह कबीर था, जिसने सत्य की निरन्तर खोज की और हिन्दू-मुसलमान दोनों की कमजोरियों को धिक्कारने से वह न चूका। राम और रहीम, मन्दिर और मसजिद, सबको उसने मानवता की कोर पर कस कर, नगण्य सिद्ध कर दिया। उस कबीर का जीवन इतना पवित्र, इतना न्यायसम्मत और स्वार्थहीन था कि उसके मरने पर यह निश्चित करना कठिन हो गया कि वह हिन्दू था या मुसलमान। आज के प्रगतिशील समाज शास्त्रियों का उस सुदूर अतीत में ही वह अग्रणी बना, निर्भीक पथ-प्रदर्शक।

अकबर के समय फिर मेरी नगरी में उस महामति का प्रादुर्भाव हुआ जो तुलसी के नाम में इतिहास में प्रसिद्ध हो गया। तुलसी का एक नाम है जो जन-जन की जबान पर है, जैसे उसके रामचरित्र मानस का नाम जन-जन की जिह्वा पर। अकबर का साम्राज्य था, वह हिन्दूकुश से अहमदनगर और उड़ीसा से गुजरात-काठियावाड़ तक फैला, परन्तु इतने विस्तृत साम्राज्य में कोई इतना महान् न था जितना अस्सी घाट का वह वैरागी तुलसीदास। मेरे ही उस अस्सी घाट पर उसने अपना प्रातः पठनीय वह अपूर्व रामचरितमानस रचा और उसी से थोड़ी दूर पर संकटमोचन हनुमान की मूर्ति की उसने प्रतिष्ठा की। यद्यपि हिन्दी की बोल-चाल की भाषा में पहला महाकाव्य लिखने का श्रेय अवध के एक मुसलमान महाकवि को है, परन्तु तुलसीदास का महाकाव्य काव्य-क्षेत्र में अपना सानी नहीं रखता। रामचरितमानस द्वारा राम की कथा तुलसी ने जन-जन तक पहुँचाई। बुद्ध के बाद कम विचारकों ने देश की बोली में अपना सन्देश अपने देशवासियों तक पहुँचाने का संकल्प और प्रयत्न किया। तुलसीदास उन्हीं बिरले जन-हित साधकों में से थे। हाँ, उसका दुष्परिणाम भी कुछ कम न हुआ। तुलसीदास के पास अनुवृत्त, मेधा, शब्द, जन-कल्याण की कामना,

गरज की वे सभी साधन थे, जिनसे लोक-कल्याण गहरी मात्रा में सम्पन्न हो सकता था, परन्तु उन्होंने पुरानी बोतल में नई शराब भर दी। जनता ने उन्हें पढ़ा बहुत, लेकिन पढ़ कर पाया क्या? काल्पनिक रामकथा, अघटित रामराज्य। उन्हीं दिनों मालवा और मेवाड़ दिल्ली से लोहा ले रहे थे, बाजबहादुर और राणाप्रताप अपने देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए दर दर ठोकरें खाते फिर रहे थे, पर मेरे उस असामान्य विरागी ने एक शब्द भी उस कठिन पार्थिव बलिदान की बात न कही। उसकी श्रद्धा बंजर भालुओं के काल्पनिक कर्तबों में ही खो गई। काश, अपनी शक्ति का उपयोग उसने अपने समकालीन कर्मठों के प्रयत्नों के अनुकूल किया होता!

जहाँगीर और शाहजहाँ हिन्दू रानियों के बेटे होकर भी मुझ पर तेवर बदले रहे। जब वे बादशाह हुए तब मैंने सोचा था कि अकबर की लगाई हिन्दू-मुस्लिम एकता की बेल फूले-फलेगी, परन्तु उनके तेवरों ने उसे झुलसा दिया। शाहजहाँ के रुख ने तो मुझे मजबूर कर दिया। मेरे नए मन्दिर जहाँ तक बन पाए थे, वहीं तक बने खड़े रहे। उनका काम उसने रोक दिया, यद्यपि उसकी बेगम के मकबरे के लिए मैंने थोड़ा धन न दिया। ऊँटों पर लदकर बेहिसाब धन मेरे नगर से आगरे को गया, जहाँ ताजमहल का रोज़ा खड़ा हो रहा था और जिसके निर्माण में न केवल इस देश की प्रतिभा लगी थी, वरन् इसके तरुण नित्य सैकड़ों की तादाद में उस पर बलि हो रहे थे।

परन्तु शाहजहाँ के ही शासन के उत्तरकाल में मुझे कुछ राहत मिली, वह दो जनों की कृपा से। वे दो जन थे—पंडितराज जगन्नाथ और शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह। पंडित जगन्नाथ पिछले काल के संस्कृत साहित्य का विलक्षण पंडित था। शाहजहाँ ने उसे संरक्षा दी थी और उसने अपनी मेधा साहित्य सर्जन में लगाई।

पंडितराज कितना स्त्रैण, कितना विलासी था यह शाहजहाँ के सम्बन्ध से ही सिद्ध है और उसकी बात मैं न कहूँगी। उसका रहस्य मेरे घाट की सीढ़ियों से कोई पूछे, जहाँ उसने ब्राह्मण होकर भी उस पाप का आचरण किया, जिसके प्रायश्चित में उसे उन्हीं सीढ़ियों पर गंगा की प्रशस्ति गानी पड़ी। पर हाँ, मैं यह अंगीकार करती हूँ कि कालिदास की परम्परा में बढ़ने वाली काव्य की मेधावी शृंखला की वह आखिरी कड़ी था।

दाराशिकोह मुसलमान हो कर भी मेरी संस्कृति का उपासक था, विशेषकर मेरे उपनिषदों का। त्रिवेणी के संगम पर, गंगा के तट पर उसने कुछ उपनिषदों के फारसी अनुवाद कराए उनमें मेरा हाथ भी था। मेरे पंडितों ने भी उसमें योग दिया था। शाहजहाँ का उसके ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण मेरे भीतर कुछ आशा का संचार हो आया था। अकबर ने जो कुछ किया वह अपने औदार्य के वशीभूत होकर पर यह तरुण संस्कृति के ज्ञान से प्रभावित था और यह मैं आशा कर चली थी कि मेरे पुनरुद्धार में अकबर से वह एक कदम आगे बढ़ जाएगा, परन्तु खेद कि उसकी उदारता औरंगजेब की कट्टर पैशाचिकता में डूब गई!

बूढ़े बाप के रहते ही बेटों ने बंगाल, गुजरात और दक्कन में बगावत की। मुरादबक्श ने गुजरात में ही अपने को बादशाह एलान कर दिया, शाहशुजा ने बंगाल में दिल्ली की बादशाहत का अपने को एकमात्र अधिकारी घोषित कर, आगरे की ओर कदम बढ़ाया; परन्तु मेरी नगरी से आगे पश्चिम की ओर वह न बढ़ सका। दाराशिकोह ने राजा जय सिंह को शीघ्र पूरब भेजा और मेरे नगर के बाहर ही शाहशुजा का फैसला हो गया। शाहशुजा बहादुर था, समझदार भी कुछ कम न था मगर उसके शारीरिक निर्माण में हुमायूँ और जहाँगीर का खून अधिक था,

बाबर का कम। बंगाल में सिवाय विलास के, नारी और शराब के उसने कुछ न जाना था और मेरे नगर के बाहर भी जब उसने अपने स्कन्धावार खड़े किए तब उसके आपान से आसपास की भूम गीली हो गई। शराब के दौर और घुंघरू की आवाज ने उसके सिपाही के कर्तव्र भुला दिए। अभी पौ तक न फटी थी। सुबह का अँधेरा सर्वत्र फैला हुआ था कि जयसिंह ने यकायक शुजा पर हमला किया। शाहशुजा की शराब की खुमारी अभी चेहरे पर छाई हुई थी कि दुश्मन ने उसकी फौज को तितर-बितर कर दिया। उसको जिधर राह मिली, उधर ही वह भागा। खुद शाहशुजा ने घोड़े पर बैठ पूरब की राह ली और मैंने खुद उसे सरपट भागते बंगाल की ओर देखा। यद्यपि वह बच न सका और उसे सपरिवार अपने प्राण आसाम के बर्बरों के हाथ खोने पड़े। हिन्दुस्तान की मुगलों की लड़ाई में यह मेरा आखिरी हिस्सा था।

मुगल साम्राज्य की एक याद कुछ मामूली तकलीफ की नहीं। मुझे इस बात की खुशी थी कि मुगलों ने इस देश को अपनाकर इसमें सही हुकूमत की पौध लगाई और उन्होंने मजहबी कट्टरता काफी मात्रा में दबा दी, पर औरंगजेब ने मेरी आशाओं पर पानी फेर दिया। उसकी कट्टरता को सुलगाते रहने वालों की, उसके दरबार में कमी न थी, उन्होंने उसे समझाया कि मेरी नगरी हिन्दुओं की नाक है और हिन्दू कट्टरता बराबर यहाँ मौज मारती और सल्तनत तथा इस्लाम के विरुद्ध षड्यन्त्र रचती रहती है। फिर क्या था औरंगजेब बढ़ा। उसकी क्रोधाग्नि में पहली आहुति मथुरा की पड़ी, फिर दिन-रात की मंजिलें एक कर वह मेरे नगर में आ धमका। मेरी बरबादी जितनी अब हुई उतनी कभी न हुई थी। मेरे सारे मन्दिरों के मस्तक उसने चूर-चूर कर डाले। विश्वनाथ का मन्दिर तोड़ उसने मस्जिद बना दी। माधोदास का धरहरा मीनार बन गया और सारे नगर में उसकी लूट

से कोहराम मच गया। एक से एक ब्राह्मण कुलावतंस मेरे नगर में थे, एक से एक आन निबाहने वाले क्षत्रिय थे, एक से एक भामाशाही वैश्य, पर कोई न टिका। मेरे त्रिशूली कुएँ में कूद पड़े और मेरे रक्षक गंगा की नावों पर। भैरव के उपासक लंगोट बन्द भँगेड़ी जो निरन्तर अपनी काहिली से साँड़ों का जीवन बिताते थे, अनेक मौत के घाट उतर गए। एक ने लौट कर अपने भैरव को न देखा। सैकड़ों ऊँटों पर लद कर लूट का धन मेरे नगर से दिल्ली की ओर चला। मैं आह! करके रह गई। मैंने देवता मनाए, अपने रक्षक कोतवाल भैरव को बार बार पुकारा, पर किसी ने मेरी आवाज न सुनी और मैं लहूलुहान हो, एक बार फिर सिर पटक-पटक रोई और फिर फर्याद बेकार समझ चुप हो रही।

इसके बाद का मेरा इतिहास न तो कुछ विशेष विस्तार का है न असाधारण चमत्कार का। मराठों ने औरंगजेब को लोहे के चने चबवा दिए थे और शिवाजी जब आगरे की कैद से भाग कर दक्खिन चले तो मथुरा और प्रयाग होते दो दिन के लिए मेरे नगर में भी विश्राम किया। फिर मराठों ने जो उत्तर भारत पर छापे मारने शुरू किए तो मैं भी अनेक बार उनके अधिकार में आई। मेरे नगर में उन्होंने भी कुछ मन्दिर खड़े किए पर बंगाल में जो विदेशी तूफान उठ रहा था उससे वे भी अपनी रक्षा न कर सके। फिरंगी राज कम्पनी की सौदागरी सीमा से उठ कर सल्तनत के रूप में बढ़ चला था। पहले अंग्रेजों ने फ्रान्सीसियों से लोहा लिया, सफल लोहा लिया फिर भारत के रजवाड़ों से और अब बंगाल के शाही खान्दान को प्लासी में मटियामेट कर वे दिल्ली के बादशाह और अवध के नवाब की सम्मिलित सेनाओं को भी वे बक्सर की लड़ाई में हरा चुके थे। इस जीत से उन्हें बंगाल,

बिहार की दीवानी मिल गई और मैं दिल्ली और अवध के हाथ से निकल कर अंग्रेजों के हाथ में चली गई।

फिर जब अट्ठारहवीं सदी के चौथे चरण में हेस्टिंग्स ने अवध की बेगमों के साथ बेजा बर्ताव किया तो मुझे भी नंगी करने में उसने कोई कोर-कसर न रखी। मेरे राजा चेतसिंह ने, जो उसे मनमाना कर देने से इन्कार कर दिया तो वह मेरे नगर में आया और मेरे नागरिकों ने उसे मार भगाया और उसे चुनार में पनाह लेनी पड़ी। यद्यपि वह फिर लौटा और उसने बदला भी भरपूर लिया, पर मैं मन से उसकी न हो सकी और १८५७ के ग़दर में मैंने भी कुछ कम हाथ न दिखाए। मेरी छावनी के सिपाही भी बाग़ी हो गए, और उन्होंने भी आजादी की उस पहली लड़ाई में कम हाथ न बटाया; पर उसका जो हश्र हुआ वह बताने की बात नहीं। हिन्दुस्तान की हुकूमत कम्पनी के हाथ से निकल कर पार्लमेन्ट के हाथ में चली गई और साथ ही मैं भी।

उसके बाद का मेरा इतिहास देश का इतिहास है, आजादी की लड़ाई, काँग्रेस के अधिवेशनों का, हिन्दुस्तान की जीत का, मेरी स्वतंत्रता का। मैंने बहुत कुछ देखा है, बहुत कुछ सहा है; अब भी देख रही हूँ, अब भी सह रही हूँ। मेरी गलियों में एक से एक काण्ड हुए, धर्म और अपचार के। मैंने एक से एक नागरिक उत्पन्न किए, वीर और कायर, सच्चे और पाखण्डी, जिनकी कमी आज भी मेरे नगर में नहीं। परन्तु मेरी वास्तविक स्थिति वह कहावत स्पष्ट करती है जो मेरे हर जानने वाले की जबान पर है—

राँड़, साँड़, सीढ़ी, सन्यासी
इनसे बचे तो सेवै काशी

अयोध्या

भारत की सात प्राचीन नगरियों में मेरी गणना पहले होती है। यद्यपि मैं आर्यों के आदिम भारतीय आवास से दूर हूँ तथा मेरी नगरी में पुनीततम आर्य राजकुल की प्रतिष्ठा हुई—सूर्य रघुकुल की। सम्भवतः संघर्ष स्थल से दूर होने के कारण मेरी अजेयता मानी गई और इसी कारण, मेरी संज्ञा भी शायद 'अयोध्या' हुई। मेरे सूर्यवंशी राजाओं में से कई के यश का गान ऋग्वेद तक में हुआ है। हरिश्चन्द्र, मान्धात्री आदि मेरे ही राजकुल के नायक थे।

मेरा इतिहास अधिकतर आधुनिक ऐतिहासिक प्रामाणिकता का सम्बोधक नहीं और मुझे डर है कि यदि ऐतिहासिक प्रामाणिकता आदि

से मेरी प्राचीनता पर विचार किया जाय, तब मेरा अपने को बहुत प्राचीन सिद्ध करना कठिन हो जाएगा। परन्तु मेरी आनुवृतिक परम्परा न केवल अकाट्य है वरन् प्रायः प्राचीनतम भी। जिस इक्ष्वाकु कुल की प्रतिष्ठा मेरी नगरी में हुई, उसने भारत के अलिखित प्रारम्भिक इतिहास की नींव डाली है। प्राचीन ख्यातों और अनुवृत्तों में जो स्थान रघुकुल का रहा है, वह इस देश के किसी और राजकुल का नहीं और वह मेरी ही नगरी में पहले प्रतिष्ठित हुआ।

तिथि और क्रम की छानबीन करने वाले इतिहासकारों का निश्चय यह समझ पाना कठिन है कि यदि आर्य प्रगति का प्रसर मन्द हुआ और यदि मेरे प्रारम्भिक राजा, ऋग्वैदिक राजाओं के अग्रणी हैं, यदि उनका यशगान आर्यों की प्रथम पुस्तक उस ऋग्वेद में हुआ, यदि भौगोलिक सीमाएँ पूर्वी पंजाब तक ही आती हैं तब तो कठिनाइयों की कमी न होगी और मैं यह प्रमाणित करने का प्रयत्न भी न करूँगी कि ऋग्वैदिक स्तरों के ऊपर निर्भर कर भौगोलिक सीमाएँ निर्धारित करना उचित न होगा। हाँ, इतना मैं जरूर कहूँगी कि न केवल सूरसेनों की यमुना का वरन् मेरी सरयू का भी उल्लेख ऋग्वेद में है, जिसके तट पर मैं खड़ी हुई और वह राजकुल प्रतिष्ठित हुआ। अस्तु।

रघुकुल की प्रतिष्ठा और उसकी राजनीति का दक्षिण-पथ की ओर प्रचार वस्तुतः इतिहास का इतना नहीं, जितना अनुवृत्त का विषय है। उस सम्बन्ध में केवल इतना कह कर सन्तोष करूँगी कि राम की दक्षिण यात्रा में, सुदूर दक्षिण में भी मेरी ख्याति थी और उधर के मार्ग मेरे वणिज्य और विस्तार के लिए खोल दिए। राम के पिता दशरथ के समय ही आर्यों में जो युद्ध छिड़ा था, वह कुछ इतना ही भयंकर था जितना पिछले काल का महाभारत। इसमें दस राजाओं ने भाग लिया था और इसी से उसकी संज्ञा 'दस राज्ञयुद्ध' पड़ी। इस युद्ध में मेरे नृपति

ने तो भाग न लिया, परन्तु इसका नायक पंचाल का सुदास, मेरे दशरथ का फूफा था और सम्भवतः मिश्र के रामसेज़ या अस्सुर के अम्युराबी का समकालीन।

रघुकुल की दिग्विजयों और कीर्ति कथाओं को मैं अपने पाठकों और श्रोताओं से महाकाव्यों और पुराणों से जानने का संकेत कर मैं अपने अगले इतिहास के पन्ने खोलूँगी। उस कुल के विस्तार की अन्तिम सीमाएँ राम ने खीची। उसके बाद धीरे धीरे उसकी अवनति ही होती गई। इस संबंध में एक बात मैं यह कहना चाहूँगी कि काव्यों और पुराणों में जो रघुकुल के मेरे इस केन्द्र से उनके साम्राज्य के असीम भू-खण्डों तक फैल जाने की बात लिखी है, वह मेरी जानकारी की नहीं। यदि सचमुच इस प्रकार का कोई राज्य विस्तार तक्षशिला अथवा दक्षिण तक हुआ तो वह अस्थाई था और जो था भी, वह निश्चय पड़ोसी राज्यों की स्वीकृति के अनुकूल, यद्यपि यह सम्भव है कि वे राज्य, कुछ काल के लिए इतने कमजोर पड़ गए हों कि मेरे अप्रतिरथ स्वामियों के रथ-चक्र अबाद उनसे होकर दौड़ गए हों। सच तो यह है कि न केवल सिन्धु और उसकी सहायक नदियों के तट पर वरन् मेरे चारों ओर शक्तिमान राजकुल प्रतिष्ठित थे और राजनीति में उनका अतिक्रमण करना मेरे लिए, मेरे अप्रतिम सूर्य राजकुल के लिए भी सम्भव न था। एक ओर तो पंचालों का वह राजकुल प्रतिष्ठित था जिसके राजा सुदास ने दास राज्य युद्ध जीतकर अपना नाम प्रसिद्ध किया था। दूसरी ओर मिथिला के विदेहों का वह प्रख्यात राजकुल था, जो प्रायः मेरे राजकुल के साथ ही प्रतिष्ठित हुआ था और जिससे मैंने जब तब वैवाहिक संबंध जोड़े। तीसरी ओर मगध में बसु द्वारा प्रतिष्ठित गिरिव्रज में वह राजकुल था, जिसने भारत में पहला साम्राज्य स्थापित किया, जिसके जरासन्ध से यशस्वी राजा हुए और जिसकी चोट से मेरे राजवंश का अन्त हो गया।

रामायण और महाभारत के बीच का मेरा इतिहास यद्यपि उतना ज्वलन्त नहीं, जितना पहले का है, तथापि वह नगण्य भी नहीं और मेरे राजकुल की गणना फिर भी देश के अग्रणी वंशों में होती रही। महा-भारत काल में कुरुओं और मागधों की शक्ति इतनी बढ़ी कि कुरुओं ने अपने तेज से मुझे निरस्त कर दिया और मागधों ने तो मेरे कुल की प्रायः समाप्ति ही कर डाली। मेरी स्वतंत्रता नष्ट कर उसे अपने साम्राज्य में मिला लेने का श्रेय मगध के जरासन्ध को है, यद्यपि मेरा बृहद्बल और जरासन्ध का बेटा, सहदेव दोनों महाभारत के युद्ध में लड़े थे और दोनों ने वहाँ सद्गति पाई।

मेरा कोशल नाम पुराना है, काफी पुराना, कम से कम कौशल्या और दशरथ के बराबर पुराना। कौशल्या की याद के साथ ही मुझे उस सामाजिक संबंध की भी याद आती है जिसके विरोध में रामायण ने पिछले काल में असगोत्र विवाहों की प्रतिष्ठा की। तब तक मेरे नगर और आर्यों में सगोत्र विवाह भी कुछ कम प्रचलित न था। कम से कम मातृकुल से तो कन्या बराबर ली जाती थी, चाहे माता से उसका संबंध निकटतम क्यों न हो। जिस कौशल्या का विवाह दशरथ से हुआ वह कोशल के ही राजपरिवार की कन्या थी। वैसे तो न केवल महाभारत काल में ही ऐसा हुआ कि कृष्ण ने रुक्मिन की बहन से विवाह किया और उनके बेटे प्रद्युम्न ने रुक्मिन् की बेटी से, वरन् पिछले काल में शाक्यों में तो यह प्रथा काफी जोर पकड़ गई थी। यह कुछ अजब न था कि गौतम बुद्ध के पिता शुद्धोदन ने जिसकी बहिन माया से विवाह किया, उनके पुत्र बुद्ध ने उसी की कन्या यशोधरा को ब्याहा। शाक्य कोशल के उस सूर्य कुल की ही एक शाखा थे जिसके आदि पुरुष यम को उसकी सहोदरा ने उससे विवाह न करने के कारण क्लीव और आचार विध्वंसक कहा। रामायण की परम्परा में जिस सामाजिक और वैवाहिक

नीति का प्रचलन किया, वह कालान्तर में वैसे मुझे भी संगत जान पड़ा और मैंने भी उसे मान्य समझा।

बीच का इतिहास मुझे भूल गया। वास्तव में सदियाँ इतनी बीती हैं कि दूर की घटनाओं का विस्मृत हो जाना कुछ अजब नहीं। ईसा पूर्व सातवीं आठवीं सादियों से फिर मेरी स्मृति लौट पड़ती है और मेरा इतिहास निरावरण होने लगता है। मगध में तब बहीद्रथ राजकुल की शक्ति टूट चली थी, बरसों की कौशाम्बी में निचक्षु द्वारा प्रतिष्ठित राजकुल धीरे धीरे स्वतंत्र भागों के गणतन्त्र को दबोचे जा रहा था, जनक विदेह का राजतन्त्र उलट कर विदेहों ने मिथिला में अपना जनतन्त्र खड़ा किया था और मल्ल, कोलिय, मोरिय, शाक्य आदि अपनी राजनीति सतर्क हो सँभाले हुए थे। काशी भी तब स्वतंत्र थी, यद्यपि मगध और वत्स दोनों के कुचक्र उस पर चल रहे थे। परन्तु जीता उसे मैंने। मेरे कोशल राजकुल की शक्ति दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती जा रही थी।

एक बात और जो याद रखने की है, वह यह है कि महाभारत युद्ध के बाद की उथल-पुथल में मेरी काया भी पलट गई थी। मगध बृहद्रथों की प्रसार नीति का शिकार हो जाने के कारण मेरे राजकुल ने दक्षिण या महाकोशल में अपनी प्रतिष्ठा की थी। परन्तु कुछ दिनों बाद जब बृहद्रथों की शक्ति कमजोर पड़ने लगी और उनका साम्राज्य गंगा पार तक ही संकुचित हो गया, तब मेरा राजकुल फिर कोशल लौटा। पर मेरी राजधानी में नहीं। मैं अपने राजकुल के उखड़ जाने से अप्रसिद्ध हो गई थी। अशुभ माने जाने लगी थी और यद्यपि मेरी भूमि फिर भी पावन मानी जाती रही, राजधानी अपनी कोशलों ने उस श्रावस्ती में स्थापित की जिसके भग्नावशेष आज भी गोंडा और बहराइच की सीमा पर सहठ-महठ गाँव में बिखरे पड़े हैं। वहीं कोशलों का 'नया राजकुल प्रतिष्ठित हुआ। प्राचीन राजवंश की ही नया राजवंश भी एक शाखा

थी फिर भी मेरे नाम से ही राज्य का कोशल नाम चलता रहा यद्यपि मुझे एक और नाम अब मिल गया था, साकेत।

काशी, ब्रह्मदत्तों की काशी, अब तक स्वतंत्र रही थी और उसके राजा अजातशत्रु ने भी कभी विदेहों के जनक, पंचालों के प्रवाहन और कैकेयों के अश्वपति की ही भाँति ही कभी दर्शन के तत्व कहे सुने थे। परन्तु पिछले दिनों में जैसे मेरी स्थिति में अन्तर पड़ गया था वैसे ही उसमें दुर्बलता आ गई थी और उसके राजाओं की भी शक्ति इतनी क्षीण होती गई कि उनके शासन की सीमाएँ फिर तो वाराणसी और उनके आस पास के इलाकों तक ही सीमित हो गई और जब श्रावस्ती के मेरे नए राजकुल ने अपनी प्रसरलिप्सा चरितार्थ की तब तो काशी सर्वथा मेरे अन्तराल में ही समा गई।

काशी का विजेता कोशल का कंस था, जिसने उस प्राचीन नगरी को जीत 'वाराणसी पति' का विरुद धारण किया। उसके बेटे महाकोशल ने तो उसे भलीभाँति भोगा भी और जब उसने अपनी कन्या कोशल-देवी मगध के शेशुनाग राजा बिम्बिसार को ब्याही तो दहेज में काशी की एक लाख की वार्षिक आय उसे दे डाली। उसी कोशलदेवी का भाई प्रसेनजित था, जिसने शिष्टता और ज्ञान में सुदूर के विद्यापीठ तक्षशिला में जीवक के साथ दीक्षा पाई थी। तब चार पड़ोसी राज्यों में संघर्ष छिड़ा था, मगध, वत्स, अवन्ती और कोशल में। मगध ने अंग जीत लिया। वत्स ने भर्गों का देश, अवन्ती ने आस पास की सारी भूमि और मैंने गणतन्त्रों के अनेक प्रदेश। इससे यह मुमकिन न था कि हम सब आपस में टकरा न जाते। मगध को अंग को निगलते समय वत्स के उदयन का हस्तक्षेप बुरा लगा परन्तु अवन्ती जो मगध की ओर आशा भरी आँखों से देख रही थी इससे दोनों से एक साथ उलझ पड़ना उसे

युक्तिसंगत न जँचा, अवन्ती तथा वत्स को आपस में और निपट लेने के लिए उसने छोड़ दिया। परन्तु मुझे मगध ने विशेष सहृदयता का परिचय न दिया। विशेषकर बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु ने तो जो नीति वज्जियों के साथ बर्ती वही मेरे साथ भी बर्तनी चाही।

अजातशत्रु महत्वाकांक्षी था—घर में भी बाहर भी। घर में तो वह पिता को ही दीर्घ काल तक राज करते न देख सका और उसने जब उसकी कटार असफल हो गई, तब पिता को बन्दी कर भूखों मार डाला। मेरे राजा के लिए तब यह स्वाभाविक था कि अपनी विधवा बहिन कोशलदेवी के वैधव्य का अजातशत्रु से बदला ले। निश्चय तब कोशल के राजनीतिक साधनों से मगध के साधन कहीं अधिक और प्रबल थे। इसलिए खुल्लमखुल्ला युद्ध की स्थिति में तो प्रसेनजित था नहीं, विशेषकर इस कारण भी कि उसका राज्य अंगुलिमाल डाकू ने उजाड़ डाला था और मन्त्री दीर्घचारायण की मदद से उनके बेटे विडूडभ ने भी उसे कुछ कम खतरे में नहीं डाल दिया था। प्रसेनजित ने फिर भी अजातशत्रु के जघन्य कृत्य पर आक्रोश प्रकट करने के लिए बहिन के दहेज में दी मगध को काशी की आय रोक दी, परन्तु इसका अर्थ युद्ध घोषणा था और अजातशत्रु ने तत्काल काशी पर अधिकार कर लेने के उपक्रम किए। युद्ध छिड़ गया, दीर्घकालिक विकराल युद्ध। विजय कभी मेरे हाथ आई, कभी मगध के। इसी समय मेरे आन्तरिक शत्रुओं ने विशेषकर दीर्घचारायण और विडूडभ ने अपना विद्रोह और घना कर दिया। तब मुझे लाचार होकर केवल काशी ही नहीं प्रसेनजित की कन्या वाज़िरा भी अजातशत्रु को देकर सन्धि करनी पड़ी।

मेरी स्थिति दिन पर दिन बिगड़ती जा रही थी। भगवान बुद्ध ने कई बार अपने संघ के साथ मेरी नगरी में डेरा डाला। मैंने बार बार उनकी ओर आशा से देखा; परन्तु वे भी मेरे टूटते राष्ट्र को सहारा न दे

सके यद्यपि उन्होंने अँगुलिमाल को जीत लिया। वह कथा भी कुछ कम रोमांचक नहीं। श्रावस्ती के उस महाकान्तार के प्रहरियों ने बुद्ध को प्रवेश करने से रोका जिसमें वर्षों से विकराल दस्यु अँगुलिमाल का निवास चला आता था। अँगुलिमाल ने हजार मुसाफिरों का वध करने का निश्चय कर लिया था और अपनी हत्याओं की गणना के लिए वह जब किसी नागरिक को मारता, तब उसकी एक उँगली काट अपनी माला में पिरोकर धारण कर लेता और इस प्रकार वह अपना नाम सार्थक करता। उसकी हत्याओं से श्रावस्ती और कोशल की प्रजा त्राहि त्राहि कर उठी। तभी प्रहरियों की बात न मान तथागत मेरे उस महाकान्तार में प्रविष्ट हुए। घने वन में कुछ दूर चलते ही पीछे से आवज आई "ठहर जा" बुद्ध ठहर गए। फिर कर जो दस्यु को आते देखा तो बोले—'मैं तो ठहर गया भला तू कब ठहरेगा?' मुँह पर शान्ति विराज रही थी। उदार प्रेम और प्रसन्न मुस्कान से मुखमण्डल आलोकित था। दस्यु उस कोमलता से आक्रान्त हो गया, जिसे उसने जीवन में कभी न जाना था। उसे देख बड़े बड़े पराक्रमियों को घिग्घी बँध गई थी, पर आज इस पुकार पर जब इस निहत्थे भिक्षु को उसने इस शान्ति से अपनी ललकार का उत्तर देते सुना तब उसका धीरज स्वयं छूट गया और तथागत के प्रश्न का मर्म समझ, उनके चरणों से लिपट वह संघ का अनुयायी बना।

पर तथागत भी मेरे गृहकलह को न सँभाल सके और एक दिन पिता को पुत्र ने कोशल से बाहर कर दिया। प्रसेनजित सहायता के लिए अपने दामाद अजातशत्रु की ओर चला पर राजगृह की प्राचीरों के बाहर सिंहद्वार पर ही थकान और भूख-प्यास से व्याकुल राजा ने दम तोड़ दिया। विड्डम राजा बना और अपनी शक्ति का पहला उपयोग जो उसने किया, वह शाक्यों का विध्वंस था। न केवल बुद्ध ने उसके विरुद्ध पिता को उपाय बताया था वरन् उनके शाक्यों ने भी उसे अप-

मानित करने में कुछ कसर न रखी थी। उसकी माँ मल्लिका जो प्रसेनजित को ब्याही थी, वास्तव में शाक्य-क्षत्रिया की कन्या न थी, शूद्रा की थी, जिसे धोखे से उन्होंने राजा को ब्याह दिया था और अब जो बेटे ने उसके एक बगीचे में पैर रखे तो शाक्यों ने उसे शुद्ध करने के लिए जल प्रवाह किया! विड्डम ने जब अपने अपमान का रहस्य समझा तब बदला लेने के लिए उसकी भुजाएँ फड़क उठीं। शीघ्र उसने एक विशाल सेना लेकर शाक्यों पर अक्रमण किया और कपिलवस्तु के नागरिकों को तलवार के घाट उतार, नगर को अग्नि की लपटों को समर्पित कर दिया। शाक्यों का गणतन्त्र वज्जियों के जनतन्त्र की ही भाँति गणतन्त्रों में अग्रणी था। कोशल की इस संहारक चोट से वह कुचल गया। यद्यपि शाक्यों के संहार से मेरी सीमाएँ हिमालय के चरण तक उसी प्रकार जा पहुँची जिस प्रकार अजातशत्रु की चोट से वज्जियों के कुचल जाने पर मगध की सीमाएँ हिमालय से जा लगी थीं। परन्तु जहाँ लिच्छवी फिर से उठ खड़े हुए, शाक्य फिर न उठे।

विड्डम की सन्तान स्वयं भी बहुत काल तक शासन न कर सकी। कुछ ही काल बाद शैशुनागों के विध्वंसक 'सर्व-क्षत्रांतक' महापद्मनन्द ने मुझे अपने बढ़ते हुए साम्राज्य में मिला लिया, फिर मौर्यों ने मेरे जनपद पर शासन किया। कभी मेरा जनपद सर्वथा स्वतंत्र था, सातवीं सदी ईस्वी पूर्व में। फिर उस पर कोशल के राजवंश ने शासन किया था और अब वही विख्यात सोलह जनपदों का कोशल.मौर्यों के अधिकार में था! बौद्ध-जैन मौर्यों के शासन काल में मेरे वैष्णव धर्म की कोई प्रतिष्ठा न मिली और यद्यपि नन्दों ने क्षत्रियों के विरुद्ध मेरी मर्यादा कुछ बढ़ाई थी, पिछले मौर्यों ने मुझे सर्वथा नंगा कर दिया। अन्तिम मौर्य बृहद्रथ को मार कर शुंग-ब्राह्मण पुष्यमित्र मगध की गद्दी पर बैठा। तब ब्राह्मण धर्म के साथ मेरे दिन भी फिरे।

पुष्यमित्र शुंग ने तो मुझे अपना एक विशिष्ट दुर्ग भी बना दिया क्योंकि कुछ ही दिनों पहले ग्रीकों द्वारा मगध की पराजय से वह जान गया था कि मेरे नगर में भी सेना की छावनी बनानी आवश्यक हुई। बाख्त्री के दिमित्रिय ने जब अपनी सेना का एक भाग अपने जामाता मेनानदर को दे, पूर्व की ओर से पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने का उसे आदेश दे, सिन्ध और मध्यमिका की पश्चिमी राह जब वह मगध की ओर बढ़ा तब मेनानदर ने मथुरा और पंचाल के साथ ही मुझे भी आक्रान्त किया। पुष्यमित्र के अश्वमेध का ऋत्विज और महाभाष्य का रचयिता तथा उस ब्राह्मण षड्यन्त्र की मेधा पतञ्जलि जिसका केन्द्र पुष्यमित्र था, मेरे समीप के ही गोर्नद (गोंडा) का निवासी था और वह अब पाटलिपुत्र में जा बसा था। उसने अपने महाभाष्य में मेनानदर द्वारा की हुई मेरी नगरी की दुर्गति का उल्लेख किया है—"अरुणद् यवनः साकेतम्" सही उस घेरे की याद मुझे आज भी स्पष्ट है। कुछ काल मैंने निश्चय अपनी प्राचीरों के भीतर ग्रीकों को न घुसने दिया परन्तु जब शीघ्र ही बाद पाटलिपुत्र की वह दशा हुई तब मेरी क्या हकीकत थी? मैं विधर्मियों के हाथ चली गई जिन्होंने मुझे बुरी तरह लूटा और मेरे देव-मन्दिर भ्रष्ट किए। परन्तु वे ज्यादा दिनों यहाँ रुके नहीं। अपने गृहकलह के कारण उन्हें शीघ्र लौटना पड़ा और मैं फिर एक बार उनके चंगुल से निकल गई यद्यपि मेरी स्थिति अब ऐसी न रह गई थी कि नगरी कहलाने का अधिकार हो। पर हाँ, कुछ ही दिनों बाद जब मेनानदर फिर लौटा और उसे पुष्यमित्र ने परास्त कर मार डाला तब मुझे अपनी पुरानी क्षति का बदला मिला। दो-दो अश्वमेध करने वाले पुष्यमित्र ने मुझे फिर से मान और गौरव दिया और यह कुछ अकारण न था कि मेरे ही यहाँ से उसके नाम का एक शिलालेख मिला हो।

शुंगों का तेज क्षीण होते ही मैं कण्वों के हाथ में आई और उनके

बाद दक्षिण के सातवाहनों के हाथ में-। परन्तु जब शकों ने मध्यदेश को रौंद डाला, तब मुझे भी उनकी चोटें सहनी पड़ीं और कुषाणों की भी जिनको देश से निकाल भारशिव नागों ने एक नए साम्राज्य की नींव डाली, यद्यपि भारशिवों ने मुझे नहीं काशी को अपनी निष्ठा का केन्द्र बनाया। परन्तु परम वैष्णव 'परम भागवत' गुप्त सम्राट मुझे न भूल सके और उनके साम्राज्य के निर्माता समुद्रगुप्त ने कुछ काल मुझे ही अपनी राजधानी नियत की। एक बार फिर मुझे शक्ति मिली और मेरी नगरी में प्रकाण्ड दार्शनिकों का निवास हुआ। पहले एक बार दक्षिण से धुरन्धर दार्शनिक दिङ्नाग आया, फिर वसुबन्धु और उसका भाई असंग। वसुबन्धु और असंग तो पेशावर से आये थे और यद्यपि वे जब तब कौशाम्बी में बरसात बिताते रहे, अपना आवास उन्होंने मुझे ही बनाया। गुप्त काल के बाद जब एक ओर मगध में पिछले गुप्त और कन्नौज में मौखरी प्रतिष्ठित हुए तब मैं कभी एक की चपेट में, कभी दूसरे की चपेट में आती जाती रही और जैसे जैसे उनकी राजलक्ष्मी जीतती-हारती रही वैसे ही वैसे मैं भी बनती-बिगड़ती रही। हर्ष ने जब अपना साम्राज्य खड़ा किया, तब मैं कन्नौज के भाग्य के साथ बँध गई और दीर्घकाल तक कन्नौज की हार-जीत, मेरी हार-जीत भी बनी रही। हर्ष के बाद जो उथल-पुथल हुई, उसमें मेरी राजनीति भी नष्ट-भ्रष्ट हो गई।

पाटलिपुत्र के आधार से उठकर भारतीय राजलक्ष्मी अब महोदय में जा बसी थी। महोदय प्राचीन कान्यकुब्ज का नाम था। आधुनिक कन्नौज का और वही अब इस देश की राजधानी थी। परन्तु उसके राजा कुछ काल तक काफी दुर्बल हुए और अपनी दुर्बलता से उन्होंने गंगा-यमुना के अन्तर्वेद को साहसीकों के आखेट की भूमि बना दी। यशोवर्मन् फिर भी असामान्य था और उसने काफी शक्ति अर्जित की, यद्यपि काश्मीर के ललितादित्य ने उसे परास्त कर दिया। पर आयुधों

ने तो राजनीतिक दुर्बलता की पराकाष्ठा कर दी और उनके शासन काल में कन्नौज पर पालों, राष्ट्रकूटों तथा प्रतिहारों में त्रिवर्गीय संघर्ष भी शुरू हो गया और अन्त में नागभट्ट द्वितीय प्रतिहार ने कन्नौज में अपने राजकुल की प्रतिष्ठा की। तब से प्रायः दो सौ वर्ष तक मैं निरन्तर शांत रही। मुझे शक्ति न मिली पर मुझे छेड़ा भी किसी ने नहीं और मेरी धार्मिक चेतना को भी काफी बल मिला। वास्तव में मेरी राजनीति के तार कबके बिखर गए थे और मैं अब केवल पाखण्ड पर जीती थी, धार्मिक मान्यताओं पर।

प्रतिहारों का पिछला काल जितना उनके संकट का हुआ उतना ही मेरे संकट का भी। कन्नौज पर जब महमूद गजनवी ने दो-दो बार हमले किए तब मैं ही भला उसकी संहारक चोट से कैसे बची रह सकती थी। मुझे भी दूर से आनेवाले उन पठानों ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। मैं नारी हूँ, शक्ति की गोद में उछलते-कूदते मुझे अच्छा लगता है, बाहुओं का सबल झूला मुझे सदा आकृष्ट करता रहा है और प्रतिहारों की भुजाओं में अब वह बल न रह गया था कि मैं निरापद अनुराग से उनमें झूल सकती। इससे यद्यपि गजनी की सेनाओं ने मुझे नितान्त जीर्ण कर डाला पर कुछ काल के लिए परिवर्तन का मुझे सुख मिला। बार-बार मुझे विजेताओं ने नंगी कर दिया, बार-बार मैंने अपने कमज़ोर प्रतिहार स्वामियों की ओर देखा पर जब वे अपनी राजधानी कन्नौज की ही रक्षा न कर सके और जब स्वयं मथुरा, यमुना के जल में अपनी नोची नंगी आकृति देखकर तड़प उठती थी तब मेरी तो वक़त ही क्या थी।

राज्यपाल और यशपाल प्रतिहार के बाद फिर कन्नौज के साथ ही मेरा जनपद भी समर्थ सेनाओं की लूट का क्षेत्र बना। दक्षिण-पूर्व के हिन्दुओं ने, पश्चिम के मुसलमानों ने, सभी ने मुझ पर अपने पौरुष का प्रहार किया और तब चन्द्रदेव नामक गहड़वाल ने काशी, इन्द्रस्थान (दिल्ली) और कन्नौज के साथ ही मेरी रक्षा की। उसने गहड़वालों

का राजकुल कन्नौज में स्थापित किया। उसके पुत्र गोविन्दचन्द्र ने हाजिब तुगाग्तिन और विजयचन्द्र ने अमीर खुसरो से मेरी रक्षा की पर गहडवाल भी बहुत दिनों कन्नौज की रक्षा न कर सके। दिल्ली का सिंहद्वार जब पृथ्वीराज की हार से टूट गया तब कन्नौज का भी बचा न रह सका और चन्दावर के मैदान में महोदय की लक्ष्मी भी लुट गई, साथ ही मेरी भी। मोहम्मद गोरी ने मुझे बुरी तरह लूटा, फिर बख्तियार ने और फिर कुतुबुद्दीन ने। अब मैं मुसलमानों के शासन में आई और उसी शासन में उन्नीसवीं सदी तक रही।

मेरा इतिहास फिर दिल्ली के बादशाहों और जौनपुर के शरकी सुल्तानों ने लिखा। बलबन के शासन में मेरे शासक को बंगाल के तुगरिल से दो बार हारना पड़ा और तब बलबन ने नियाल्तिगीन को मार कर उसका सिर मेरे द्वार पर टाँग दिया। फिर वह स्वयं बरसते मेह में बंगाल की ओर बढ़ा और गौड़ में तुगरिल के दर्बार और उसके प्रियपात्रों पर उसने जो जुल्म किया, वह मेरे कहने की बात नहीं। अलाउद्दीन खिलजी ने जब सुल्तान होकर हिन्दुओं के खिलाफ अपनी मारक नीति का व्यवहार किया तब मेरी जमीन पर एक मन्दिर भी न खड़ा रह सका। और फिरोजशाह तुगलक जब दो बार मेरी नगरी में आया तब उसे मेरी स्थिति देखकर कुछ कम सन्तोष न हुआ।

सैयदों और लोधियों के कमजोर हाथों से दिल्ली की सल्तनत के अनेक सूबे निकल गए। जौनपुर का सूबा भी शरकी राजाओं ने स्वतंत्र कर लिया और तब मैं जौनपुर की चेरी हुई। उस शासन की याद भी कुछ सुख की नहीं परन्तु उसका भी शीघ्र ही अन्त हुआ, जब बाबर ने हिन्दुस्तान में मुगलों का राजकुल स्थापित किया। पर खुद बाबर ने मेरे साथ कुछ अच्छा सलूक न किया। राम के जन्मस्थान से प्रसिद्ध भूमि पर स्मारक स्वरूप जो प्राचीन मन्दिर खड़ा था उसे तोड़ कर और

उसी के कसौटी के खम्भों से उसने वहाँ मस्जिद खड़ी की। उसके पोते अकबर के शासन काल में निश्चय मुझे मजहबी कट्टरता की चोटों से नजात मिली, यद्यपि उसका आरम्भ थोड़ा-बहुत उस शेरशाह ने ही कर दिया था जिसने हुमायूँ को ईरान भगा दिया। अकबर ने मुझे हर तरह से शांति और सुख दिया और जब तक वह जिन्दा रहा, तब तक मुझे किसी प्रकार की क्षति न उठानी पड़ी। मेरी नगरी में फिर सैकड़ों मन्दिर खड़े हो गए; परन्तु उसके वंशधरों ने नीति फिर बदल दी और औरंगजेब ने तो हद कर दी, जब मेरे सारे मन्दिरों को खाक में मिला उनकी जगह मस्जिदें खड़ी कीं। औरंगजेब का विध्वंस मुझे बराबर याद रहेगा।

पिछले मुगल बादशाहों के हाथ से जब शक्ति निकल चली तभी उनके वजीर ने मेरे अवध में नई नवाबी स्थापित की। आज का अवध करीब-करीब वही है जो पहले मेरा कोशल था और उसी की बढ़ती सीमाओं में नवाबी ने अपनी हुकूमत कायम की। सादतअली के बाद सफदरजंग आया और उसके बाद शुजाउद्दौला। तीनों एक से एक काइयाँ थे, एक से एक वीर। और उन्होंने न मुझे लूटा, न खसोटा बल्कि हर तरह से मेरी रक्षा की। नवाब वे नाममात्र के थे। असल में वे यहाँ हर तरह से स्वतंत्र थे। शुजाउद्दौला ने तो मेरे पड़ोस में ही फैजाबाद में अपनी राजधानी रखी और वह शाहआलम और मीरकासिम के समय विशेष प्रसिद्ध हुआ। अंग्रेजों से तीनों ने एक साथ बक्सर में हार खाई और तब मेरी राजनीति फिर डावाँडोल हो चली पर नवाब, जो अब बादशाह कहलाते थे, फिर भी स्वतंत्र बने रहे यद्यपि उनकी राजधानी अब लखनऊ में थी।

मुझे याद है फैजाबाद में शुजाउद्दौला की माँ और बीबी दोनों निवास करती थीं। उनके पास अक्षय धन था पर हेस्टिंग्स ने लखनऊ के नवाब से मिल कर उनका सर्वस्व छीन लिया। उनकी चीख-पुकार

आज भी मेरी हवा में भरी है और यद्यपि आसफ़उद्दौला ने मौला से भी न पाने वाले गरीबों का भी भला किया। मेरा नगर सारे अवध के साथ ही अकाल की चोट से बेदम हो गया। वाजिद्अलीशाह के जमाने में तो मेरी नगरी में फिर मस्जिद-मन्दिर के नाम पर हिन्दू मुसलमानों का दंगा हुआ पर मुसलमानों की दरखास्त पर जो उस बादशाह ने बेइमानी करने से इन्कार किया उससे वह मुझे आज भी याद है। मजहब की झंझट से दूर रहने वाले उस अय्याश ने साफ लिख भेजा—

हम इश्क के बन्दे हैं मजहब से नहीं वाकिफ।
गर काबा हुआ तो क्या, बुतखाना हुआ तो क्या॥

परन्तु इस शेर में जिस उदासीनता का समावेश है वही उस बादशाहत के सर्वनाश का भी कारण हुई। अय्याशी वाजिद्अली के रग रग में भर गई थी। प्रजा का धन बेइन्तहा उसने अपने विलास में लुटाया और एक दिन स्वयं फिरंगी सेना का वह बन्दी हो गया। तब लखनऊ से बादशाहत की नींव उखड़ गई और तभी से मैं बची-खुची उजड़ गई। हाँ एक बार सन् ५७ के विद्रोह में निश्चय मेरी नगरी और फैजाबाद में बगावत के झण्डे खड़े हुए। फैजाबाद में तो गजब का लोहा बजा। और यद्यपि उन रईसों ने जो मुझे कुचलने के पुरस्कार स्वरूप आज तालुकदार बने बैठे हैं, मुझे बरबाद कर दिया परन्तु फिर भी फैजाबाद और लखनऊ के साथ साथ उन दिनों लड़ी और खूब लड़ी।

अब मैं केवल मन्दिरों का नगर रह गई हूँ। गृहस्थ मेरी नगरी में शायद ही कोई हो। नागे-बैरागे, साधू-उदासी और जै जै सिया राम भजने वालों से ही मेरी बस्ती आज आबाद है। न मुझमें जीवन है, न कर्मण्यता और मैं सदियों से यद्यपि अपना कलेवर ही किसी तरह घसीटती आ रही हूँ फिर भी जो स्थिति मेरी आज है वह कभी न थी। और अगर मुझे मरना हुआ तो मेरी दशा इससे अधिक संज्ञाहीन न हो सकेगी जितनी आज है।
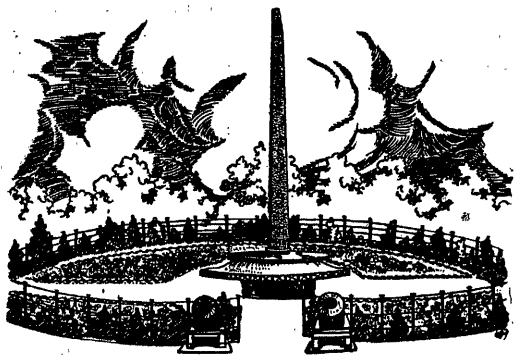
प्रयाग

मैं प्रयगा हूँ। गंगा यमुना का संगम भारतीय साहित्य में निरन्तर स्तुति का विषय रहा है। सिकता गंगा यमुना के बीच का से चमकता फैला कोण अत्यन्त प्राचीन काल से जनता का संगम और तीर्थ रहा है। गंगा और यमुना का खेत और नील संगम साहित्य में सर्वदा रहस्यमय कुतूहल से देखा गया है। बाल्मीकि और कालिदास दोनों ने इन धाराओं का वर्णन किया है और दोनों उनके सम्मिलित सौन्दर्य से मुग्ध हो गए हैं।

मेरे संगम को भारतीयों ने केवल दो नदियों का नहीं वरन् तीन नदियों का—गंगा, यमुना और सरस्वती का माना है। सरस्वती अन्तःसलिला कही गई है जो प्रत्यक्ष नहीं, अदृश्य है, परन्तु जो लुप्त होकर भी दोनों नदियों के साथ मिल कर त्रिवेणी नाम सार्थक करती है। सरस्वती के अनुपस्थित होने पर भी उसका इस स्थल पर समागम और उस समागम

का भारतीय साहित्य में निरन्तर व्याख्यान तथा साधारण जनता का उसमें अमिट विश्वास कितनी ही बार मेरे मन में कुतूहल उत्पन्न करते रहे हैं—इसे त्रिवेणी क्यों कहा ? आखिर सरस्वती का विचार ही इस नामकरण में क्यों उठा ?

उत्तर सर्वथा कठिन नहीं । अन्तरवेद, मैं जिसका केन्द्र और पूर्व द्वार था, आर्यों का पंचाल के साथ वह दूसरा आवास बना था जो उन्होंने कुरुक्षेत्र के ब्रह्मर्षि देश से उठ कर, गंगा यमुना के दोआब में बनाया था । ब्रह्मर्षि देश, जहाँ सरस्वती और दृशद्वती, विशेषकर सरस्वती के किनारे आर्यों के याग-होम हुए थे । उनका वह विशिष्ट प्रदेश था जहाँ उन्होंने शत्रुओं को जीतने और प्रारम्भिक कठिनाइयों के बाद पहले पहल शाँति का लाभ किया था और साथ ही अपनी संस्कृति की मंजिलें तय की थीं । सरस्वती के तट पर इस मात्रा में याग-होम, वेदध्ययन और दर्शन चिन्तन हुए कि वह नदी आर्य संस्कृति और ज्ञान का प्रतीक बन गई । इतना ही नहीं नदी की स्थिति से उठकर वह मेधा को ज्ञान से अनुप्राणित करने वाली सरस्वती भी बनी जो शीघ्र वाणी और कला की जननी तथा देवी कहकर पूजी गई । निश्चय ज्ञान से उसका सम्बन्ध हो जाने के बाद उसके स्थूल जल का लोप हो जाना सार्थक ही था । मेरे इस संगम पर भी जो अनन्त-अनन्त यागहोम हुए, ज्ञानार्जन के केन्द्र स्थापित हुए, जिससे मेरा नाम "प्र-याग" पड़ा, तो यह कुछ अजब न था कि आर्य श्रद्धालुओं को अपनी विस्मृति सरस्वती के तट की याद आ जाती । इतने याग-होम सरस्वती तट से इतर आर्य कल्पना के बाहर की वस्तु थी और उन्होंने माना कि चाहे अदृश्य रूप में हो पर सरस्वती का संगम गंगा-यमुना के साथ यहाँ निश्चय है ।

जब अयोध्या के एक्ष्वाकु राजकुल में वृद्ध राजा दशरथ की कमजोरियों के कारण बेटे के हाथ से राज्य निकल गया और विद्धेषाग्नि

प्रबल हुई तब और उससे पहले ही मेरा स्थल पुनीत माना जाने लगा था। बन जाते समय राम ने मेरे तट पर भारद्वाज के उपदेश सुने और पुराणों ने मेरे महात्म्य का निस्सीम यश गाया। मेरे तीर्थों की प्रशंसा महाभारत ने भी मुक्तकण्ठ से की और मेरी संज्ञा शीघ्र तीर्थराज हुई। इस प्रकार रामायणकाल के पूर्व से लेकर आज तक मेरा अटूट धार्मिक वैभव बना रहा। धार्मिक वैभव मैं जान बूझ कर कह रहा हूँ, उसे राजनीतिक गौरव से अलग करने के लिए, क्योंकि यद्यपि जब तब और विशेषकर पिछले मुस्लिम युग में, राजनीति की चिनगारियाँ मेरे नगर में भी चमकीं, परन्तु सच तो यह है कि कभी मैं राजनीत का प्रबल केन्द्र न हो सका। भारतीय इतिहास में मेरा महत्व विशेषकर धार्मिक रहा है।

ऐतिहासिक काल मे मेरा पहला सम्बन्ध अन्तर्वेद की उस राजनीति से हुआ जो पूर्व-पश्चिम में स्थापित होने वाले साम्राज्य का सन्धि-स्थान बन गया। उपनिषद् काल में पंचालों और काशी की सीमाएँ मेरे ही नगर में समाप्त होती थीं। मगध साम्राज्य के खड़े होने पर बिम्बिसार की काशी की हदें भी पश्चिम की ओर मेरे ही समीप आकर समाप्त हुईं। तब मैं वत्सों के राज्य में थी और मेरा शासन कोशाम्बी का वह राजकुल रतका था जिसे कौरव निचक्षु ने मुझसे तीस मील पश्चिम यमुना के तट पर स्थापित किया था। महात्मा बुद्ध अनेक बार मेरे ही राजमार्ग से उदयन के कोशाम्बी को आये थे। तीर्थराज की मेरी पावनता यद्यपि सदा अक्षुण्य बनी रही थी, फिर भी समय समय पर मेरे शासकों की तृष्णा से उसकी सीमाएँ परिमित होती रहीं। कोशाम्बी का उदयन वह मधुप्रिय भ्रमर था, जिसने अपनी तृष्णा कभी संयत न की और निरन्तर वह विषयों का उपासक बना रहा। वत्स के उस राजन्य ने एक समय विलासिता की देश में धारा बहा दी थी और मैं तपता, अपने उद्वेग को संयत करता चुपचाप उसकी प्रणय प्रक्रियाओं को देखता रहता।

छठी सती ईस्वी पूर्व के इस वातावरण से मैं शीघ्र ऊब गया और मगध की बढ़ती सीमाओं ने पंचाल शासकों से मेरी रक्षा की। वत्सों का राज्य कुछ मगध ने ले लिया, कुछ अवन्ती के प्रद्योतों ने और मैं फिर एक बार अपनी धर्म-भीरुता के लिए प्रसिद्ध हुआ। नन्दों का उत्कर्ष क्षत्रियों के लिए काल रात्रि सिद्ध हुआ और तब यद्यपि मेरी धार्मिक शक्ति को कुछ चोट पहुँची। मैं फिर भी श्रद्धालुओं के समागम का केन्द्र बना रहा।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने जब अपना विशाल साम्राज्य खड़ा किया तब उसकी विजयवाहिनी की पश्चिममुखी धमक मैंने सुनी थी। फिर अशोक के धर्मोपदेश भी मैंने निरन्तर सुने। कौशाम्बी मेरी पड़ोसी थी और अशोक का वह स्तम्भ जो आज मेरे नगर में खड़ा है, पहले वत्सों की इसी उजड़ी राजधानी में खड़ा किया गया था। पिछले मौर्यों के दुर्बल हाथों से जब राजदण्ड स्खलित होने लगा तब विदेशी ग्रीकों ने मेरी ही राह से मगध में प्रवेश किया था। मेरी ही राह से वे लौटे भी थे और कुछ ही काल बाद मेरे पास ही पुष्यमित्र शुंग ने मेनानदर को परास्त कर उसे मार डाला था।

शकों के सेनानी लोहिताक्ष अम्लात ने जब ईस्वी पूर्व प्रथम शती में पाटलिपुत्र का विध्वंस किया था, तब उसकी सेना मेरे ही मार्ग से गई थी, मुझे रौंदती, कुचलती, मेरे भवनों को खण्डहर बनाती, मेरी अनन्त-अनन्त मूर्तियाँ तब उनकी चोट से बिखर गई थीं। मेरे श्रद्धालु उपासक संगम छोड़, गावों की ओर भाग पड़े थे। कुषाणों के राजा कनिष्क ने जब मध्यदेश पर आक्रमण किया और पाटलिपुत्र से अश्वघोष को चील की भाँति झपट कर लौटा तब मेरे ही मार्ग से। वाकाटकों और नागों ने बारी बारी से मेरे संगम पर विदेशियों के विरुद्ध अपनी विजयों के

संकल्प किए। मेरे ही तट पर, उन्होंने अनेक बार अपनी सेनाओं को विश्राम दिया; अपने पितरों के तर्पण किए।

परन्तु राजनीति से मेरा विशेष सम्पर्क वस्तुतः उन गुप्तों से व जिन्होंने मेरे ही अन्तर्वेद के आधार से उठ कर मगध का साम्राज्य खड़ा किया था; गुप्त जो भारतीय संस्कृति के निर्माता और साथ ही गणतन्त्रों के असाधारण शत्रु हो गए हैं। पाटलिपुत्र में राजचक्र को घुमा चन्द्रगुप्त प्रथम ने, जब वहाँ अपनी शक्ति की प्रतिष्ठा की, जब उसने लिच्छवियों के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित कर अपनी शक्ति का वितान ताना तब और उसके पहले उसके आधार साकेत और प्रयाग ही थे। पुराणकार ने चन्द्रगुप्त का यश गाया और उसके पुत्र समुद्रगुप्त को धिक्कारा। उसका कारण एक जनपद से उठती हुई प्रारंभिक उचित शक्ति का दूसरे जनपद पर अनुचित प्रसार था। गुप्त साम्राज्य का वास्तविक निर्माता और भारतीय स्वतंत्र जनशक्तियों का प्रबल बैरी वह समुद्रगुप्त ही था, जिसने अपने विषम जीवन का स्पष्ट प्रदर्शन किया। एक ओर तो उसे लिच्छवियों के जनतन्त्र से अपने पिता का सम्बन्ध स्वीकार कर अपनी मर्यादा लिच्छवि दौहित्र कह कर बढ़ाई। दूसरी ओर उन्हीं लिच्छवियों को अपने रथचक्र के नीचे पीसने से वह न चूका। लिच्छवि ही क्यों, भारत के प्रायः सभी गणतन्त्र उससे आक्रान्त हो संत्रस्त हो उठे और उन्होंने स्वतः उसके प्रति सिर झुका लिया। शास्त्र में अकुण्ठित बुद्धि रखने वाले इस महाकाय विजेता ने 'समरशत वितत विजयी' की उपाधि धारण की और निरन्तर वह शास्त्र की उपासना में लगा रहा। शांतिकाल में उसका वीणावादन, काव्यक्षेत्र में उसका स्वर्जित कविराज्य, युद्ध के दिनों में व्यंग बन जाते थे। मेरे नगर से थोड़ी ही दूर पर कौशाम्बी के पास उसने आर्यावर्त्त के सम्मिलित राजाओं का सर्वनाश किया। वाकाटकों और नागों ने गुप्तों के उत्कर्ष के पूर्व विदे-

शियों को हरा, भारत की भूमि उनसे साफ कर दी थी, जिसपर गुप्तों का साम्राज्य खड़ा करना सुगम हो सका। उन्हीं वाकाटकों और गुप्तों को समुद्रगुप्त ने उखाड़ फेंका। नागों ने एक बार अपनी सारी शक्ति लगा कर, अपने विविध राज्यों की शक्ति एकत्र कर उसका सामना किया, परन्तु अप्रतिरथ समुद्रगुप्त ने उन्हें मिट्टी में मिला दिया। अपने दिग्विजय की नीति में उसने चाणक्य के उस सिद्धान्त का परिपोषण किया जिसमें लिखा है कि पड़ोसी स्वाभाविक शत्रु होता है, 'प्रकृत्यमित्र', जैसे बिल्ली चूहे की, सिंह मृग का, एक दूसरे का आहार है। समुद्रगुप्त आरविक राज्यों को जीत दक्षिणपथ की ओर बढ़ा और वहाँ के राज्यों को भी उसने तहस नहस कर डाला। दूरस्त होने के कारण उनकी उससे स्वाभाविक शत्रुता न थी, इससे उसने उनसे उनकी श्री तो छीन ली पर मेदिनी लौटा दी। धर्मविजयी नृप का शाश्वतकाल से सम्भवतः यही आचरण चला आया था, धर्मविजयेनृपता जो पड़ोसियों को अपना परम और प्राकृत्य शत्रु समझता था।

मुझे समुद्रगुप्त की यह दिग्विजय विशेष प्रकार से याद है, क्योंकि इस दिग्विजय की तालिका उसी स्तम्भ पर दी हुई है, जो आज भी मेरे आँगन में खड़ा है। वैषम्य का जीवन बिताने वाले समुद्रगुप्त के लिए यह उचित ही था कि अपनी खूनी लड़ाइयों का वृतान्त वह उसी स्तम्भ पर खुदवाये जिस पर शांति और प्रेम के उपदेश कभी अशोक ने खुदवाये थे। अशोक ने न केवल मनुष्य का वध और विशेषकर साम्राज्य निर्माण के अर्थ मनुष्य का वध घृणित घोषित किया था वरन् अपने साम्राज्य से पशु-पक्षियों तक का वध उठा दिया था। उसी स्तम्भ पर जिस पर मानवता के उस अद्भुत पोषक ने अपनी प्रजा के प्रति पिता के-से उद्गार निकाले थे, समुद्रगुप्त ने अपने लाल करिश्मों का इतिहास छपाया।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने पिता की विजयों का ताँता उसी पैतृक नीति

से ही जारी रखा। बंगाल से वाह्लीक तक उसने एक कुलाँच भरी थी और मेरे ही पड़ोस में कौशाम्बी को उसने भी पिता की ही भाँति दक्षिण और पश्चिम की ओर प्रसार का केन्द्र माना था। कौशाम्बी वास्तव में पश्चिम से पूर्व जाने वाले और उत्तर से दक्खिन जाने वाले वाणिकपथों की सन्धि पर खड़ी थी और यद्यपि मैं सम्भवतः अपनी धार्मिक प्रवृत्ति के कारण राजनीतिक केन्द्र न बन सका, कौशाम्बी उजड़कर भी सदा बनी रही।

गुप्तों के कमजोर हो जाने पर और विशेषकर हूणों की चोट से गुप्त साम्राज्य जब टूट कर बिखर गया तब मौखरियों ने कन्नौज में अपनी राजधानी कायम की। फिर तो शक्ति के लिये उनमें और पिछले मगध गुप्तों में जो कश्मकश हुई वह असाधारण थी। कभी एक विजय हुआ, कभी दूसरा और मेरा समीपवर्ती मैदान उनकी निरन्तर टक्करों का केन्द्र बन गया। आखिरी चोट मौखरियों को उनके सर्वनाश से पहले कुमार-गुप्त तृतीय ने ईशानवर्मन् मौखरी को मेरे ही मैदान में हरा कर दी थी। एक के बाद एक गुप्त राजा मेरे ही संगम पर जलाये गये और मैं कुछ काल तक फिर भी उनके राज्य में बनी रही।

परन्तु पिछले गुप्तों का राज्य टिकाऊ न हुआ और मगध की सीमायें निरन्तर संकुचित होती गईं। अन्त में हर्ष के उठते हुये शौर्य ने उनको सर्वथा ग्रस लिया। शशांक और देवगुप्त ने अपनी सम्मिलित शक्ति से कन्नौज का विध्वंस किया था। मौखरियों के सर्वनाश की कपालक्रिया उन्होंने ही की थी और जब शशांक बोधगया के बोधवृक्ष को काटता, उसकी जड़ों पर अग्नि रखता पश्चिम की ओर बढ़ा तब तो मेरा अक्षयवट भी एक बार समूल काँप उठा, परन्तु गौड़ नृपति का यह आचरण वस्तुतः अक्षयवट की रक्षा के लिये ही था। देवगुप्त मालवा से उत्तर की ओर और शशांक गौड़ से निकल कर पश्चिम को ओर बढ़ा था। कौशाम्बी के चौराहे पर दोनों मिले थे और दोनों ही ने परस्पर

सहायता का संकल्प कर मेरे संगम पर स्नान किया और अपनी सन्धि का साक्षी त्रिवेणी को बनाया।

उनकी सेनायें मेरी प्रशस्त सिकता भूमि पर जब भ्रातृभाव से परस्पर आलिंगन में बद्ध हुई तब स्वयं मुझे भी कुछ सुख मिला, परन्तु कुछ ही काल बाद जब मुझे महोदय के ध्वंस का सन्देश मिला और उस घिनौनी हत्या का, जिसमें हर्ष के भाई राजवर्द्धन को मार, गौढ़ाधिपति और मालवा नरेश ने अपने हाथ रंगे थे, तब मुझे अपने जल से ही एक बार घृणा हो उठी।

कुछ ही काल बाद हर्ष ने मालवा और गौढ़ दोनों पर अधिकार कर लिया और मैं मागधों के हाथ से उसके हाथ में चला गया। चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने मेरे नगर का विशेष वर्णन किया है। मेरे संगम का भी और उसके कोण में फैले उस सिकता भूमि का भी, जिस पर चिर-काल से मुमुक्षुओं की अनन्त संगति होती रही है।

कन्नौज में अपनी शक्ति और वैभव का प्रदर्शन कर ब्राह्मण तार्किकों का अपने विधान से मुँह बंद कर जब हर्ष अपने मित्र चीनी यात्री को लिए मेरे संगम पर आया तब देश के दरिद्र वहाँ उमड़ पड़े थे। कुम्भ का मेला प्राचीनकाल से वहाँ लगता आया था, परन्तु जिस समारोह से हर्ष का महामोक्षपरिषद वहाँ होता, उसकी शान और ही थी। पाँच वर्ष तक निरन्तर हर्ष का साम्राज्य कोष भरा जाता। पाँच वर्ष तक प्रान्तों की पृथ्वी गाय की भाँति दुही जाती। पाँच वर्ष तक साम्राज्य के राज-पुरुष जनता से सूर्य के अनन्त करों की भाँति कर उगाहते रहते। पाँच वर्ष तक देश के किसान पसीना बहा कर भूमि से अन्न उत्पन्न कर आधा भाग अपने राजा के पारलौकिक कल्याण के लिए प्रदान करते रहते। पाँच वर्ष तक निरन्तर वणिक अपने वाणिज्य का विशिष्ट भाग राजा को

सौंपते रहते और राजा तब असीम औदार्य से वह धन एक दिन अपनी यज्ञाग्नि में आहुत कर देता !

इस प्रकार के धन यज्ञ की यह छठी आवृत्ति थी, हर्ष के धार्मिक उपक्रम का यह तीसवाँ वर्ष, प्रजारंजन के कर्तव्य पर शाश्वत व्यंग स्वरूप राजा का यह विलक्षण धर्माचरण ! साम्राज्य के प्रान्तों से शासक अपना धन-भेंट लिये मेरी प्रशस्त सिकता भूमि पर उपस्थित हुये। माण्डलीक और सामन्त प्रभु के इस देवकार्य में योग देने, धन जन लिए वहाँ पहुँचे। मित्र राजा, सम्बन्धी नृपति अपना राज्य भार मंत्रियों पर छोड़ रत्नोपहार लिये मेरी बालुका भूमि पर आ उतरे। पंचवर्षीय परिषद में हर्ष का यह दानकर्म विशेष मनोयोग से होता था और इस अवसर पर चूँकि विदेशी वह श्रद्धालु यात्री दर्शक के रूप में उपस्थित था जो चीन के श्रीमानों को हर्ष का यह उदाहरण बताने को अधीर हो रहा था। विशेषतः उस महोत्सव की सीमायें बढ़ गईं। उसका प्रभाव विशेष रूप से बढ़ना हर्ष के लिये इष्ट हो गया।

श्रमण और ब्राह्मण, जैन और निर्ग्रन्थ, जटिल और विरागी, कंगाल और भिखमंगे, अपाहिज और नंगे लाखों की तादाद में उस अनर्जित धन राशि को लेने देश के कोने-कोने से दौड़ पड़े। और वह धन राशि जो अनेक प्रकार से मान और अपमान के जरियों से, कष्ट और प्रेरणा के साधन से, अपहृत हुई थी वह भी उनके हाथों में जाने के लिये लालायित हर्ष के वितरण की प्रतीक्षा कर रही थी।

वितरण आरम्भ हुआ और वितरण के पूर्व देवताओं की प्रतिष्ठा और उनकी उपासना शुरू हुई। पहले दिन बुद्धदेव की स्वर्णप्रतिमा पधराई गई, दूसरे दिन सूर्यदेव की, तीसरे दिन ईश्वर देव (शिव) की। पहले दिन अनन्त धनराशि, रत्नकंचन उस मूर्ति पर चढ़े और जितना धन पहले दिन बुद्ध मूर्ति पर चढ़ा, उसका आधा दूसरे दिन सूर्य

मूर्ति पर चढ़ा और उसका आधा तीसरे दिन शिव मूर्ति पर। हर्ष स्वयं बौद्ध था। उसके पिता, पितामह सूर्य के उपासक थे और सम्बन्धी शायद शिव के।

फिर वितरण का आरम्भ हुआ। ब्राह्मण और श्रमण, जैन और निर्ग्रन्थ, कंगाल और भिखमंगे, अपाहिज और नंगे, वस्त्र और द्रव्य ढाई महीने तक निरन्तर पाते रहे। पचहत्तर दिनों तक लगातार अटूट धनवर्षा होती रही और हर्ष धर्म द्वारा इतना प्रेरित हुआ कि उसने कोष में तो कुछ नहीं ही छोड़ा, अपने शरीर के वस्त्राभूषण भी उसने दान कर दिए और बहन राजश्री से पटयुगल माँग धारण किया।

मैंने सदियों भारत की धनी और कंगाल जनता देखी है। भारत की धनी और कंगाल जनता चिरकाल से निरन्तर मेरे संगम पर आती रही है। असीम वैभव के साथ अनन्त अनन्त गरीबों को भी मैंने अपने जल प्रसार में गोते लगाते देखा है और मैंने उस कंगालपन पर क्षोभ प्रकट किया है, आँसू ढाले हैं। हर्ष का यह धन वितरण देखकर मुझे बार बार आश्चर्य हुआ है कि क्या सचमुच देश में इतना धन है? परन्तु निश्चय देश में यदि इतना धन न होता, यदि वह सहस्र करों से छीन कर हर्ष के कोष में एकत्र न हुआ होता तो वह सम्राट अपने केवल दो हाथों से किस प्रकार इतनी धनराशि उलीचता और क्यों इतने इतने कंगाल मेरे संगम पर उस लूट की प्राप्ति के लिए दौड़ पड़ते? देश में इतने कंगाल फिर होते ही क्यों?

जानता हूँ, सही है, देश में सचमुच इतना धन नहीं, प्रजा सुखी नहीं, जनता के पास जो कुछ है वह भी सुरक्षित नहीं। देश में अच्छी भली सड़कें नहीं, लुटेरे उन पर चलने वालों को दिन दहाड़े लूट लेते हैं। सम्राट का विदेशी मित्र स्वयं ह्वेनसांग अनेक बार उन सड़कों पर लुट गया था, परन्तु सम्राट अपने प्रमुख रक्षण कर्म को भी पूर्णतः

न निभा सका। और अब वह अपनी मनःस्तुष्टि, यशःलाभ, स्वांतः-सुखाय और परलोक निर्माण के लिए यह वितरण कर रहा है। राजा इतना अनुत्तरदायी, इतना गैरजिम्मेदार, कर्त्तव्य से इतना उदासीन, जीवन के सत्य के प्रति इतना उदासीन भी हो सकता है, यह मैंने आज जाना। हर्ष का अन्त भी कुछ सुख से न हुआ। दान और धर्माचरण के बावजूद भी वह निःसन्तान मरा और उसका साम्राज्य तितर बितर हो गया। उसके सिंहासन पर मन्त्री ने अधिकार कर लिया। अनेक लगातार युद्धों से, अपरिमित वितरण से, प्रवंचक औदार्य से कोष कब का रिक्त हो चुका था और जो उसमें थोड़ा बहुत बचा भी था, उसे इस नए विप्लव ने लूट लिया। हर्ष की ख्याति, उसकी कीर्ति और सहृदयता उसके साथ ही मेरे संगम की बालु में खो गई।

फिर मैं कन्नौज के नव प्रतिष्ठित राजकुल के शासन में आया। यशोवर्मन् कौन था, मैं स्वयं सही सही नहीं कह सकता और उसने जिस राजकुल का कन्नौज में आरम्भ किया, वह भी कुछ लम्बे काल तक प्रतिष्ठित न रह सका। परन्तु यशोवर्मन् को मैंने जाना। दो कारणों से मैंने उसे जाना। एक तो इस कारण कि उसका, दर्बारकवि जो संस्कृत साहित्य का असाधारण निर्माता हो गया है, मेरा उपासक था और अनेक बार मेरे संगम पर उपस्थित होकर उसने वैदिक सूक्तों का उद्घोष किया था। दूसरे इस कारण कि जब कश्मीरी विजेता ललितादित्य मुक्तापीढ़ ने कन्नौज पर आक्रमण कर, उसे जीत लिया था तब उस विजेता ने अपने पापों के शमन के लिए, मेरे संगम पर स्नान किया था।

यशोवर्मन् के बाद आयुधों का कुल कन्नौज में प्रतिष्ठित हुआ और मैं उनके शासन में आया। चक्रायुध, इन्द्रायुध और वज्रायुध नाम मात्र को राजा थे। जयापीढ़ ने एक को परास्त किया, धर्मपाल

ने दूसरे को। कमजोरी आक्रमकों के आकर्षण का केन्द्र होती है। कन्नौज की दुर्बलता ने राजनीतिक साहसिकों को अपने वैभव से आकृष्ट किया। पाटलिपुत्र का गौरव कुछ काल से कन्नौज में आ बसा था और उसको स्वायत्त करने के लिए भारत के अनेक राजकुल लालायित रहने लगे थे। अपना प्रभाव कन्नौज पर स्थापित करने के लिए गुर्जर, प्रतिहारों, पालों और राष्ट्रकूटों का त्रिवर्गीय संघर्ष शुरू हो गया था। राष्ट्रकूटों ने उज्जयिनी से प्रतिहारों को भगा कर मरुभूमि में शरण लेने को बाध्य किया, प्रतिहारों ने जोधपुर की ओर से उठ कर कन्नौज की कमजोर राजनीति पर निर्मम चोट की। पालों ने बंगाल से उठ कर कुछ कन्नौज की दुर्बलता से, कुछ प्रतिहारों के प्रति ईर्ष्या से, कुछ अपने साम्राज्यपदीय गौरव में ठेस लगने से, पश्चिम की ओर कदम बढ़ाये। धर्मपाल ने चक्रायुद्ध को हराकर, अपने मनोनीत इन्द्रायुध को कन्नौज की गद्दी दी और अपने इस उत्कर्ष के अर्जन के पहले बौद्ध होते हुए भी ब्राह्मण की निष्ठा से शशांक की भाँति, उसने मेरे संगम पर स्नान किया था। परन्तु गंगा-जमुना के दोआब में इन्द्र तृतीय राष्ट्रकूट ने जब उसकी राह रोकी, तब उसकी चपेट से व्याकुल धर्मपाल को भागने की राह न मिली। छत्र और चँवर और अपने तीनों अदेय राजचिह्नों को पीछे छोड़ जो वह भागा तो काशी में ही जाकर रुका। इन्द्र ने मेरे समीपवर्ती देश को लूट कर वीरान कर दिया। मेरे नगर की भी कुछ कम अधोगति न हुई क्योंकि दूसरे की आजादी कुचलनेवाला धर्म और अधर्म के केन्द्रों से कभी प्रभावित नहीं होता। उस भयानक व्यंग पर मैं हँसा जब इन्द्र ने मेरे ही नगर की लूट का एकांश मेरे संगम पर चढ़ाया और मेरे पुजारियों को उसका कुछ भाग दान किया।

प्रतिहारों ने अन्ततः कन्नौज पर अधिकार कर लिया और मैं एक नए साम्राज्य का नगर हुआ। अन्त में मुझे त्रिलोचन पाल के मारने

पर उससे नजात मिली। इस बीच त्रिपुरी के कनचुरी गाँगेयदेव ने मेरे नगर पर अधिकार कर लिया परन्तु वह अधिकार फिर स्थाई न हो सका और प्रतिहारों ने फिर कुछ काल बाद मुझ पर अपना स्वत्व जमा लिया। उनके बाद गहडवाल आये—विजयचन्द और विशेषकर अन्तिम जयचन्द। विजयचन्द ने असाधारण निष्ठा से मेरा निर्माण किया। काशी और मैं, दोनों उसके राज्य के विशिष्ट नगर थे। काशी तो उसकी दूसरी पूर्व की राजधानी भी थी, परन्तु मुझे भी उसने कुछ कम गौरव न दिया। और जयचन्द का भी मेरे ऊपर निरन्तर अनुग्रह बना रहा। जयचन्द जब जब मेरी ओर से होकर गुजरा, जब जब उसने मेरे नगर में डेरे डाले, तब तब मैंने उसकी शक्ति, नीतिमानता और औदार्य का परिचय पाया। भारत में गहडवालों का प्रतिनिधि और कन्नौज का स्वामी होने के कारण वह सम्राटपदीय था। दिल्ली तब कन्नौज के गौरव का स्वप्न देखती थी और उसके राजाओं को गहडवाल नृपतियों ने सर्वथा माण्डलिक राजा माना था। इतिहास में किस प्रकार जयचन्द के प्रति कालिख पुत गई, मैं नहीं बता सकता। परन्तु इतना मुझे अच्छी तरह याद है कि थोड़ी ही दूर पर चँदवारे के मैदान में, जब उस अस्सी बरस के बूढ़े जवान ने अपने मुट्ठी भर वीरों के साथ शहाबुद्दीन गोरी का सामना किया था और लड़ते लड़ते वीर गति पाई थी, तब उसके रक्त के अपने जलकणों में मिश्रित हो जाने से मैंने अपने भाग्य को सराहा था। मेरी त्रिवेणी की अन्तःसलिला सरस्वती ने मुझे मेरे कान में वह कथा कही थी, जब भारतीय कथाओं का वीर पृथ्वीराज पठानों से भागा और उसके तट पर पकड़ा जाकर मारा गया था और मैं इस ऐतिहासिक व्यंग से क्षुब्ध होकर, अन्तर्मुख हो गया था!

अब हिन्दुओं का गौरव और उनकी निष्ठा मेरी रक्षा न कर रही

थी, न कर सकती थी। उनकी राजनीति अब स्वयं विपन्न हो गई थी और अन्तर्वेद में पठानों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। गहडवालों की शक्ति टूट जाने के बाद मैं लुटा और खूब लुटा। जिन पठानों ने काशी के मन्दिरों को विध्वस्त कर, वहाँ की धन राशि से अपने कारवों की गति शिथिल कर दी थी, उन्होंने अपने राह में पड़ने वाले मेरे नगर को भी अछूता न छोड़ा था। परन्तु मेरी यह लूट पहली न थी। कन्नौज के गजनवी ने जब लूटा, तब भी मेरे ऊपर खसोट के दो चार हाथ पड़े थे और उसके पहले उसी के पंजाब के .शासक नियल्तिगीन ने भी मुझे लूटने में कुछ कोर कसर न रखी थी। फिर भी अबकी चोट निराली थी क्योंकि इस बार मेरे ऊपर केवल लूट ही तक न बीती वरन् विदेशी आधिपत्य भी कायम हो .गया। कुतुबुद्दीन एबक मेरे नगर से घूम कर ग्वालियर की ओर मुड़ गया था परन्तु बख्तियार तो मुझे रौंदता हुआ बंगाल जा पहुँचा। तब से मेरा पड़ोस बराबर अकबर के शासन काल तक दिल्ली की सल्तनत का एक विशिष्ट सूबा बना रहा, जिसका केन्द्र मेरे पास ही कड़ा में स्थापित हुआ।

कड़ा की राजनीति का इतिहास मेरा इतिहास है। और कड़ा का इतिहास क्रमिक विद्रोहों का इतिहास है। जब तक कि अकबर ने मुगल शासन की शक्ति भारत में दृढ़ न कर ली, तब तक लगातार इस सूबे के हाकिम दिल्ली सल्तनत के विरुद्ध बगावत के झण्डे उठाते रहे। कतलग़ खाँ, अरसला खाँ, मच्छुमलिक, मिर्जा, अलाउद्दीन और पिछले दिनों में खुद सलीम और खुर्रम ने इसी आधार पर अपनी शक्ति का अन्दाज लगाया।

चाचा जलालउद्दीन की कृपा का जो बदला भतीजे अलाउद्दीन ने कड़ा में दिया उसकी जोड़ का दृष्टान्त भारत के इतिहास में नहीं मिलता। जलालउद्दीन अपने शक्तिमान भतीजे की जीतों से परितुष्ट

हो उसके स्वर्ण-वितान के नीचे खड़ा हुआ और जब उसका प्रेम से भरा हृदय भतीजे की छाती से लगने लगा, जब उसकी आँखें आनन्द के आँसू से भर चलीं, जब उसके हाथ भतीजे की पीठ पर प्यार से फिरने लगे, तभी अलाउद्दीन ने उसकी छाती में खंजर घुसेड़ दी ! मैंने वह कृत्य अपनी आँखों देखा, कटार की खप्प मैंने अपने कानों सुनी।

सलीम ने भी अपने पिता से यहीं बगावत की। मेरे ही किले में उसने अपने नाम के सिक्के ढलवाये। मेरी ही छाया से उठ कर अपने बुन्देले सहायक की मदद से उसने अपने पिता के वज़ीर आज़म और प्रिय बन्धु अबुलफ़जल की हत्या कराई थी।

हाँ, मेरे पास अब एक किला भी हो गया था। उस किले को स्वयं अकबर ने बनवाया था। प्रयाग यद्यपि अब भी मेरा नाम धार्मिकों में चलता था परन्तु कुछ काल से मुझे लोग इलाहाबास या इलाहाबाद कहने लगे थे। इलाहाबाद मेरा नया संस्करण था और मेरे इस नव निर्माण में स्वयं अकबर का विशेष हाथ था। उसने जो मेरे संगम पर विशेषतः यमुना के तीर अपने किले का निर्माण किया उसी के चारों ओर अधिकतर यमुना के तट पर इलाहाबाद की आबादी बसी।

परन्तु इससे पहले कि मैं अपने किले के निर्माण के विषय में कुछ कहूँ, बीच की उन सदियों के इतिहास पर भी मैं कुछ कहना चाहूँगा जो मैंने अपनी आँखों घटते देखा और जिसे मैंने स्वयं सहा।

मेरे संगम के उस पार पूरब की ओर झूँसी है जो कभी चन्द्रवंशीय पुरुरवा की राजधानी प्रतिष्ठान के नाम से प्रसिद्ध था। ऐल पुरुरवा अनेक प्रकार से आर्य संस्कृति का कोर समझा जाता है। उसकी राजधानी कब और किस प्रकार विनष्ट हो गई यह कहना कठिन है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कालान्तर में किसी प्रकार भर्गों का गणतन्त्र इस

प्रान्त के पूर्वी भाग पर कायम हुआ जो सदियों अपनी न्यायप्रियता और नागरिक स्वतंत्रता के लिए इतिहास-प्रसिद्ध हुआ। बुद्ध के पहले भर्गों का शासन विस्तार प्रतिष्ठान से शुँशुमारगिरि तक—झूँसी से चुनार तक—था। उदयन से कुछ काल पहले वत्सों ने भर्गों को जीतकर उनका प्रान्त अपने शासन में मिला लिया। तब से यह विषय उदयन के उत्तराधिकारियों के हाथ में तब तक बना रहा जब तब मगध की बढ़ती हुई पूर्वी सीमा ने उसे निगल न लिया। भर्गों का अस्तित्व फिर खो गया और यद्यपि पूर्वी गणतन्त्रों का विशेष उत्कर्ष अगली सदियों में हुआ। झूँसी का गणतन्त्र प्रताप सदा के लिए इस धरा से मिट गया।

फिर भी प्रतिष्ठान का नगर सर्वथा विध्वस्त न हो सका और यद्यपि उसका राजनीतिक प्रभाव जाता रहा, वह नगर फिर भी प्रायः हजार वर्ष तक पूर्वात्य संस्कृति का केन्द्र बना रहा। नवीं सदी ईस्वी तक और पीछे तक उसकी सांस्कृतिक सत्ता बनी रही और वह विद्या तथा दर्शन का केन्द्र मात्र माना जाता रहा। नवीं सदी में शंकर और कुमारिलभट्ट दोनों वहाँ आये और दोनों ने एक दूसरे से वहाँ साक्षात्कार किया। कुमारिल पूर्व बंगाल से आए थे, शंकर दक्षिण मालावार से। कथा प्रसिद्ध है कि नगर में प्रवेश करते ही शंकर ने जब एक बालक से पूछा कि वह कौन है, तो उसने झट अपने तत्व की दार्शनिक रूप से व्याख्या करते हुए जो दृश्य था उसके विरोध में कहा—"नाहम् मनुष्यो नचदेवयक्षो न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रः" और शंकर चकित रह गए थे।

झूँसी का उसके पश्चात् निरन्तर अवसान होता गया और कुछ काल बाद इस्लाम की फौजों ने जो मेरा हाल किया वही उसका किया। तीर्थराज होने के कारण मैं तो फिर भी उठ खड़ा हुआ परन्तु झूँसी फिर न उठी। इतना जरूर है कि इस्लाम के शासनकाल में वह फिर भी महत्व का स्थान समझा जाता रहा और दिल्ली के सुल्तान लगातार

उसे जागीर के रूप में अपने अफ़सरों को देते रहे। अकबर जब पटने से लौटा और गुजरात की बगावत से निश्चिन्त हुआ तब एक बार संगम पर खड़े होकर जो उसने अपने चारों ओर देखा तो स्थान की मनोरमता और आकर्षण से चकित रह गया। उसके मन में हुआ कि राजनीतिक दाँव पेंच के ख्याल से किले के लिए इस संगम से बढ़कर दूसरा स्थान नहीं हो सकता। उसने अपने राज़ बगैर किसी पर जाहिर किए अपने मीर मुंशी से पूछा कि आसपास का इलाका किसके जिम्मे है। मालूम हुआ कि है तो वह कड़ा के अन्तर्गत परन्तु सामने की झूँसी की जागीर एक राजा के जिम्मे है।

अकबर ने राजा को तुरन्त बुला भेजा। राजा ने जब अपना बुलावा सुना तो वह घबरा उठा। उसने सोचा कि अकबर के आने पर जो वह उसके इस्तकबाल के लिए नहीं गया, नजर-भेंट नहीं की इससे शायद वह नाराज हो गया है और अब उसकी खैर नहीं। घबराकर उसने अपने सलाहकार से बचने का उपाय पूछा। सलाहकार गज़ब की सूझ का आदमी था। उसने कहा एक नाव ईंट चूने से भर कर अकबर की नज़र करो, बादशाह की नज़र करो वह खुश हो जाएगा। राजा कुछ झल्ला उठा पर अपने सलाहकार की सलाह पर उसे हमेशा से भरोसा रहा था। नाव में ईंट चूना लाद कर वह संगम में बादशाह के पास जा पहुँचा। बादशाह के सामने जब वह हाजिर हुआ तब उसको इस प्रकार आते देख उसने उसका कारण पूछा। राजा फिर घबराया और उसने कहा कि मैं इस तरह आने को तैयार न था मगर दोष सारा मेरे सलाहकार का है। बादशाह ने उसको अभय प्रदान करते हुए सलाह-कार को झट बुलाने का हुक्म दिया। सलाहकार आया। तब बादशाह ने पूछा, "तुमने मेरे मन की बात कैसे जान ली?" "इसलिए कि अगर बादशाह के संगम पर खड़े होने पर वह बात न सूझती तो मुझे उसकी

अक्ल में शक हो जाता। जहाँपनाह के से विचक्षण बादशाह के मन में यहाँ खड़े होकर मुमकिन न था कि ऐसा न सूझे।" उत्तर मिला। अकबर ने सलाहकार को तत्काल अपना दरबारी बना लिया। वह बीरबल था। बीरबल तबसे मरने तक बराबर अकबर का अभिन्न हृदय मित्र बना रहा। उसकी बादशाह के साथ काफी चुहल होती रही और अन्त में उसी की सेवा में बागी पठानों के खिलाफ लड़ता हुआ राजा बीरबल मरा।

झूँसी में जहाँगीर के शासनकाल में भी राजनीति के कुछ पैंतरे हुए। खुसरू ने इसी स्थान पर पहले अपने उस बगावत के स्वप्न देखे जिसे उसने लाहौर में जाकर चरितार्थ किया। यद्यपि पिता के सामने उसकी एक न चली। सलीम, जिसने खुद अकबर के विरुद्ध झूँसी में विद्रोह के कतरब्योंत किए थे, स्वयं इस समय दिल्ली के तख्त पर था और उसने बेटे को पकड़ कर कैद कर लिया। फिर तो उसे अन्धा करने की जिम्मेदारी जहाँगीर के तीसरे बेटे खुर्रम को मिली और खुर्रम ने उसे ज्योतिहीन करने के साथ ही जीवन से ही विदा कर दिया। इस प्रकार अपने तख्तनशीं होने के राह से पहला काँटा उखाड़ फेंका। और जब परवेज़ को भी उसने किनारे लगा दिया तब वह पिता के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला उठ खड़ा हुआ। उसकी मुठभेड़ बाप से पहले तो पंजाब में हुई, पर जब वह दक्खिन भागा और पूर्व आकर बिहार-बंगाल पर कब्जा कर, पिट कर वह फिर दक्खिन की ओर लौटा तब झूँसी के मैदान में गंगा जमुना के आर-पार शाही फौजों के साथ उसको अनेक घनी चोटें हुईं। उसके तेज और जवाँमर्दी से कुछ वक्त के लिए तो जहाँगीर स्वयं डर गया था और वह डर झूठा भी न निकला क्योंकि कुछ ही दिनों बाद जब जहाँगीर शासन से उदासीन हो चला और खुर्रम ने सरदारों में अपनी साख जमा ली तब वह फिर उधर

पहुँचा और अबकी उसने जहाँगीर, नूरजहाँ दोनों को कैद कर लिया। दिल्ली का तख्त अब उसका था।

आज का इलाहाबाद अकबर का बसाया हुआ है, यह मैं पहले कह चुका हूँ। यह शहर यमुना के किनारे दूर पश्चिम तक बस कर खड़ा हुआ। पूर्व में संगम के पास ही यमुना के पानी को छूता लाल पत्थर का वह विशाल किला खड़ा हुआ जो इधर के मैदानों में अपनी मजबूती और राजनीतिक महत्व के कारण असाधारण था। अकबर ने न केवल यह नगर बसाया वरन् उसने कड़ा से सूबे का केन्द्र हटा कर इलाहाबाद में ही कर दिया। अब इलाहाबाद न केवल एक बड़ा नगर था वरन् बिहार के पश्चिम में दिल्ली सल्तनत का सबसे बड़ा मुकाम। जौनपुर का रुतवा अधिकतर अब उसे मिला।

तैमूर का घराना औरंगजेब के साथ नष्ट हो गया परन्तु नष्ट होते होते एक बार उसने मेरे नगर में हल चला दिया। औरंगजेब जो खुद अपने ईमान और मजहब का असाधारण तपस्वी था, दूसरे धर्मों का कट्टर शत्रु भी था। मेरे नगर को बरबाद करने का उसे विशेष श्रेय है। मेरे अनेक मन्दिर उसने जमींदोज करा दिए और झूँसी का बचा खुचा जीवन भी उसने सदा के लिए नष्ट कर दिया। यद्यपि शुजा की हार औरंगजेब के गद्दी नशीन होने में कुछ कम कारगर न साबित हुई और शुजा को औरंगजेब के बेटे ने मेरे ही नगर के पश्चिमी कोने पर परास्त किया था। शाहशुजा भागा, पहले बिहार, फिर बंगाल और अन्त में अनाम की ओर जहाँ के बर्बरों ने उसे सपरिवार मार डाला।

धीरे धीरे काल के परिवर्तन से मैं कम्पनी के राज में दाखिल हुआ। कम्पनी का राज्य जब पश्चिम में मेरे समीप पहुँचा तब तक उसने दक्खिन और पूरब में अनेक गढ़ जीत लिए थे। अलीवर्दी खाँ के नाती सिराजुद्दौला का प्लासी के युद्ध में नाश कर जब क्लाइव ने

मीरजाफर को बंगाल की गद्दी दी तभी शाहआलम दिल्ली के तख्त पर बैठा। शाहआलम बुजदिल और महत्वाकांक्षी था, पर चूँकि बुज-दिली और महत्वाकांक्षा साथ नहीं रहते उसे कभी अंग्रेजों, कभी मराठों, कभी अवध के नवाबों के हाथ की पुतली बनकर रहना पड़ा। हालत कुछ ऐसी थी कि आज उसने अंग्रेजों से सुलह की, कल मराठों से, परसों जाटों से। अवध के नवाब जो कानूनन दिल्ली सल्तनत के सूबेदार थे धीरे-धीरे काफी मजबूत हो गए थे और जहाँ वे एक ओर रूहेलखण्ड से खिराज़ लेते थे वहाँ दूसरी ओर वे जौनपुर और बनारस तक के शासक थे। मैं भी तब अवध के नवाब के ही अधिकार में था। अवध का नवाब शुजाउद्दौला राजनीति में बेजोड़ था। उसने ठग कर शाहआलम को अपने हाथ में कर लिया, परन्तु इसके साथ ही मीर-कासिम की मदद में जब उसे बक्सर की लड़ाई में हार कर अवध भागना पड़ा तब शाहआलम को भी अपनी दयनीय परिस्थिति का आभास मिला।

शाहआलम आकर मेरे नगर के खुसरोबाग में ठहरा। यह बाग एक जमाने से दिल्ली के सुल्तानों का मेरे नगर में किला बनने के पहले डेरा चला आता था। कितने बादशाहों ने इसमें पनाह ली, कितने सूबेदारों ने इसमें डेरे डाले। असल में अकबर के हिन्दू स्वभाव ने अनेक बार मुझको सँभालने, सँवारने का प्रयत्न किया था और उसके परपोते दारा ने तो उपनिषदों का अनुवाद भी मेरे नगर के पंडितों के ही जिम्मे कर दिया था। दारा अपने समय में दारागञ्ज में तो एक बार ठहरा ही था। इस खुसरोबाग में भी उसने कई रातें बिताई थीं। शाहआलम ने इसी बाग में अपने वे दिन काटे जो कैद से किसी तरह कम न थे और जिनके अन्त में उसे अँग्रेजों को बिहार व बंगाल की दीवानी बख्शनी पड़ी। तब बंगाल का गवर्नर ज़नरल क्लाइव था और मुझे वह समारोह

आज भी याद है जब उसने उस दीवानी की सनद मेरी जमीन पर दिल्ली के बादशाह से हासिल की।

जैसे जैसे कम्पनी का राज बढ़ता गया, जैसे जैसे उसके धन और प्रभाव की वृद्धि होती गयी वैसे ही वैसे उसके अफसरों के दिल में बेइ-मानी घर करती गई। गवर्नर जनरल से कम्पनी के अदने सिपाही तक सब बेइमान थे और सब ने हिन्दुस्तान की नौकरी लूट की उम्मीदों से की थी। आखिर किसी न किसी दिन इस लूट और हड़प की नीति को मुंह की खानी ही थी और जब वह परिस्थिति असह्य हो उठी, और स्वतंत्रता की भावनाओं ने साथ ही भारतीयों के हृदय में घर किया तब देश में, विशेषकर उत्तरी भारत, संयुक्त प्रान्त, बिहार और बंगाल में विद्रोह की वह आग भड़की जिसे सन् ५७ का गदर कहते हैं। गदर का आरंभ मेरठ से हुआ था। आग बढ़ती-बढ़ती अवध और बनारस, आरा तक आ पहुँची। मुमकिन न था कि मैं हाथ पर हाथ धरे बैठा रहता। मैंने भी वही आचरण किया जो और नगरों ने किया था। मैं भी विद्रोही हो उठा।

मेरे किले के अन्दर भी बदअमनी फैली और उसके सैनिकों ने भी आजादी के नारे बुलन्द किए। मेरे नागरिकों ने जेल का फाटक तोड़ दिया और तीन हजार कैदी स्वतन्त्र हो गए। इन्होंने छावनी पर, किले और थाने पर हमला किया और इसमें सन्देह नहीं कि उनकी नजर जहाँ तहाँ मेरे शहर के श्रीमानों पर भी पड़ी। परन्तु मैं बहुत काल तक विद्रोही न रह सका। निरन्तर धार्मिक भावनाओं से कुचले रहने के कारण मैं कभी इस प्रकार के जनआन्दोलनों में भाग न ले सकता था और शीघ्र अंग्रेजों की कुमक आने पर मुझे हथियार डाल देने पड़े। पर इतना जरूर कहूँगा कि यद्यपि गदर के प्रति मेरी उदासीनता ने अधि-कांश में मुझे मारा पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि मुझे विपन्न करने

में नगर के रईसों और इलाके के जमींदारों का हाथ भी कुछ कम न रहा था। जिले की अनेक बड़ी जिम्मेदारियाँ माफी के रूप में जमींदारों को मिलीं। नगर के आज के अनेक रईस अपने उसी देशद्रोहिता से रईस बने।

अंग्रेजों की जीत के बाद मेरा नगर भी कुछ कम तबाह न हुआ। जगह जगह फौजी कचहरियाँ खड़ी हुईं। जगह जगह न्याय के नाम पर लड़ाके फाँसी पाने लगे। चौक के बीच जो कई वृक्ष खड़े हैं उनसे उनके बदले का हाल पूछो। सैकड़ों की तादाद में बलवाई उन पेड़ों से रस्सी से टाँग दिए गए। इस पर व्यंग के रूप में मलका विक्टोरिया की दया का वरदान आया और एल्फ्रेड पार्क में लार्ड कैनिंग ने उसे बड़ी उदारता से पढ़ सुनाया! भारत और साथ ही मैं कम्पनी के शासन से निकल कर पार्लियामेंट की हुकूमत में आए।

जमाना फिर बदला। हिन्दुस्तान ने आजादी का झण्डा फिर उड़ाया और अब मैं भी उसके साथ ही आजाद हूँ। मैंने सदियाँ देखी हैं, धार्मिकों की उदारता, वंचकता देखी है। राजनीतिज्ञों के दाँवपेंच देखे हैं, देशप्रेमियों के बलिदान देखे हैं और आज स्याहबाजारी भी देख रहा हूँ। आजादी के साथ ही आशा थी, इमानदारी और सत्य का सौदा होगा परन्तु जो देख रहा हूँ वह कभी से कुछ कम नहीं। इतना विश्वास है कि यह भी न रहेगा।

उसका अतीत खोलकर रख दिया तब अपनी शुषुप्ता अवस्था में भी कामना हुई कि कोई श्लीमान मुझे भी खोद कर जगा देता और जागकर मैं अपने सदियों के इतिहास को फिर याद कर पाती। सर जान के प्रयास ने मुझे फिर चेतना दी और यद्यपि मेरे दिल और दिमाग सही नहीं मैं फिर भी अपने उस अतीत को चित्रपट गुजरती तसवीरों की तरह मूर्तिमान कर रही हूँ।

संसार के उर्वर देशों ने दुर्द्धर्ष बर्बर जातियों को बराबर आकृष्ट किया है और उसकी उर्वरता ही उसकी नोच खसोट का कारण बन गया। भारत भी इस सिद्धान्त का शिकार बनने से न बच सका। वस्तुतः इस देश पर जितने हमले हुए उतने दुनिया के किसी अन्य भूखंड पर नहीं। और उन हमलों की पहली चोट मुझे सहनी पड़ी क्योंकि मैं भारत का मुख्य सिंहद्वार थी। कार्पेथिया और काहकोफ, खुरासान और तकलामकान, आमू और सीर दरिया और गोबी और चीन की ओर से बर्बर रिसालों की धमक बार बार उठती और मेरे द्वार पर टूटती रही। आर्य और अनार्य, ईरानी और ग्रीक, शक और कुषाण और अन्त में हूण इन्हीं रास्तों से अपने खूनी नेजे लिए मेरे मैदानों में उतरे और एक को भी मैंने बिना जंग किए जाने न दिया। हाँ आम्भी का व्यवहार निश्चय मेरे व्यापार में एक अपवाद है जिसकी याद कर मैं आज भी अपनी इस उजड़ी दुनिया में अपने गौरवमय अवशेषों के बीच खून के आँसू रो लेती हूँ।

जब ऋग्वेद के सूत्र रचे जा रहे थे, जब आर्यों की कुमक पर कुमक इस भूमि को कुचलती जा रही थी, जब इक्ष्वाकों का केन्द्र अयोध्या निरन्तर सूबे पर सूबे जीतती जा रही थी तभी राम के अनुज भरत ने गन्धर्वों की इस भूमि को अपनी धूरी के नीचे पीस दिया। भरत के पुत्रों को पञ्जाब का यह भाग मिला और गन्धर्वों का यह केन्द्र तक्षशिला के नाम से मुखरित हुआ। भरत के पुत्र तक्षशिल ने मेरी नगरी की पहली
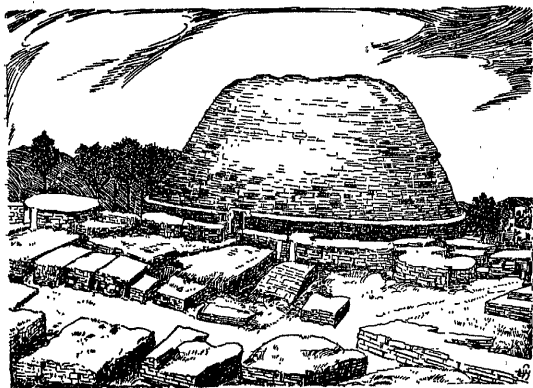
तक्षशिला

कयामत के दिन रूहों के उठने की बात कही जाती है। उसकी सच्चाई अब तक किसी ने न देखी पर आज जो मैं बगैर कयामत के इस बीसवीं सदी में सर जॉन मार्शल की कुदाल से अपनी कब्र से निकल पड़ी हूँ, यह सच है।

मेरा इतिहास ईसा पूर्व उन्नीसवीं सदी से शुरू होकर ईसा पश्चात् छठीं सदी में समाप्त होता है। ढाई हजार वर्षों के इस दौरान में मैं सात बार बसी और उजड़ी और अन्त में छठी सदी ईसवी में जो मैं उजड़ी तो फिर न बसी। ग्रीकों का ट्रौय नगर भी छः बार उजड़ा और बसा था और जब सुलीमान ने उसके स्तर एक के बाद एक उलट कर

नींव डाली और तब से अनवरत उस पर नई परतें जमती-उखड़ती गई।

गन्धर्वों का उत्तर-पश्चिमी भारत के इतिहास के निर्माण में विशेष हाथ रहा है। अनेक बार उन्होंने इस भू-खण्ड का नेतृत्व किया है। अनेक बार मेरे केन्द्र से काबुल और हिन्दूकुश तक की भूमि शासित की है। अनेक बार सिन्धु देश से काश्मीर तक का भू-खण्ड मेरी ओर आदेश और आज्ञा के लिए ताकता रहा है। उन्हीं गन्धर्वों ने रामायण काल में आर्य नेताओं के सामने आसाधारण कठिनाइयाँ उपस्थित कर दी थीं। राघव साम्राज्यवाद के विरुद्ध बगावत का पहला झण्डा इसी देश ने खड़ा किया। इसी देश ने पिछले समय में चन्द्रगुप्त मौर्य के मरते ही आजादी का नारा बुलन्द किया और सुशीम को मेरे नगर से बाहर निकाल दिया। फिर अशोक के बेटे कुणाल के शासन में भी इसने उस साम्राज्य से निकल जाने की कोशिश की जिस पर "देवा नामकीय पियदसी राजा अशोक" का 'पितृवत' शासन था। फिर उसके बिखरते साम्राज्य से अलग होने वाला सूबा भी गान्धारों ही का था। बार बार साम्राज्यों की सत्ता ने इस नगर पर अपना आतंक जमाना चाहा, बार बार इस नगर ने अपनी सीमाओं के अन्दर गणतन्त्र की स्थापना की।

सो गन्धर्वों का क्रियमाण कर्मठ कठोर जीवन अपने अरमानों और स्वतन्त्रता की आकांक्षाओं के साथ जिन्दा राघवों की नजरों में खटका और राम ने भरत के नेतृत्व में अपनी सहत्री चोट की। जिस महामानव ने अयोध्या के आधार से उठकर देश पर देश लाँघ समुद्र पार लंका के त्रिकूट के शिखर पर अपने डेरे डाले थे, उसकी महत्ता के समक्ष इस गरीब देश का मजाल कि क्षण भर ठहर सकता! उसे अपनी स्वतन्त्रता खोनी ही पड़ी और तब भरत के पुत्र तक्षशील ने मेरी नींव में पहले पत्थर डाले।

रामायण काल का इतिहास सुदूर का होने के कारण मेरी बूढ़ी

आँखों से अस्पष्ट दीख पड़ता है। उसके अनेक कालक्रम सर्वथा अंधेरे में पड़ गए हैं और उनको देख पाना मेरी फूटी आँखों की सामर्थ्य के बाहर है। परन्तु महाभारत काल की घटनाएँ अपनी शक्ति और क्रूरता से आज फिर मेरे सामने मूर्तिमान हो आयी हैं। गन्धर्वों का मेरा केन्द्र एक बार फिर सजग हो चला था। राम के पाँच सौ वर्ष बाद ईसा-पूर्व पन्द्रहवीं शताब्दी में फिर मेरे नागरिकों ने इस भू-भाग में अपने शक्ति का साका चलाया और यद्यपि अर्जुन की दिग्विजय ने उनके टखने भी तोड़ दिए थे, निःसन्देह उनके हाथों से अभी कमान न छूटी थी। रघुकुल के नष्ट हो जाने के बाद सदियों मेरे नगर में आजादी के गाने गाए थे। राघव साम्राज्य के टूट जाने के बाद मैंने खुली हवा में साँस ली थी, परन्तु कुरुओं के नए उठते साम्राज्य ने फिर एक बार मेरी आजादी का गला दबा दिया। परन्तु मेरी शक्ति का अनुमान उन्हें था और जब महाभारत का युद्ध छिड़ा तब कौरव-पांडव दोनों पक्षों ने मुझे अपनी ओर से लड़ने के लिए आमन्त्रित किया। मेरे लड़कों ने उस युद्ध में भाग लिया भी परन्तु निःसन्देह वह मेरी लड़ाई न थी, गन्धर्वों की लड़ाई न थी बल्कि साम्राज्यवादी दो कुलों की थी और उनमें से किसी की विजय में मेरी अभिरुचि न थी। अनेक बार चित्ररथ और उसके सहकारियों ने अपने हस्तलाघव से महाभारत के आर्य-वीरों को चकित कर दिया परन्तु अभाग्यवश अन्तिम विजय फिर उनके हाथ रहीं और मेरी नगरी पर उनकी सेनाएँ फिर आ धमकीं।

हस्तिनापुर के इस पारिवारिक युद्ध ने सारे भारत को कुचल डाला। सारे भारत का रक्त इस युद्ध में बहा और कुछ काल तक के लिए यह समृद्ध धरा कंगाल हो गई। रक्त पिपासु दिग्विजय और अश्वमेध द्वारा जन- स्वतंत्रता कुचलने वाले पाण्डवों ने फिर एक बार उत्तर-पश्चिम की ओर रुख किया। इधर मेरी नगरी में एक बार फिर आज़ादी के

लड़ाकों ने ताल ठोकी थी। गन्धर्वों ने अपने पिछले अनुभवों से जाना था कि उनका अकेले साम्राज्यों के विरुद्ध खड़ा होना कठिन ही नहीं, असम्भव है। इस कारण उन्होंने अन्य सीमा प्रान्तीय दुर्द्धर्ष जातियों का एक प्रबल संघ बनाने का निश्चय किया। संघ बना भी और नाग उसमें प्रमुख हुए। गन्धर्वों के इस केन्द्र, मेरी नगरी में जो नागों का प्राबल्य हुआ उसमें मुझे कोई ग्लानि नहीं, कोई लाज नहीं क्योंकि मैं जानती थी कि आजादी की लड़ाई में नागों से अग्रणी कोई नहीं। उन्हीं नागों ने अर्जुन के पौत्र चक्रवर्ती परीक्षित को एक बार जमीन सुँघा दी। परीक्षित तो उनकी चोट से इस धरा से चल बसा परन्तु अर्जुन द्वारा प्रतिष्ठित कुरु वंश के विशाल साम्राज्य पर जो यह कलंक लगा, परीक्षित का बेटा जन्मेजय उसे स्वीकार न कर सका। उसे धोने के लिए वह कटिबद्ध हुआ, साम्राज्य की सारी शक्तियाँ लिए वह तक्षशिला पहुँचा और मेरे ही केन्द्र से उसने दो अश्वमेध किए।

उसके अश्वमेधों का भी एक राज था। काफी अर्से से ब्राह्मण-क्षत्रिय भारत की जमीन पर लड़ते, मिटते और संघर्ष करते आए थे। वशिष्ठ और विश्वामित्र की वह संघर्ष परम्परा परीक्षित के इस बेटे के समय और घनता प्राप्त कर गई। जन्मेजय और उसके पुरोहित तुरकावेषय में जो संघर्ष चला, वह बर्बरता और नीचता की सीमाएँ नहीं जानता। दोनों पक्षों ने किसी साधन को अनुचित या त्याज्य न माना। सदा दोनों निम्नतम, निकृष्टतम साधनों का प्रयोग करते रहे और जन्मेजय के अश्वमेध के ऋत्विज की हैसियत से पुरोहित तुरकावेषय ने जो आचरण किया वह कितना पतित था, यह मेरे कहने की बात नहीं। राजमहिषी और मृतप्राय अश्व की एकत्र कलुषित भावना मनुष्य के मस्तिष्क में प्रवेश कर उसको भी गला देगी। मैं उसका कथन नहीं कर पाऊँगी। बस इतना जानें कि उससे यज्ञ भ्रष्ट हो गया और उसकी

अपावनता से क्षुब्ध जनमेजय के भाइयों उग्रसेन और श्रुतसेन ने साठ हजार ब्राह्मणों को तलवार के घाट उतार दिया। शेष ब्राह्मण निर्वासित हो गए और उसके प्रायश्चित स्वरूप जनमेजय को दूसरा अश्वमेध करना पड़ा। रक्त का प्रायश्चित् रक्त यह आर्यों की बर्बर मेधा ही सोच सकती। रक्त और लूट, दिग्विजय और अश्वमेध के स्वप्नों को चरितार्थ करने वाले इन आर्यों के प्रतिनिधि जनमेजय और तुरकावषेय ने जो मेरी भूमि पर किया, वह मेरी लज्जा की बात न होते हुए भी अकथ्य है।

परन्तु जनमेजय मेरी नगरी में अश्वमेध करने न आया था। उसे गन्धर्वों के गणों में अग्रणी उन नागों का सर्वनाश करना था जिन्होंने उसके पिता परीक्षित का निधन किया था। जिस प्रकार आर्यों के बीच गोमेध और अश्वमेध का प्रचलन था उसी प्रकार उसमें नरमेध की भी रीति थी और वस्तुतः नर संहार तो उनके युद्धों की प्रमुख प्रक्रिया ही थी। जनमेजय भी नरमेध के लिए मेरी नगरी में पड़ा हुआ था। नाग यज्ञ के मनसूबे उसने हस्तिनापुर से ही बाँध रखे थे और अब अश्वमेधों से छुट्टी पा, पास की भूमि पर अश्वमेध के आतंक की छाया डाल, उसने नागयज्ञ का अशुभ आरम्भ किया। एक एक नाग बाल, युवा, वृद्ध, नारी पकड़ पकड़ यज्ञ की प्रज्वलित अग्नि में डाल दी गई। उन आकाशचुम्बी लाल लपटों से कोई नाग न बचा। अगर कोई बचा तो वे नयनाभिराम नारियाँ जिनके विपुल परिमाण ने आर्य राजन्यों और ब्राह्मण पुरोहितों के घरों को प्रसन्न किया। मेरा यह पहला बलिदान था। भारत में उद्धत नगरों की कमी नहीं। उनके गौरवमय कृत्यों की कमी नहीं, उनके बलिदानों की सीमा नहीं। परन्तु जो बलिदान मैंने अपनी नगरी में किए, जिस परिमाण में मैंने अपने बाँके जवानों की आजादी के यज्ञ में आहुति दी, उसका दूसरा दृष्टान्त भारत के तो क्या संसार के किसी देश के इतिहास में नहीं।

महाभारत काल का अन्त हुआ। कुरु साम्राज्यवाद की शृंखला टूटी और पंजाब फिर स्वतंत्र हो, अनेक गण-तन्त्रों में बँट गया। मैं भी आजाद हुई। मैंने भी अपनी नई शक्ति नए सिरे से हासिल की। जिस शक्ति और सीमा को मैंने इस काल स्वायत्त किया, उसकी तुलना पिछले काल में सदियों बाद इटली का वेनिस नगर ही कर सकता है। ऐसा नहीं कि फिर राजतन्त्र की प्रतिष्ठा मेरी धरा पर न हुई हो, पर ऐसा भी नहीं कि स्वतंत्रता-प्रिय मेरे नागरिकों ने निष्क्रिय हो, उसे चुपचाप देखा हो और उसे निगला हो। बार बार मैंने एकतन्त्री शासन की काया पलट की। बार बार उसे उलटकर मैंने जनतन्त्र की स्थापना की। उपनिषद् काल में देश में जब क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के हाथ से सांस्कृतिक और दार्शनिक नेतृत्व छीन लिया, जब अश्वपति कैकेय, प्रवाहण, जैबलि, अजातशत्रु, काशेय और जनक विदेह, कैकेय, पंचाल, काशी और विदेह में अपने परिषदों का वितन्वन करने लगे और आत्मा परमात्मा के चक्कर में उन्होंने अपनी प्रजा के उन्मुख नेताओं को डाल दिया तब मैं चुपचाप इस दिशा से उनको देखती, उनके पेंच के मुहावरे सुनती और मुस्कराती रही। शब्दाडम्बर कितना महनीय हो सकता है, वाग्जाल कितना प्रलोभक और सांस्कृतिक साम्राज्य कितना भयंकर, यह मैं अपने दूर की स्थिति से देख सकती थी। मैं उन केन्द्रों से दूर थी। कैकय यद्यपि मेरा पड़ोसी था, फिर भी मैं उसके कुचक्रों से स्वतंत्र थी और बार बार मैंने यह कहा कि आडम्बर उतनी ही सीमा तक सफल हो सकता है, जितनी सीमा तक वहाँ अनभिज्ञों का प्रभुत्व हो। मेरे नागरिक तर्क सम्मत व्यवस्था के प्रतिपादक थे। वाग्जाल का उन पर प्रभुत्व पाना तो दूर रहा, वे उनका सक्रिय स्पर्श भी न कर सकता थे।

मेरा गणतन्त्र सजग था। पास ही ईरान साम्राज्य समुद्र की तरह लहरा रहा था, जिसने एक ओर चीन और बाख्त्री की सीमाएँ छू ली

थीं, दूसरी ओर भूमध्यसागर और ग्रीस की, परन्तु मैं फिर भी आजाद थी। ऐसा नहीं कि मुझे उस महासाम्राज्य सागर से डर न लगता हो, विशेषकर जब यूनान के नगर एक के बाद एक उसके सामने गिरते गए मैं सजग, सतर्क अपनी सीमाओं पर रक्षा की मशाल लिए बलिदान के सोपानमार्ग पर खड़ा पश्चिम की ओर देखता रहा। उन दिनों यद्यपि मेरे गणतन्त्र की सीमाएँ छोटी थीं परन्तु निश्चय मेरी नगरी की ख्याति विश्वव्यापी थी। विद्या का जो केन्द्र ईसा से सात सौ वर्ष पहले अपने यहाँ स्थापित किया था वह सदियों चलता रहा। ईसा पूर्व छठी सदी में तो मैंने वह ख्याति अर्जित की जो किसी विश्वविद्यालय ने कभी न की, शायद आज भी नहीं। दूर देशों के विद्यार्थी मेरे यहाँ आते, भारत के कोने कोने के और विदेश के। चीन का राजकुमार जब अपनी प्रज्ञाचक्षु लिए संसार के सारे चिकित्सा केन्द्रों में घूम आया, तब मेरे ही कुशल जर्राह ने सफल आपरेशन से उसको दृष्टि दी। मगध के जीवक और कोशल के प्रसेनजित ने मेरे ही विद्यापीठ में अपना ज्ञानार्जन किया था। पाणिनी और चाणक्य ने मेरी ही नगरी में अपने व्याकरण और अर्थ-शास्त्र के सूत्रों के आधार समझे थे। मेरी नगरी विश्व की मेधा थी। और यह मेधा निश्चय जनक विदेह अथवा प्रवाहण जैबलि नहीं सँभाल सकते थे। उसका सृजन आजाद गणतन्त्र द्वारा और उसी ने मेरी धरा पर उसे सम्भव किया था। संसार के तीन महापुरुषों के सहचर अपने अपने काल में मेरी सड़कों पर घूमे थे—बुद्ध के सहचर जीवक और प्रसेनजित, सुकरात और डिओजेनीज का शिष्य ओनेसीक्रीतस और ईसा का शिष्य सेन्ट टौमस। पर इस समय नहीं, उचित प्रसंग में ओनेसी-क्रीतस और सेन्ट टौमस की कथा कहूँगी।

ईरानी साम्राज्य जिसकी ओर अभी अभी संकेत कर चुकी हूँ, आर्यों का था और साम्राज्य प्रकृतितः बुरे और क्रूर होते हैं। फिर यह आर्यों का

था, आधार से ही नृशंस, आरम्भ से ही रक्त पिपासु। अश्व जिनकी शक्ति और राष्ट्र का द्योतक हो धनुष जिनके हस्तलाघव का प्रमाण हो, कुत्ते जिनकी बर्बरता के अभिशाप हों, उन आक्रमण विजेताओं की शक्ति का उपहास मुझे नहीं करना है। मैं केवल इतिहास घटित उनके खूनी पराक्रम के हवाले दूँगी। असुरों का रक्त सम्भार स्वयं कुछ कम न था, सुमेर की सांस्कृतिक सभ्यता पर उन्होंने स्वयं कभी अपना अग्नि भाँड़ उलट दिया था और जब हम्मुराबी के धनुष के टंकार नील से सिन्धु तक सुन पड़ने लगी थी, तब मैं स्वयं दहल उठी थी। परन्तु उन असुरों के विजित पर भी आर्यों की इस ईरानी शाखा ने मरणान्तक चोट की। आसुरी साम्राज्य के ऊपर ईरानी साम्राज्य का वितान तना। साम्राज्य-वाद कभी अपनों-परायों को नहीं सोचता, नहीं समझता। पड़ोसी उसका पहला शत्रु होता है चाहे वह पड़ोसी सगोत्रीय हो, चाहे मित्र। ईरानी आर्यों के सम्राट क्षयार्ष, कुरूष और दारयवौष (दारा) ने जब अपनी सीमाएँ पश्चिम की ओर बढ़ानी शुरू कीं तो डोरियन ग्रीकों के नगराधार हिल गए और उनके अवशेष जिनकी ख्याति, जन बल, स्वातंत्र्य-प्रियता और दार्शनिकता चोटी तक पहुँच चुकी थी, अब उनके सामने क्षण भर खड़े न रह सके। ईरानियों ने आर्य-अनार्य का विचार ताक पर रख दिया और वे उन्हें कुचल बैठे। उनसे छुट्टी पा छठी सदी ईसा पूर्व के मध्य दारा ने अपनी कठोर दृष्टि पूर्व-दक्खिन की ओर भी डाली और मैं तिलमिला उठी।

आखिर एक दिन वही हुआ, जिसका मुझे डर था। ईरानी रिसालों की अटूट पंक्तियाँ हिन्दूकुश लाँघती खैबर की राह मेरे द्वार पर आ खड़ी हुईं। जहाँ तक बन पड़ा, मैंने उनका अवरोध किया। परन्तु कहाँ तो संसार के सब से बड़े साम्राज्य के खूनी साधन और कहाँ मुझ सांस्कृतिक केन्द्र की सीमित शक्ति, मैं उखड़ गई। पंजाब और सिन्ध ईरानी साम्राज्य

की बीसवीं 'क्षत्रपी' (सूबा) में गिने जाने लगे। मेरी नगरी को भी सोने की धूल की एक तौल ईरानी वार्षिक आय के रूप में देनी पड़ती थी। परन्तु साम्राज्य स्वयं जो एक संगठित विरोधाभास है, उससे उसका अपने आप टूट जाना भी स्वाभाविक है और ईरानी साम्राज्य की चूलें भी धीरे-धीरे हिल गईं। इधर उस पकड़ के कमजोर पड़ते ही, मैंने फिर बगावत का झण्डा अपने हाथ में लिया और न केवल मैं आजाद हुई बल्कि साथ ही मैंने सिन्धु को भी आजाद किया।

मानती हूँ, यह आजादी बहुत दिनों कायम न रह सकी। इस अवसर पर इसी प्रसंग में तवारीख नवीसों के लिए भी एक बात कह देनी मुनासिब समझती हूँ और यह बात मेरे इतिहासकार मजाक में न लें इससे मैं उन्हें होशियार किए देती हूँ। कारण यह है कि जो झूठ-सच घटनाएँ वे अपनी सूझ और कल्पना से बनाते रहे हैं, उनको और केवल सच्चाइयों को मैंने खुद देखा और भोगा है, सो मैं कहती हूँ कि एक देशीय इतिहास लिखने वाले इस बात को सर्वथा भूल जायँ कि अपने देश की सीमाओं में घटने वाली घटनाओं को लिखकर वे इतिहास लिखने के श्रेय को अंकगत कर रहे हैं। घटनाएँ आंशिक और प्रादेशिक कम होती हैं, अन्तर्देशिक अधिक। कौन कह सकता था, भला किसे गुमान भी था कि इजियन तक के स्वतंत्र नगर श्रंखला के उत्तर में मकदूनिया के से नितान्त लघु, पहाड़ी और बर्बर भू-खण्ड से जो आँधी उठेगी वह संसार के सारे प्राचीन साम्राज्य आधारों को हिला देगी, उन्हें बेकाबू कर जीत लेगी? कौन जानता था कि वह आँधी बारी-बारी से मिश्र और ईरान पर चोट करेगी और उनके प्रान्त देखते-देखते बिखर जायेंगे? पर हुआ ऐसा ही। फिलिप के उस तपस्वी वंशधर ने जिसने अरस्तू के दर्शन को एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल दिया था, जिसने पिता की प्रसार नीति को क्षुद्र ग्रीक नगरों के सामने जब तक

कुण्ठित होते देख अपने तेवर बदल दिये थे, जिसने मकदूनिया के सीमित साधनों को अपने लिए रख, उसके नवार्जित वैभव को मित्रों में बाँट दिया था, दूरी को असंगत कर साम्राज्यों का अन्त कर दिया। मकदूनिया से निकल मिश्र और सीरिया होता, ईरानी साम्राज्य को अपनी ठोकरों से गिराता, पर्सेपोलिस को अपनी प्रेयसी ताया के इशारे से भस्मसात करता, हिन्दूकुश की ऊँचाइयों को भी एकाएक लाँघ गया। क्षण भर के लिए सीरियक शासक की कन्या रूक्षाना और ईरानी सम्राट की कन्या आर्तकाया के मोह में भूल जब तक उसने आपान के रस लिए तब तक ईरानी रणनेताओं ने भाग कर बाख्त्री को अपना गढ़ बना लिया, परन्तु सिकन्दर लौटा। हिन्दूकुश लाँघ वक्षु के तट पर उसने एक बार प्रलय लीला मचा दी और फिर हिन्दूकुश लाँघ प्राचीन आर्यों के सप्तसिन्धु की पश्चिमी चोटी पर खड़े होकर उसने पूरब की ओर उँगली उठाई। ग्रीकवाहिनी अपने झण्डे के नीचे संसार की लूट और मार के नाम पर दौड़ पड़ने वाली जातियों के भयानक साहसिकों को लिए पूर्व की ओर उस उँगली की सीध में चल पड़ी।

ईरान का टूट जाना कुछ आसान न था। उसकी खबर जादू की तरह दुनिया में फैल गई थी। पंजाब के प्राचीन गणतन्त्र शंकित हो उठे थे। प्राचीन मगध का पाटलिपुत्र दम साधे पश्चिम की ओर रुख किए देख रहा था। मैंने भी दो सदियों बाद ईसा पूर्व चौथी सदी की इस आँधी को झेलने के लिए कमर कसी। परन्तु वह मेरे बस की बात न थी। जन बल मेरा न था। मेरा गणतन्त्र हाल ही में ध्वस्त हो गया था। तक्षशिल ने उसके नेताओं को कुचल कर, एकतन्त्रीय शासन का फिर से आरम्भ किया था और उसका पुत्र आम्भी इस समय मेरा प्रभु था। सिकन्दर आया और मेरे स्वामी ने हथियार डाल दिए। उसके दूतों ने सिन्धु पार जाकर उसका स्वागत किया। पराजित मैं पहले भी

हुई थी, पीछे भी हुई। परन्तु अपनी पराजयों के लिए मुझे कभी ग्लानि न हुई, जो चढ़ता है वही गिरता है, बिना चढ़े कोई क्या गिरेगा। घुटनों के बल चलने वाला निश्चय कभी मैदानेजंग में नहीं गिरता। हार-जीत लड़ाई के दो पहलू हैं, जिनको अंगीकार कर ही लड़ाका मैदान में उतरता है। मैं अपनी हार-जीत से दुःखी या सुखी नहीं हूँ। परन्तु जिस संघर्ष में प्रयत्न का अभाव हो; जहाँ मैदान में उतरने की नौबत आए बग़ैर ही भाग्य का निपटारा हो जाय, वहाँ मैं अपने लिए स्थान न माँगूँगी; इतिहास की पंक्तियों में इस प्रसंग में नाम आने पर मैं भरसक उसे काट भी देने का प्रयत्न करूँगी। परन्तु अभाग्य! वही हुआ जिससे मुझे घृणा थी। राजा तक्षशील का बेटा आम्भी आख़िर वह घिनौना आचरण कर ही बैठा, जिससे मेरे मुँह स्याही पुत गई—एक बार फ़कत एक बार, सिकन्दर आया। अटक के पास ओहिन्द को लाँघ तीन दिन की यात्रा कर वह मेरे नगर में पहुँचा, जहाँ चाँदी और सोने की राशि, भेड़ों और सुन्दर बैलों की अनन्त संख्या, विजेता को प्रदान की गई और जब तक अपनी नारियों और सुवासित शराब के विलास में सिकन्दर मन बहलाता रहा; जब तक ग्रीक सैनिक खेल-कूद में; विश्राम और ग्रीक देवताओं की पूजा में अपना व्यसन करते रहे, आम्भी परदिकस को लिए मेरे चतुर्दिक जनपद को जीतने निकल पड़ा। जब मनुष्य गिरता है तब गिरता ही जाता है। परन्तु सम्भवतः उसका कोई तल होता ही है। पर जब राजा गिरता है जो शायद मनुष्य से इतर है तो उसके पतन का कोई अनुबन्ध नहीं होता; उसे शायद कोई तल नहीं मिलता। आम्भी के लिए इतना बस न था कि वह स्वयं आत्मसमर्पण कर देता वरन् उसने अपने देश को विदेशी झण्डे के छाये में जीतने का भी बीड़ा उठाया। यह राजा द्वारा ही सम्भव था। कुछ ही समय बाद मैंने कठों को मालवों और क्षुद्रकों को शिवियौधेय को पग-पग पर

विदेशी विजेता की राह रोकते देखा। इञ्च-इञ्च की जमीन अपने रक्त से सींचते देखा और मैं तमक उठी कि मुझे इतने का भी श्रेय न मिला। मैं कह रही थी कि राजा जब गिरता है, गिरता ही जाता है। आज यदि मेरा गणतन्त्र जीवित होता तो मैं भी वही करती जो मालव क्षुद्रकों ने किया, कठ, यौधेयों ने किया, पर मेरे ऊपर अंकुश लिए जो आम्भी बैठा था, उसने मेरे अरमानों का गला घोंट दिया। मेरे पाँच हजार चुने जवानों ने आम्भी के नेतृत्व में राजा पौरव को हराने में सिकन्दर की मदद की। राजा पौरव स्वयं उसी राजनीति का शिकार और पोषक था, जिसमें राजा अपने राष्ट्र को व्यक्तिगत रूप से भोगने की वस्तु मानता है और उसने भी वही आचरण किया जो आम्भी ने किया था। कठों के अध्यवसाय ने ग्रीकों को प्रायः जीत लिया था कि पौरव ने अपने चुने जवानों के साथ उन पर आक्रमण कर उन्हें कुचल डाला था।

आँधी आई और गई। मैं यद्यपि कुचल गई थी, पर उस ओर से उदासीन न थी। बुद्धकालीन भारत के गणतन्त्रों में पूर्व की ओर वज्जी लिच्छवियों ने जिस आजादी की रक्षा का भार अपने हाथ में लिया था उसी का रक्षा भार उत्तर-पश्चिम में मैंने लिया था। समय समय पर मेरी छाती पर निःसन्देह राजतन्त्र सवार होता गया, परन्तु फिर भी मैंने उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया जारी रखी और फिर-फिर मैंने उसके विरुद्ध हथियार उठाया। आम्भी का व्यवहार मेरे लिए मेरी अटूट ग्लानि का कारण सिद्ध हुआ और मैं पहले अवसर का ताक में सजग हो बैठी। अवसर मिला, सिकन्दर लौटा और लौटने के पहले उसने मुझको सिन्ध और झेलम के बीच के देश की राजनीति का केन्द्र बना दिया और मेरे राजा आम्भी को उसका रक्षक। तीन वर्ष बाद सिकन्दर के बाबुल में मरने की खबर आई और उस खबर ने केवल मृत्यु का सन्देश

ही नहीं वहन किया बल्कि पंजाब के गण राज्यों में एक नई स्फूर्ति भर दी। पहले से ही सिकन्दर के पीठ फेरते ही विप्लव होने लगे थे। उसके कई क्षत्रपों की हत्या भी पंजाब और उसके समीपवर्ती प्रदेश में हो चुकी थी। परन्तु अब तो ग्रीकों का निष्काशन नये सिरे से शुरू हो गया। इसी बीच, मैंने भी आम्भी और उसके राजकुल को उखाड़ फेंका।

अब मैं फिर गणतन्त्र थी। फिर आजादी का एक नया अंकुर मेरी जमीन में लगा। परन्तु मैं यह साफ बता देना चाहती हूँ कि जितना अपकार विदेशी मेरी राजनीति का न कर सके थे, उतना मेरे स्वदेशी राजाओं ने किया। असल बात तो यह है जैसा कि पहले कह चुकी हूँ, साम्राज्यवाद अपना पराया नहीं देखता। मैं भी, कोई कारण न था कि भारतीय उठते हुए साम्राज्य का प्रिय पात्र बन सकती। चन्द्रगुप्त मौर्य ने मगध में एक नए कुल का आरम्भ किया था। नन्दों के राजकुल को समूल नष्ट कर उसकी गद्दी पर कठोर मानस ब्राह्मण चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को प्रतिष्ठित किया था। चाणक्य अप्रतिम साम्राज्यवादी था और अपने अर्थशास्त्र में उसने एक सर्वथा मारक, विध्वंसक एकछत्र साम्राज्य का प्रणयन किया। उसकी मेधा की दो भुजाएँ थीं, चन्द्रगुप्त के रूप में अनुप्राणित और उनके योग से पाटलिपुत्र में बैठा हुआ ही उसने भारत के प्रान्त के प्रान्त खींच लिए। पंजाब ने उनकी सहायता के लिए धन-जन, साधन सभी कुछ दिए थे। उससे बढ़कर उसने उन्हें मगध साम्राज्य की गद्दी दी थी। परन्तु उसका उन्होंने उल्टा प्रयोग किया। हमारी नेकी का बदला उन्होंने बदी से दिया और एक के बाद एक पश्चिमी भू-खण्ड मगध की बढ़ती सीमाओं में समाते गए। इस काल पंजाब में अनन्त गण-तन्त्रों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। प्रत्येक गण-तन्त्र अपनी सीमाओं में स्वतंत्र और संतुष्ट था। मैं भी अपनी हाल की रुग्णता से लौट कर स्वास्थ्य

लाभ कर रही थी, परन्तु मगध की संहत्री चोट ने मुझे फिर धूल चटा दी।

अन्य गण-तन्त्रों की ही भाँति मैं भी मर्माहत हुई। मैं भी पंजाब के अन्य प्रदेशों के साथ ही, मगध साम्राज्य का एक प्रान्त बनी। मेरी नगरी में उत्तर-पश्चिम का शासन केन्द्र प्रतिष्ठित हुआ। सिकन्दर ने सन्तान न छोड़ी थी। उसका विशाल साम्राज्य उसके मरते ही उसके सेनापतियों में बँट गया। मिश्र तौलेमी ने लिया, सीरिया सेल्यूकस ने और पूर्वी प्रान्तों पर अधिकार के लिए एन्टीगोनस और सेल्यूकस में जंग छिड़ गया। गागामेला के युद्ध के बाद सेल्यूकस अपने स्वामी के जीते भारतीय प्रान्तों की ओर जब बढ़ा तब मुझे ऐसा लगा कि मगध और सीरिया के इस कशमकश में, मैं निश्चय स्वतंत्र हो जाऊँगी। पर स्वतंत्र हो न सकी मैं, क्योंकि सेल्यूकस को यह चढ़ाई महँगी पड़ी और मगध सम्राट ने उसके प्रयास की रीढ़ तोड़ दी। उसके हिन्दूकुश के पूर्व के चारों प्रान्त मगध के हिस्से पड़े और मुझे उनका अभिभावक बनना पड़ा। सीमा प्रान्तीय राजनीति का केन्द्र मै पहले ही हो चुकी थी। अब इन चारों प्रान्तों के शासन का उत्तरदायित्व भी मेरे ही कंधों पर पड़ा।

यह न भूलना चाहिए कि मैं इस समय भारत के एक विशाल भू-खण्ड की स्वामिनी थी। एक समृद्ध प्रदेश की, जिसमें नितान्त सभ्य और असभ्य बर्बर एक साथ बसते थे। सारा पंजाब, सिन्ध, काश्मीर, और अब काबुल-कंधार बलुचिस्तान और हैरात भी मेरे शासन में आ गए। इन पिछले चार सूबों में बसने वाली जातियों पर कभी कोई शासन न कर सका था। उन भयानक जातियों पर अब मुझे शासन करना पड़ा।

मैं समझती हूँ, मेरे पतन का एक विशेष कारण भी था। इसमें सन्देह नहीं, मेरी राजनीति कुछ काल से छिन्न-भिन्न हो गई थी, विशेष-कर सब से अधिक उस पर राजसत्ता का प्रादुर्भाव हुआ था। परन्तु

इसमें भी सन्देह नहीं कि राजनीति सदा सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम हुआ करती है, और मेरा समाज नितान्त कलुषित हो गया था। सिकन्दर ने स्वयं मेरे बाजारों में कंगाल पिताओं द्वारा कन्याओं को बेचते देखा था। मेरे मृत नागरिकों के शव जहाँ तहाँ डाल दिए जाते थे, जिन पर गिद्ध और चीलें मँडराती थीं, बहु विवाह ने नारियों की इज़्ज़त खाक में मिला दी थी। पुरुष का शौर्य अपनी मान रक्षा से हट कर वीर की सेवा में जा लगा था। पहले सैनिक वीर का पार्श्ववर्ती समान अधिकारी था, अब वह उसका अनुचर हुआ। इनके अतिरिक्त अनेक सामाजिक दुर्व्यवस्था मेरे जन-बल को और उससे कहीं बढ़ कर उसकी मानसिक आजादी को खाने लगी थी। यह सम्भव न था कि दुर्व्यवस्था के बावजूद भी मेरी राजनीति पूर्ववत् आजादी की रक्षा में संलग्न रहती है। जो भी हो, आजादी के छिन जाने से मेरा सर्वस्व छिन गया और मैं मगध साम्राज्य की चेरी बन गई।

मैं ऊपर कह आई हूँ कि जिन जातियों का नियंत्रण मेरे जिम्मे पड़ा था, उनका नियंत्रण कुछ आसान न था। जीवन में नियंत्रण में रहना उन्होंने सीखा ही न था। दाँत के बदले दाँत और आँख के बदले आँख—यही सदा से उनकी नीति रही थी और यही नव साम्राज्य के नव विधान नहीं रहने देना चाहते थे। फिर संघर्ष शुरू हो गया और उत्तर-पश्चिमी सीमा पर युसुफजई और काफिरस्तान की संधि पर क्षोभ के काले बादल मँडराने लगे। चन्द्रगुप्त मर चुका था। चाणक्य की राजनीति भी पेच में पड़ गई थी। बिन्दुसार तलवार उठाने में यद्यपि पिता से कुछ कम प्रवीण न था, परन्तु उसमें न तो चन्द्रगुप्त की महत्वाकांक्षा थी और न उसे चाणक्य का मंत्र ही उपलब्ध था। यद्यपि उसने अपने को 'अमित्रघात' कहा, पर वह दरबार सेवी था। सिकन्दर की सेनाओं ने भारत के लिए पश्चिम की

राह खोल दी थी । पश्चिमी राजाओं के साथ राजनीतिक दौत्य संबंध स्थापित हो गया था । बिन्दुसार पश्चिमी राजाओं से अंजीर मदिरा और दार्शनिक माँगता था ! सिकन्दर के साथ जो अनेक दार्शनिक आए थे, उन्होंने मेरी नगरी की सड़कों पर भी दर्शन के कोलाहल सुने और अनेक तर्क से द्रवित हुए । ओनेसीक्रीतस तो सुकरात और डिओजनीज का शिष्य ही था, अफ़लातून का गुरुभाई और उसने भारतीय दार्शनिकों के चमत्कार की बात पश्चिमी विदेशों में फैलाई थी । परन्तु दर्शन इस एकाकी निष्फल दार्शनिक चिन्तन में मेरी आजादी का गला घोंट दिया । उदासीनता इस दार्शनिकता का प्राण है और जो इसका प्राण है, वही राजनीति के लिए भी है । सो यद्यपि मुझे इसकी कम खुशी नहीं कि ओनेसीक्रीतस का सा दार्शनिक मेरी सड़कों पर घूमा, मेरे दार्शनिकों से उसने शास्त्रार्थ किए, विजित और चमत्कृत हुआ, यह बात मुझे कुछ कम नहीं खलती कि इस दार्शनिकता के पुट ने मेरा कभी सर्वस्व छीन लिया था । परन्तु उसी दार्शनिकता को घुन की तरह मगध केन्द्र में लगते लगते देख मैं भीतर ही भीतर कुछ प्रसन्न भी हुई । दूरस्थ प्रान्तों में उदासीन बिंदुसार अपनी पकड़ मुझ पर भी कमजोर कर देगा, इससे आश्वस्त होकर मैं उन दुर्द्धर्ष जातियों की ओर रुख कर बैठी, जिनका बर्बर आजादी के प्रति मोह मुझ अंधे का सहारा हुआ और रुख करना सचमुच व्यर्थ भी सिद्ध न हुआ । तुरन्त विद्रोह की आग भड़की ।

सुसीम मगध के सम्राट का प्रतिनिधि था और वह अपने मंत्रिमंडल के साथ मेरे ही नगरी में निवास करता था । यहीं से वह पंजाब, सीमाप्रान्त, सिन्ध और काश्मीर के प्रदेशों पर शासन करता था । यहीं से वह उन दुर्दान्त जातियों को नियन्त्रित रखता था जो हिन्दूकुश के के साये में उठती गिरती रहती थीं । उन्हीं जातियों ने विद्रोह की आग

भड़काई जो सिन्ध से काश्मीर तक लगातार भड़कती चली गई। मगध की स्थानीय सेनाओं ने सारे प्रयत्न किए। प्रयत्न कर कर वह थक गई, पर विद्रोह शांत न हुआ। कुछ समय के लिए सुसीम और मन्त्रिमण्डल को मेरा नगर छोड़ कर भागना तक पड़ा और साम्राज्य का उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त संकट में पड़ गया। अन्त में लाचार सम्राट बिन्दुसार को उज्जैनी के शासक अपने दूसरे पुत्र अशोक को मेरे दमनार्थ भेजना पड़ा। अशोक अपने पितामह की ही भाँति ही उदात्त और शत्रुनाशक था। उसने झट विद्रोहियों को कुचल डाला। मेरी प्राचीरों के पीछे जो एक नए स्वतंत्र संघ ने जन्म लिया था, जिसकी आजादी की आकांक्षाओं ने पठानों के विद्रोह को शक्ति दी थी, छिन्न-भिन्न हो गया। अशोक कुछ काल तक वहीं जमा रहा फिर जब विद्रोह सर्वथा शांत हो गया, तब वह यहाँ का यथोचित प्रबन्ध कर पाटलिपुत्र लौटा।

किस प्रकार पिता के मरने के बाद भाइयों में संघर्ष छिड़ा, किस प्रकार उनके रक्त से होली खेल अशोक ने सिंहासन की ओर अपने कदम बढ़ाये, किस प्रकार दिग्वजय की कामना से कलिंग को कुचलकर अशोक ने अपने साम्राज्य में मिला लिया, किस प्रकार उसने लाखों का नाश कर अपनी शक्ति का सबूत दिया, किस प्रकार फिर उसकी प्रतिक्रिया के वशीभूत हो उसने बौद्ध धर्म में दीक्षा ली और किस प्रकार देवा नामकीय के पियदसी बन इसने उस धर्म का प्रकार किया, प्रजा की नई सेवा की वह वास्तव में मगध और पाटलिपुत्र की कहानी है, मेरी नहीं और मैं उसे न कहूँगी। इतना जरूर कहूँगी कि यद्यपि उस महान् नृपति में अनेक गुण थे, दया और औदार्य था, परन्तु जहाँ तक स्वतंत्रता की बात थी, उसने भी उस दिशा में कोई प्रयास न किया। जीते जी प्रान्तों के ऊपर उसने अपनी पकड़ ढीली न होने दी और यद्यपि उसके उपदेशों से मुझे कुछ राहत मिली थी। मैंने सोचा था कि सम्भवतः विभिन्न जातियों को वह

आजादी अंश दे परन्तु आस-पास खड़े उसके उपदेश स्तम्भों के बावजूद भी मैंने उस दिशा में कोई गति न देखी और चित्त मार बैठा रहा।

अशोक देवताओं का प्रिय, प्रजा का प्रियदर्शी अशोक निश्चय महान था। पितामह की कठोर राजनीति को बदला भी उसने बहुत कुछ, परन्तु वह स्वयं अन्ततोगत्वा अपनी कमजोरियों का शिकार हो गया। अब भी मैं उसके उत्तर-पश्चिमी सीमान्त की राजधानी थी; अब भी सम्राट का प्रतिनिधि शासक अपने मंत्रिमण्डल के साथ मेरे केन्द्र से इधर के प्रान्तों पर शासन करता था। अशोक ने सम्राट होने के बाद अपने पुत्र कुणाल को मेरे नगर में अपना प्रतिनिधि शासक बनाकर भेजा। कुणाल शिष्ट और सुन्दर था, वीर और आचारवान, परन्तु यही गुण उसके सर्वनाश के भी कारण हुए। वृद्धावस्था में अशोक ने तिष्यरक्षिता से विवाह कर लिया था। तिष्यरक्षिता तरुण थी, सुन्दरी थी, आकर्षक थी, कामुकी थी। उसका घटा सा उठता यौवन राजा के वृद्ध पौरुष पर व्यंग का अट्टहास था। तिष्यरक्षिता को सम्भालना अशोक के लिए सम्भव न था, और अपने काम की अभितृप्ति के साधनों से वह नित्य पाटलिपुत्र के प्रासादों में अपना अभिरंजन करने लगी। मन्त्रणा के लिए आए हुए सौत के बेटे कुणाल को जो उसने प्रासाद में पिता के साथ देखा तो दोनों के असमान सौन्दर्य, विषम पौरुष को देख वह कुणाल पर लट्टू हो गई। कुणाल के खंजन नेत्रों ने उसे अनजाने अपनी ओर खींचा और मनस्विनि तिष्यरक्षिता उसके बाहुपाश में बँध जाने को उद्विग्न हो उठी। कुणाल के औचित्य ने उसे धिक्कार कर ठुकरा दिया, परन्तु गर्विणी चोट खाए नाग की भाँति फुफकार उठी और उसे डसने के अवसर ढूँढ़ने लगी। एक दिन उसने अपनी दुरभि-सन्धि चरितार्थ भी कर ली।...

वृद्ध प्रणय में विवेक की मात्रा कम से कम प्रेयसी के प्रति उत्तरोत्तर कम होती जाती है। अशोक ने उस कल्पित कथा को सत्य माना जो

तिष्यरक्षिता ने कुणाल के विरुद्ध उसके कान में डाली और उसने अपनी मुद्रा उस शासन-पत्र पर अंकित कर दी, जिसमें कुणाल के सौंदर्य के प्राण उसके खंजन नेत्रों को निकाल लेने का आदेश था। मेरी ही नगरी में, मेरे ही प्रासाद में, मेरे देखते ही देखते उस कर्मठ वीर्यवान् आचार-पूत कुमार के नेत्र कोटरों से निकाल लिए गए। तिष्यरक्षिता ने उनको देखा और अभितृप्ति लाभ की।

अशोक के मरते ही साम्राज्य के प्रान्त बिखर चले। फिर मैंने आजादी के सपने सत्य किए और शीघ्र काबुल तक के भू-खण्ड के साथ मैं स्वतंत्र हो गई। फिर मैंने अपनी प्राचीरों के भीतर गणतन्त्र कायम किया। यद्यपि काबुल के राजा की शक्ति का लोहा मुझे जब तब मानना पड़ा। इसी बीच मध्य ऐशिया में स्वतंत्रता की एक नई लहर उठी थी, ईसवीं पूर्व तीसरी सदी के मध्य में। सीरियक साम्राज्य के दो विशाल प्रान्तों पार्थव और बाख्त्री ने सहसा स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी और यद्यपि सीरियक सम्राट पार्थिया और बैक्ट्रिया दोनों पर निरन्तर चोटें करता रहा, उसके खोए हुए प्रान्त फिर साम्राज्य को न लौटे। बाख्त्री में तो वह महीनों अपनी सेना लिए उछल-कूद मचाता रहा, परन्तु यूथिदेमों के सामने उसकी चली एक नहीं। मजबूर होकर उस नए राज-कुल के साथ सन्धि करनी पड़ी और यूथिदेमों के पुत्र कुशल राजनीतिज्ञ दिमित्रिय को उसे अपनी कन्या देनी पड़ी। फिर अपनी हार की झेंप मिटाने के लिए वह हिन्दू-कुश लांघ भारत की ओर चला। भारत का उत्तर-पश्चिमी प्रान्त मेरे केन्द्र के साथ ही मगध से बाहर निकल गया था और अब उसका शासन सुभागसेन नामक एक भारतीय पठान करता था। सुभागसेन आक्रमण को रोक न सका और उसकी सेनाएँ मेरे मैदान में सहसा आ धमकीं। इस देश का सिंहद्वार होने के कारण मुझे विजेता से लोहा लेना पड़ा और मेरी सेनाओं ने जो सिन्धु लांघ सेल्यूकस

के उस वंशधर को अपने शौर्य का सबूत दिया तो उसे उलटे पाँव स्वदेश लौटना पड़ा।

हाँ, बाख्त्री के दिमित्रिय के सामने मेरी एक न चली। मेरे ही मैदानों में उसने भारत जीतने के उपक्रम किए। यहीं उसने अपनी सेना के दो भाग किए। एक उसने अपने जामाता मेनामदर को दे पूरब की राह से पाटलिपुत्र भेजा, दूसरा स्वयं लेकर सिन्ध और राजपुताने की राह मगध की राजधानी में जा धमका। परन्तु वह कहानी पाटलिपुत्र की है, मेरी नहीं। मैं उसे न कहूँगी।

जिस शासन में जनता का हाथ नहीं होता उसकी स्थिति कितनी डावाँ-डोल होती है, इसका प्रमाण बाख्त्री का विपन्न राजकुल ही देगा। दिमित्रिय प्रबल था, महान था, नीतिज्ञ था, प्रजावत्सल और प्रजा-प्रिय था, परन्तु उसके पीठ फिरते ही, उसकी राजधानी में जो घटना घटी वह मेरे वक्तव्य के सत्यता की साक्षी है। दिमित्रिय के प्रिय पात्र युक्रेतिद ने न केवल उसकी गद्दी, राजधानी और राज्य ही हड़प लिया वरन् उसकी रानी भी स्वायत्त कर ली। और अब जब इस गृह वंचकता का सन्देह पा दिमित्रिय पाटलिपुत्र से स्वदेश की ओर वायुवेग से लौटा तब युक्रेतिद मेरे ही नगर में उसकी राह रोकने आ खड़ा हुआ। चुने हुए मुट्ठी भर जवानों से छः महीने तक मेरे ही प्राचीरों के पीछे युक्रेतिद जमा रहा परन्तु दिमित्रिय उसका बाल बाँका न कर सका और उसे अपना प्रयास छोड़ देना पड़ा। सिन्ध और पूर्वी पंजाब का राज्य दिमि-त्रिय और उसके जामाता को मिला। बैक्ट्रिया और पश्चिमी पंजाब का युक्रेतिद और उसके वंशधरों को।

युक्रेतिद के वंशधर—जो वंचकता युक्रेतिद ने अपने स्वामी के विरुद्ध की थी उसका फल उसको हाथों हाथ भोगना पड़ा। उसके पूर्वी शासन की मैं राजधानी थी। दिमित्रिय के कुचक्रों का उत्तर देने के लिए युक्रेतिद

एक बार भारत आया। मेरे महलों में उसने डेरा डाला, पर जब शत्रुओं से प्रचुर प्रतिशोध ले, वह विजयी लौटा तब मेरे ही मैदानों में वह कृत्य हुआ जो इतिहास के पन्नों में अनोखा है। थैलिऔकल्स युक्रेतिद का पुत्र था। उसने पिता को मार कर उसके शव और रक्त पर अपना रथ दौड़ाया और गद्दी हड़प बैठा।

मेरे नगर में अब ग्रीकों का राज्य था। ग्रीकों के कुछ नगर और थे—यूथिदेमो, दत्तामित्रिय, पत्तल और शाकल। परन्तु जो वैभव मुझे मिला वह उनको कभी न मिला। बाख्त्री की राजधानी को छोड़ पूर्व में ग्रीकों का सबसे प्रसिद्ध केन्द्र मैं ही थी। ग्रीक शान्ति के दिनों में निश्चय नितान्त कलाप्रिय जाति थे। व्यायाम, ओजस्वी खेल और शस्त्र संचालन उनको जितने प्रिय थे, उतने ही दार्शनिक चिन्तन और काव्य प्रणयन। मेरी नगरी में उन्होंने अनेक अखाड़े, अनेक खेल के मैदान, अनेक विद्यापीठ और नाटकीय रंगमंच खड़े किए। उनके दार्शनिकों के चिन्तन पर अन्वेषण और विचार विनिमय निरन्तर होने लगे थे। निरन्तर मेरे रंगमंचों पर ग्रीक नाटक खेले जाने लगे थे। होमर की इलियड के गान-अध्ययन से मेरा वातावरण गूंजने लगा था। एटिक सिक्कों से मेरा भंडार भर चला था। ग्रीक स्थापत्य और वास्तु के नए नमूने नित्य मेरे नगर में खड़े होने लगे। नित्य नए मन्दिर और भवनों का विदेशी शैली में निर्माण होने लगा। मैं अब चौथी बार नए सिरे से बस रही थी और मेरा नया रूप उस स्थल पर सँवारा जाने लगा था, जो सदियों भीरटीले के नाम से प्रसिद्ध रहा है। इसी अपने नए आधार से मैं भारत को एक नया सांस्कृतिक जीवन देने लगी। दर्शन और चिन्तन में नया दृष्टिकोण, साहित्य की रचना से नवीन प्रयोग, कला के कक्षण में नवीन अभिप्राय मैंने भारत को दिया।

ग्रीकों का प्रभुत्व राजनीतिक क्षेत्र में कुछ काल तक और प्रबल बना

रहा। यद्यपि बाख्त्री के अनेक प्रदेश अब धीरे धीरे शकों की चोट से उनके हाथ से निकलते जा रहे थे, अन्तलिखित वीर और उदार नृपति था जिसने शकों की बढ़ती शक्ति के विरुद्ध मगध की मैत्री चाही। मगध में काशीपुत्र भागभद्र राज करता था। उसको अपनी ओर करने के लिए उसने अपने राजदूत दयिपुत्र हेलिओदोर को भेजा। हेलिओदोर परम वैष्णव था और उसने सफल दौत्य के बाद बेस नगर में विष्णु का स्तम्भ खड़ा किया। अन्तलिखित स्वयं भागवत धर्म में अभिरुचि रखता था। अन्तलिखित का राज्य विशेष दूर तक न था परन्तु प्रभुता उसकी बड़ी थी और पंजाब में उसका प्रभुत्व प्रायः अप्रतिरथ था। कुछ और काल तक उन ग्रीकों की राजधानी मेरे प्राचीरों के पीछे जीवित रही। परन्तु शीघ्र शकों की चोट ने हरमियस के शासनकाल में न केवल बाख्त्री को वरन् उसके पूर्वी केन्द्र और राजधानी, मुझ तक्षशिला को भी स्वायत्त कर लिया। ग्रीक शासन भारत से उठ गया, यद्यपि उसने जो अपने साँस्कृतिक चिह्न छोड़े, उनकी छाप अनेक दिशाओं में सदियों जीवित रही।

शक आँधी की तरह उठे थे और उन्होंने प्रायः सारे देश पर अपनी शक्ति और क्रूरता की छाया डाली। यद्यपि वे पहले पहल सिन्ध में उतरे थे। सिन्ध में ही उन्होंने अपना वह आधार कायम किया जो विरोधी जनता के बीच द्वीप की भाँति लगा। और फलस्वरूप वह शक द्वीप कहलाया भी, परन्तु उसकी सीमायें वहीं सीमित न रह सकीं और धीरे-धीरे शकों ने अपने अनेक केन्द्र इस देश में स्थापित किये—मथुरा, उज्जैन और महाराष्ट्र और सिन्ध के अतिरिक्त सबसे विशिष्ट मैं, स्वयं तक्षशिला। भारत में शक यद्यपि विजेता थे परन्तु वे अपने को ईरानी सम्राटों के ही प्रतिनिधि मानते थे। इसी कारण इस देश में उन्होंने

केवल क्षत्रय और महाक्षत्रय अथवा प्रान्तीयशासकों की ही उपाधि धारण की।

शकों के आक्रमण ने मेरा एक बार फिर विध्वन्स किया और मैं नए सिरे से सिरकप के चतुर्दिक बसाई गई। महाक्षत्रप राजा मय सिन्ध के मुझ पर शासन करता था और उसने महाक्षत्रप लियक कुसुमलक तथा उसके बेटे क्षत्रप पतिक के अधीन मुझे केन्द्र बना अपने पूर्वी इलाकों पर हुकूमत की। मय के बाद अय ने मुझ पर शासन किया। मेरी प्रभुता फिर एक बार बढ़ चली थी। फिर मैं पंजाब की राजधानी घोषित हो चुकी थी। बात यह है कि मेरा विध्वन्स चाहे कोई भले ही कर दे, वह यदि पंजाब और काबुल पर शासन करना चाहता, काश्मीर और सिन्ध पर यदि वह अपनी हुकूमत कायम रखना चाहता तो यह अवश्य था कि वह मुझे अपना राजनीतिक केन्द्र बनाये। मैं न केवल राजनैतिक दृष्टि से आवश्यक और महत्वपूर्ण थी बल्कि मध्य एशिया से दक्षिण भारत की ओर जाने वाले स्थल के व्यापार मार्ग पर मेरी स्थिति थी। दोनों मार्ग मेरे ही बाजारों में मिलते थे और इसी कारण किसी प्रकार मेरी उपेक्षा नहीं हो सकती थी।

शक विदेशी थे। असभ्य और बर्बर थे। उनका कोई दर्शन नहीं था। कोई सांस्कृतिक जीवन न था। इसी से वे इस देश की जनता में घुल मिल भी गए, परन्तु ऐसा भी नहीं कि उन्होंने अपने चिन्ह भारत की संस्कृति पर न छोड़े हों। मूर्त सूर्य की पूजा उन्होंने ही इस देश में प्रचलित की। पुराणों का कथन है कि शाम्ब ने इस देश में सूर्य का पहला मंदिर सिन्ध में बनाया। परन्तु जब वह मंदिर बन चुका तब आवश्यकता हुई उस देवता के पुजारी ब्राह्मण की और भारत के ब्राह्मण को सूर्य की पूजा का ज्ञान न था। विवश होकर शाम्ब को विदेश से शक ब्राह्मण बुलाने पड़े जो सूर्य की पूजा कर सके। शाम्ब का सिन्ध में

ही सूर्य का मंदिर बनवाना और पूजा के निमित्त ब्राह्मण न पा सकने पर शक पुरोहित बुलाना एक राज़ रखता है जिसे पुराणों के पढ़ने वाले आज के भारतीय न समझ सकेंगे। पर जब पुराणकार उस सत्य की लीपा पोती कर रहा था, तब मैं मन ही मन मुस्कुरा रही थी क्योंकि वह रहस्य मेरा जाना था। शकद्वीप के ब्राह्मण जो आज तक देशी ब्राह्मणों में न मिल सके, जिनका छुआ जल तक पुराण पन्थी ब्राह्मण नहीं पीता, उन्होंने न केवल अपने म्लेच्छत्व से भारतीय ब्राह्मणों का विरोध किया बल्कि उनके व्यापार में भी उनकी रोजी तक में उन्होंने हिस्सा बटाया और रोजी में हिस्सा बटाने वालों के साथ कभी किसी देश में किसी ने भाईचारा न निभाया। उनके प्रति देशी ब्राह्मणों का अस्पृश्य आचरण निश्चय उसी नव विधान का प्रमाण है। साथ ही यह भी अर्थ रखता है कि सूर्य की प्राचीन भारतीय मूर्तियाँ अपनी वेशभूषा में सर्वथा अभारतीय हैं। सिर पर उनके पगड़ी है, बदन में लम्बा चोंगा, कमर में तलवार और पैरों में घुटनों तक ऊँचे बूट और बगल में कटार जो अधिकतर शक और कुपाण सैनिक का वेष था। इस वेषभूषा में सूर्य को पूजते हुए भारतीयों ने कभी आपत्ति न की।

शकों के बाद धीरे-धीरे मेरी हस्ती फिर मिट चली और एक अल्पायु शक्ति ने आकर मेरे प्रासादों में डेरा डाला वह शक्ति पह्लवों की थी। छोटे मोटे अनेक राजा मेरी धरा पर राज करते रहे, परन्तु नितान्त अशक्य होने के कारण उनकी स्मृति मुझे मिट चुकी है। हाँ, उनके प्रबलतम नरेश गोन्दोफर की याद मुझे निश्चय बनी है।

इस याद का एक कारण और है। इस काल हाल ही जेरूसलेम में वह दर्यांद्र तेज उत्पन्न हुआ था, जिसने घर-घर गरीबों की शक्ति की चेतना जगाई। उनमें उसने नये प्राण फूँके और वह उचित ही मसीहा कहलाने लगा। वह ईसा था, जिसके बनाये मार्ग पर चलने का कम

से कम सारा योरोप और अमेरिका दम भरते हैं। श्रीमानों के वैभव को उत्पन्न करने वाली और उनकी समृद्धि की पाया दरिद्र जनता उनके भार से पीसी जा रही थी, जब इस महात्मा ने झूठे देवताओं और श्रीमानों के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई। श्रीमानों के सम्बन्ध में उसने कहा कि जितनी सम्भावना ऊँट को सुई की नोक से निकल जाने की है उतनी ही सम्भावना श्रीमानों को बिहिश्त के राज्य में प्रवेश पाने की है। बिहिश्त का राज्य तो केवल गरीबों के लिए है। इस पृथ्वी पर ही उस राज्य का विस्तार होगा जब स्वयं खुदा का बेटा ईसा इस दुनिया के राज्य पर शासन करेगा। इसलिए जन-जन में प्रेम हो, दया और सौहार्द का प्रचार हो। काश। बिहिश्त के उस भावी राज्य की आशा न दिला कर उस महात्मा ने इस धरा पर ही परिस्थिति बदलने का प्रयत्न किया होता! जो भी हो अत्यन्त प्रेम और निर्भीकता से उसने अपने नए साम्राज्य की घोषणा की, नई चेतना का प्रचार किया, और फलस्वरूप वह सूली पर चढ़ा दिया गया। मरते दम उसने प्रार्थना की—"खुदा इन्हें क्षमा कर, यह अज्ञानी हैं।" अहिंसा और प्रेम का दूसरा प्रचारक उस देश के इतिहास में कभी न सुना गया था और उसके मरते ही अनेक शिष्य उसके संदेश लेकर विदेशों को चल पड़े थे।

इन्हीं धर्म प्रतिनिधियों में सन्त टौमस भी था जो उस संदेश को लिये दरिद्रों में उसका प्रचार करता, उन्हें भावी बिहिश्त के राज्य की आशा दिलाता, श्रीमानों को कोसता, धिक्कारता, गोन्दोफर की राजधानी मेरे नगर में पहुँचा। गोन्दोफर उसकी तेजस्विता और बचन की अटूट शृंखला से सर्वथा मुग्ध हो गया। संत टौमस का मेरी सड़कों पर अपने नये धर्म की घोषणा करते मैं आज भी जैसे सुन रही हूँ। राजा से उसने कहा-राजन् मुझे लाख रुपये दो, मैं तुम्हारे लिये महल बनवाऊँगा। राजा ने उसे लाख रुपये दिये उसने उन्हें गरीबों को बाँट दिया। राजा

ने उससे कुछ दिन बाद पूछा कहाँ है तुम्हारा बनाया मेरा वह अनुपम महल। संत ने कहा बिहिश्त में जहाँ निश्चय तुम्हें सद्गति मिलेगी और उस प्रासाद में तुम्हारा निवास होगा जिसके पाये दरिद्रों के उस आशीर्वाद पर खड़े हैं जो उन्होंने मेरे धन वितरण पर दिये थे।

गोन्दोफर चकित रह गया था। उसे धन का इस प्रकार फेंकना उपयुक्त किसी प्रकार न जँचा था और उसने उस महामना संत को कारागार में डलवा दिया था परन्तु निश्चय स्वयं उसका वैभव चिरकालित न हो सका। शीघ्र कुषाणों की बढ़ती हुई सीमाओं ने उसको आप्लावित कर लिया और मैं एक नये मार काट की आवाज अपनी प्राचीरों के आर पार सुनने लगी। नये सिरे से चोटें मेरी टूटी हड्डियों पर टूटने लगी। नये सिरे के पुरुष ऊँचे तगड़े दानव से मेरी धरा पर उतर आये। सिर पर कुलह और पगड़ी, बदन में चोंगा, कमर में तलवार, पैरों में ऊँचे घुटनों तक जूते पहने, ये मल्लधारी जीव न पहले देखे गये थे न सुने।

ये ऋषीक थे, जिन्हें इतिहासकारों ने यूइची संज्ञा प्रदान की है। ऋषीकों ने पश्चिमी चीन से उठकर मध्य एशिया होते बाख्त्री में डेरा डाला था। वक्षु नद के उस तीर पर जहाँ पहले कभी ग्रीकों का निवास था, फिर शकों का और अब उस आधार से उठकर अपने पंचजनों को एकत्र कर केदार कुषाणों के नेतृत्व में वे काबुल जीत सिन्धु लाँघ आये थे। उनके नेता कुजुल ने पहले काबुल पर अधिकार किया फिर मुझ पर। मेरे सारे आधार बन्द कुछ काल के लिये छिन्न-भिन्न हो गये। मेरी सारी ग्रीक संस्कृति तार-तार बिखर पड़ी। मेरी बस्ती फिर वीरान हुई परन्तु वीम के उत्तराधिकारी कनिष्क ने फिर मुझे जीवनदान दिया। और सिरसुख के चतुर्दिक एक बार फिर मैं नये अलंकारों से सज कर खड़ी हुई।

कनिष्क ने अपनी राजधानी पुष्करावती में रखी आधुनिक चारसद्दा में परंतु मेरे गौरव की रीति की भी कुछ अवमानता न हुई और कनिष्क निरन्तर अपने नये जीते वैभव से मेरा मण्डन करता रहा। मुझे आज भी याद है कि पाटलिपुत्र से छीन कर लाये प्रख्यात बौद्ध दार्शनिक और काव्यकार अश्वघोष ने पहले मेरे ही नगर में डेरा डाला था। मेरे ही नगर में उसने अपने अनेक प्रवचन किये थे। साथ ही पार्श्व और वसुमित्र ने भी। चरव्य ने भी इसी समम अपनी रसायनशाला मेरे ही नगर में कायय की थी। नागार्जुन ने यहीं अपने नवीन सम्प्रदाय महायान के प्रवचन किये थे और जब काश्मीर के चौथे महासंघ का अधिवेशन समाप्त हुआ, तब यहीं वहाँ के जगत विख्यात दार्शनिकों का समारोह हुआ। उस नई धार्मिक चेतना से आश्वस्त होकर कनिष्क ने अपने उत्साह का प्रमाण इसी नगर में अशोक द्वारा बनवाये। धर्मराजिक स्तूप की भग्न स्थिति को सुदृढ़ कराई।

मैं कनिष्क के औदार्य, उसके पौरुष अथवा विजयों की बात विशेष न कहूँगी। अब मैं केवल उस नई सँस्कृति की बात कहूँगी, जिसका विस्तार कनिष्क ने किया। यद्यपि जिसका आरम्भ कुषाणों की मेधा के परे था। भारत का आज का राष्ट्रीय वेश, अचकन और पाजामा—कुषाणों का ही दिया हुआ है। उनका चोगा मुगलों ने शेरवानी के रूप में संभाला जिसे अवध के नवाब ने आज की अचकन बनाया उन्हीं का सलवार ढीला और चुस्त पाजामा बनाए और ग्रीको का ट्यूनिक भारतीयों का कुर्ता।

परन्तु इस दिशा में इससे कहीं विशिष्ट बात कला संबंध की है। मूर्तिकला की, जिसमे ग्रीकों के सम्पर्क ने नए प्राण फूँके थे, एक नई शैली चलाई थी। जिस शैली का विस्तार विशेषतः कुषाणों ने किया। इस ग्रीक शैली को भारतीय कला में गन्धार संज्ञा दी गई। गन्धार शैली

का केन्द्र मैं ही थी। मेरे ही आधार से उठ उठ कर सैकड़ों कलाविज्ञ और आचार्य देश के इतर प्रान्तों में बिखरे, पेशावर और काबुल शाकल और मथुरा सर्वत्र। ग्रीकों का सम्पर्क पंजाब से और विशेषकार मेरी नगरी से प्रायः दो सौ वर्ष रहा था और उनकी सेवा में मेरे दरबार में एक से एक कला कुशल ग्रीक के नगरों से आकर संरक्षित हुए थे। अपनी कला के माप उन्होंने भारतीय अभिप्रायों में रखे थे। भारतीय मूर्तियों में अपनी शैली का उन्होंने मूर्तन किया था। अनेक बार भारतीय दार्शनिकों की मूर्ति बनाते अपनी अभिसृष्ट काया में वे सुकरात और अरस्तू का आकार कोरते, दाढ़ी और परिवेष्ठन विशेष प्रकार से उन मूर्तियों पर तक्षित होते।

जिस नागार्जुन ने हीनयान व्यापी बौद्ध धर्म की कठोर प्रवृति में महायान की एक नवीन भक्तिधारा का उदघोष किया था, उसी ने बुद्ध के मूर्ति निर्माण की बात भी चलाई थी। बुद्ध का कला में प्रदर्शन तब तक केवल उनके उष्णीश धर्म-चक्र, छत्र पद, बोधिवृक्ष आदि के लक्षणों से किया जाता था। परन्तु अब साक्षात मूर्ति का कला क्षेत्र में अवतरण हुआ और बुद्ध की पहली मूर्ति मेरे ही नगर में कोरी गई, यह मेरे लिए कुछ कम गर्व की बात नहीं। फिर धीरे धीरे कुषाणों के ही मध्य काल में बल्कि कनिष्क के ही शासन काल में गान्धार शैली का एक पूर्वी केन्द्र मथुरा में भी प्रतिष्ठित हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि उसी आधार से गान्धार शैलीं में जन्मे ग्रीक लक्षणों का भारतीयकरण भी आरम्भ हुआ जो गुप्त काल तक सर्वथा स्वदेशी कर लिया गया। परन्तु मेरी शैली बहुत काल तक भारत में चलती रही और किसी न किसी रूप में वह जब तब विकसित होतीं रहीं।

यूँ तो भारतीय संस्कृति में मैंने अनेक विदेशी क्षणों और प्रक्रियाओं को बहा कर संस्कृति का बहुस्त्रोतिक रूप दिया। जितना भी सांस्कृतिक

मिश्रण भारतीय संस्कृति में हुआ है अधिकतर उसकी धाराएँ मेरे ही आधार में मिलीं। मैं तब की दुनिया में संस्कृतियों का अभूतपूर्व संगम थी।

कुषाणों का साम्राज्य पूर्व में काशी तक जा पहुँचा था। परन्तु वाकटकों और विशेषकर नागों की चोट से उसे पीछे हटना पड़ा। यूँ तो पाटलिपुत्र की चोट मेरी सर्वथा अनजानी न थी पुष्यमित्र शुंग के पौत्र वसुमित्र ने ग्रीकों को देश से निकालते हुये सिन्धु तट के अपने महासमर के पहले मेरे ही नगर में डेरा डाला था। परंतु उधर से मेरा विशेष पराभव गुप्तों द्वारा हुआ। समुद्रगुप्त के काफी पहले जब कुशाणों को पंजाब से भाग काबुल में शरण लेनी पड़ी थी तभी मैं एक बार फिर स्वतंत्र हो गई थी। परंतु समुद्रगुप्त के सामने मुझे भी झुकना पड़ा। समुद्रगुप्त अपने प्रतिद्वन्दी की रूह कभी बर्दाश्त न कर सकता था और उसकी दिग्विजय के सम्बन्ध में मैंने अनेक राज्यों का मूलोच्छन सुना था। पंजाब के अनेक गण राजाओं ने चुप चाप उसकी महत्ता स्वीकार कर ली थी। दूर के शक मुरण्डों ने भी उसे भेंट भेजे थे। मैंने भी चुपचाप उसके सामने सिर झुका दिया। परन्तु मेरा विशेष पराभव उसके पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने किया। शकों को मालवा से निकाल उसने शकारि विरुद धारण किया था और बंगाल के शत्रुसंघ को तोड़ जब वह वायुवेग से पंजाब के नदों को लांघता कोजक अरमान पहाड़ों की छाया से निकल ईरानियों की द्राक्षावलय से लदी दक्षिण-पूर्वी भूमि को रौंदता पामीरी पठार के वक्षु नद के तीर जा खड़ा हुआ तब मैं स्तम्भित रह गई। इतने लम्बे भू-प्रसार पर इतने लम्बे डग भरते किसी विजेता को मैंने न देखा था। चन्द्रगुप्त की तलवार मुझ पर भी पड़ी और जैसे पंजाब के गणतन्त्र नष्ट हुये मैं भी विनष्ट हो गई। परन्तु मैं औरों की भाँति मिट्टी में देर तक पड़ी न रह सकी। चन्द्रगुप्त के लौटते ही मैंने

फिर एक बार अपनी शक्ति अर्जित की। फिर मैं उत्तरापथ के राजमार्ग की प्रहरी बनी।

परन्तु अब मेरा अवसान और विनाश क्रमशः पास आते जा रहे थे। आगे जो चोट पड़ने वाली थी उसने सदा के लिये मुझको भूमिसात कर दिया। चीन के उत्तर-पश्चिम में काँसु नामक एक प्रान्त है जहाँ कभी हिंगनू नाम की वह भयंकर जाति रहती थी जो पश्चात् काल में हूण नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुई। नंगे, बिकराल, बर्बर, हूण रक्त और लूट में मजा लेते थे। लहू और आग उनका साद्य करती थीं। वे ही हूण अकाल के समय जो अपने आधार से बिचले तो पड़ोसी ऋषकों पर जा टूटे। ऋषीक जो अपने स्थान से बिखरे तो शकों से जा कटराये और शकों ने स्वयं अपना दजला और फरात का काँठा छोड़ बाख्त्री और हिन्दुस्तान की राह ली। हूणों ने न जाना कि उनकी गति ने कितना दूरव्यापी संकट डाला है। उनके कबीले के कबीले आग लगाते, गाँव के गाँव जलाते, सड़कें लाशों से पाटते जिस दिशा में निकल पड़ते उधर हाहाकार मच जाता। उनके नेता अत्तिला ने जो योरोप की ओर रुख किया तो रोम साम्राज्य की कमर टूट गई और वह फिर दूसरी बार खड़ा न हुआ। उन्हीं हूणों की एक धारा भारत की ओर भी मुड़ी। तब मगध में स्कन्दगुप्त का शासन था। भारतीय सीमा प्रान्त यद्यपि उसका न था परन्तु अनागत भूत की आशंका से सुदृढ़ होकर वह भागा-भागा मेरे नगर में पहुँचा और हूणों के बढ़ते हुये घोड़ों की बाग उसने सहसा रोक ली।

उस काल तो निश्चय हूणों की गति कुछ वर्षों के लिये रुक गई परन्तु उनकी बाढ़ की धारा एक न थीं, अनेक थीं और धीरे-धीरे सारा उत्तर भारत उनके पदों से अक्रान्त हो गया। स्वयं स्कन्दगुप्त उनके साथ लड़ता हुआ जूझ गया परन्तु उसका तप और दृढ़ता स्वदेश की

उनसे रक्षा न कर सकी। और जब इतना बड़ा राष्ट्र उस महाप्रलयंकारी धारा को न रोक सका तो मेरी क्या बिसात थी। धीरे-धीरे काबुल और पंजाब, मथुरा और मध्यदेश, गुजरात और मालवा खुत्तन और काश्मीर हूणों के राज्य में हो गये। चौदह हजार ऊँची बर्फीली चोटियों को लाँघते ये बित्ते भर के जवान जो मैदानों में उतर आते तो पठान और पंजाबी डर से उनका पानी भरते।

मैं भी उनके सामने खड़ी न रह सकी और लड़खड़ा कर जो अब की गिरी तो फिर न उठ सकी। वह प्रायः पाँच सौ ईसवी की बात है आज से करीब डेढ़ हजार वर्ष पहले। फिर तो जो खोई तो भूमि में ऐसी समाई, ऐसी सोई कि इन डेढ़ हजार वर्षों तक किसी ने मुझे न जाना, मेरे अवशिष्ट की समाधिस्वरूप टीलों पर गाँव बसे। सेनाओं ने इस्लाम का झंडा लिये अनेक बार कूच किया पर उन्होंने न जाना कि इन टीलों के नीचे मेरी प्राचीन विभूतियाँ सोई हैं। चौदह सौ वर्ष बाद अब मेरी नींद खुली है परन्तु जोड़-जोड़ अलग हैं प्राण बिखर गये हैं। जो देखा था, वह अब नहीं, जो अब है, वह तब न था।
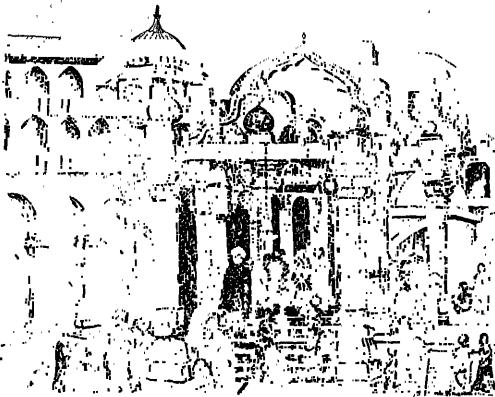
मथुरा

भारत के सात नगरों में मेरा भी नाम है। मैंने भी उन्हीं की भाँति अनेक उथल पुथल देखी हैं। मेरा प्राचीन नाम मधुरा था पर किसने उसे दिया या किस प्रकार और कब वह नाम बदल कर मथुरा हो गया मैं नहीं कह सकती। इतना निश्चय है कि मैं भारत के उन थोड़े नगरों में से हूँ जिन्हें आर्यों ने नहीं बसाया और जो उनकी विजय से पहले ही बस चुके थे। उनसे बहुत पहले यमुना के मनोरम तट पर मेरी नींव पड़ चुकी थी और जिसे पिछले दिनों में शूरसेन कहने लगे थे, उस देश की मैं कब से स्वामिनी हो चुकी थी।

अनेक बार मेरे मैदानों में आर्यों ने मेरे निवासियों से युद्ध किया

और उन्होंने भी मुझे उसी प्रकार लूटा और अपमानित किया जिस प्रकार हूणों और गजनी के सुल्तान ने लूटा। पिछले काल तक मेरी जनता के प्रिय और अधीश्वर कृष्ण ने आर्यों से लोहा लिया था परन्तु जैसा देश के और नगरों के साथ हुआ, मेरे साथ भी वैसा ही हुआ और धीरे धीरे मैं विजित हो गई। ऋगुवैदिक आर्यों के यदुओं ने पहले पहल मेरी नगरी और प्रदेश में पहले आर्य आवास स्थापित किए। यदुओं के यहाँ बस जाने के बाद लगातार आर्यों की आबादी बढ़ती गई। यदु उत्तरकाल में यादव कहलाए और उन्होंने ही सदियों मेरा इतिहास निर्मित किया। उनकी अनेक शाखाएँ इस देश में फूली फलीं। उन्हीं की एक शाखा शूरसेन भी थी जिसने मेरे प्रान्तों को अपना नाम दिया। रामायणकाल में उसी कुल के राजा ने सीता के स्वयंबर में भाग लिया यद्यपि राम के छोटे भाई शत्रुघ्न को मेरे आदिम निवासियों के विरुद्ध भी बार बार लड़ना पड़ा। महाभारतकाल में अन्धकवृष्णियों के कुल तथा संघ यहाँ स्थापित हो चुके थे, यद्यपि तभी उन्होंने काठियावाड़ में अपने नए उपनिवेश बनाए और कृष्ण ने वहाँ द्वारका बसाई।

प्राचीन इतिहास मुझे स्मरण नहीं, मेरा जाना भी नहीं क्योंकि सदियों का धुँआ उसे अपने अंधकार में छिपाए हुए है पर कुछ न कुछ उसकी याद आती ही है और जो कुछ याद आता है वह अब मैं कह रही हूँ। शूरसेनों का एक राजकुल कुछ काल से मेरी नगरी में तब प्रतिष्ठित हो चुका था, जब उसने मेरे आस पास के गाँवों में बसनेवाले अनार्य गोपों के साथ अपना विवाह सम्बन्ध स्थापित किया। उन गोपों का भी अपना एक इतिहास था, अपने उत्कर्ष की कुछ चोटियाँ थीं, अपने नायक थे। उन नायकों में सबसे प्रबल कृष्ण हुआ, वासुदेव कृष्ण जो गोपनन्दन का पुत्र था और जो रोमांचक ललित कथाओं का नायक है। इतना मैं आरम्भ में ही कह देना चाहती हूँ और वह कुछ

सुनी हुई नहीं अपनी देखी हुई बात है कि ब्रज के गोपों में विवाह संबंध कुछ स्थाई न थे। उनका वह संबन्ध वास्तव में कमजोर और क्षणिक था जिससे वैवाहिक कमजोरियाँ भी उनमें कुछ कम न थीं। जीवन उनका उदात्त और स्वस्थ निश्चय था परन्तु उनके नर नारियों को विशेषकर तरुण गोप गोपियों को मेरे जंगल और मैदान बड़े प्रिय थे और एक बार जब वे उधर निकल गए तब विवाह की कृत्रिम श्रृंखलायें उनको शायद ही कभी रोक सकीं। वासुदेव कृष्ण ने जो लावण्य, शक्ति और नीति में अद्वितीय था इस रुचिकर जीवन को और बढ़ावा दिया।

अपने जनप्रिय जीवन के कारण ही वह शूरसेनों के माथुर राजकुल का अप्रिय हो चुका था क्योंकि देश की जनता उसकी थी, उग्रसेन के बेटे क्रूरकर्मी कंस की नहीं। जब दोनों का मनोमालिन्य पराकाष्ठा को पहुँच गया तब कंस ने कृष्ण को धोखे से मरवा देना चाहा परन्तु पासा उलटा पड़ा और कृष्ण द्वारा वह स्वयं मारा गया। उसका वध राजकुलों के लिए खतरे की झंडी थी और वह भी ऐसे नेता द्वारा जिसका कुल अक्षत्रिय और अज्ञात था। कंस मगध के विक्रान्त सम्राट जरासन्ध का दामाद था और उसके वध की खबर सुन जरासन्ध अपनी विशाल सेना लिए मेरी नगरी पर चढ़ आया। मेरी स्थिति अराजक हो गई थी और मुझ पर अनेक प्रकार चोटें पड़ने लगी थीं और अब यह चोट तो कुछ ऐसी थी जिसे सँभाल सकना सम्भव न था। कृष्ण जनप्रिय अवश्य था परन्तु जनता को वह संगठित न कर सका और जरासन्ध के सामने ब्रज छोड़ उसे देश की पश्चिम सीमा पर समुद्र के किनारे सौराष्ट्र भागना पड़ा वहाँ उसने द्वारका नगरी बसाई, परन्तु अपने इस संघर्ष से कृष्ण ने जान लिया कि आर्य संस्कृति से वह लोहा तभी ले सकेगा और उसकी पैठ क्षत्रियों के गढ़ में तभी हो सकेगी जब वह स्वयं अपने को क्षत्रिय सिद्ध कर दे। उसकी एक महत्वाकांक्षा थी, वह यह कि वह

देश में आर्यों अनार्यों दोनों द्वारा देवता की भाँति पूजा जाय। उस समय के संसार के इतिहास में निश्चय ऐसी महत्वाकांक्षा कुछ अजब न थी। असुरों में हम्मुराबी, मिश्रियों में रामसेज़ आदि की महत्वाकांक्षा कुछ इसी प्रकार की रही थी और उन्होंने अपने विजित किए मन्दिरों में देवमूर्तियों को हटा कर अपनी मूर्तियाँ पधराई थीं। कृष्ण भी कुछ ऐसा ही चाहता था यद्यपि यह कुछ आसान न था क्योंकि इसके न केवल शस्त्रधर क्षत्रिय ही बाधक थे वरन् नीति के पंडित ब्राह्मण भी महान अवरोध थे। कृष्ण की महत्वाकांक्षा के सफल होने का अर्थ था ब्राह्मण देवताओं का अन्त, उनके यज्ञ, हवनों का अन्त, उनकी दक्षिणा रोजी का अन्त। पर कृष्ण भी कुछ साधारण साधनों का पुरुष न था। उसकी मेधा में बृहस्पति को निरुत्तर कर देने की शक्ति थी और उसने ब्राह्मणों के देवता इन्द्र तक को देश की विश्वास परम्परा से उखाड़ फेंकने का निश्चय किया।

क्षत्रियों की अनबन उसकी सफलता में बाधक होगी, यह सोचकर उसने नीति का सहारा लिया। पहले उसने क्षत्रिय बनना निश्चित किया। क्षत्रिय बनना कुछ आसान न था विशेषकर इसलिए कि वह मेरे नगर के क्षत्रिय राजकुल के साथ अपने एक दूर के सम्बन्ध के अतिरिक्त कुछ और न दिखा सकता था, पर इससे निरुत्साहित न होकर उसने नए राजकुलों से संबन्ध जोड़ने का दृढ़ निश्चय कर लिया। तब दो राजकुल भारत में विशिष्ट थे, जिनके साथ विवाह संबन्ध भाग्य और गौरव की बात समझी जाती थी। उनमें से एक विदर्भ का राजकुल था, जहाँ प्राचीन काल में विवाह कर राम के पितामह अज ने अपने को धन्य माना था, दूसरा वह कुरुकुल जो भारत के तत्कालीन राजवंशों का चूड़ामणि था। कृष्ण ने विद्युत गति से काम किया। लोग उसके अक्षत्रिय कुल और अक्षत्रिय कार्यों पर उँगली उठाते थे। उसने उस

क्षत्रिय और विशेषतः क्षत्रिय कृत्य को सम्पन्न किया जो उस प्राचीन काल में भी प्रायः असाधारण समझा जाने लगा था। विदर्भ की राजकुमारी चेदि शिशुपाल को ब्याही जाने वाली थी, कृष्ण ने वहाँ अचानक पहुँच बलपूर्वक हर लिया और उसे ब्याह उस कुल से अपना संबन्ध स्थापित किया। इसी प्रकार अपने मित्र पाण्डव अर्जुन को वह अपने घर चढ़ा लाया और उसके साथ अपनी बहन सुभद्रा को भगा दिया। यह दोनों विवाह आसुरी समझे जाते थे और अतिकायक क्षत्रियों द्वारा भी कष्ट साध्य। इसके अतिरिक्त पांडवों के राजसूय में वह परम आदरणीय और पूज्य बन बैठा और जब रुक्मिणी वंचित शिशुपाल ने उसके अज्ञात कुलशील की बात उठाई तब उसने उसे चक्र से सभास्थल पर ही मार कर उसका मुँह बन्द कर दिया। इस प्रकार उसने अपने को क्षत्रिय घोषित किया।

महाभारत के युद्ध में उसने जो कृत्य किए वह असाधारण मनुष्य के थे और ब्राह्मणों तक को उसका विरोध कर सकना असम्भव हो गया। न केवल वह क्षात्र धर्म में तेजस्वी निकला वरन् उसने एक चिंतन की नई परिपाटी का आरम्भ किया, जिससे ब्राह्मण भी चकित रह गए। धीरे-धीरे इन्द्र का आसन हिला। उसने वहाँ स्वयं प्रतिष्ठा पाई और उसके जीते जी जनता उसे पूजने लगी। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में जनता के बहते जीवन पर किसी ने इतनी गहरी छाप न डाली जितनी मेरे उस वार्ष्णेय वासुदेव कृष्ण ने और आज हिन्दुओं की विशाल संस्था वैष्णव है उसको 'सच्चिदानन्द' समझनेवाली और जो वैष्णव नहीं भी है वह भी उसके नाम का आदर करता है। कृष्ण की स्मृति मेरी स्मृतियों में सबसे रुचिकर है, सबसे रोमांचक, सबसे पवित्र।

उस युग की जिसे ऐतिहासिक काल कहते हैं, मुझे बस एक घटना याद है—छठीं सदी ईस्वी पूर्व की जब अवन्ती के प्रद्योतकुल का विवाह

सम्बन्ध मेरे शूरसेन कुल से हुआ था। उसके बाद दीर्घकाल तक मेरा इतिहास अनिश्चित रूप से बनता रहा और मैं बहती हुई राजनीतिक आँधी की मूल शाक्षिणी बनी रही। मौर्यों ने जब हिन्दुकुश तक अपने साम्राज्य की सीमाएँ बढ़ा लीं तब मैं भी उसमें शामिल हुई और यद्यपि पाटलिपुत्र उस साम्राज्य की राजधानी थी, वहाँ मेरी ही कथाओं के गीत गाए जाते रहे। अशोक के बाद जब उनका साम्राज्य कमज़ोर कंधों पर टिके होने के कारण बिखर चला तब मैं स्वतंत्र हो गई।

उन्हीं दिनों बाख्त्री के ग्रीकों ने भारत पर आक्रमण किया और तब उनकी एक शाखा मेरी ही ओर से मुझ पर और पंचाल पर अधिकार करती साकेत की राह कुसुमपुर गई थी। तभी गृहयुद्ध की खबर पा उनके नेता दिमित्रिय ने मगध से लौटकर मेरी ही प्राचीरों के पीछे डेरा डाला था और बाद जब उसके जामाता मेनान्दर ने शाकल को अपनी राजधानी बनाया तब मैं भी ग्रीकों के अधिकार में आई परन्तु विशेष गौरव मुझे शकों और कुषाणों ने दिया। मध्यदेश के पश्चिम में जैसा मैं वैष्णवधर्म का केन्द्र हो गई थी वैसे ही उस काल बौद्ध और जैन सम्प्रदायों का केन्द्र भी हुई। ऐसा नहीं कि इन तीनों में परस्पर वैमनस्य न हो। वैमनस्य तो एक बार इतना बढ़ा कि बौद्ध मेनान्दर तक को पुष्यमित्र शुंग के विरुद्ध चढ़ा ले गए परन्तु साधारणतः तीनों धर्मों के अनुयायी और विशेषकर उनके गृहस्थ उपासक आपस में शांतिपूर्वक रहते थे। मेरे नगर में सैकड़ों देव मन्दिर थे और अनेक बौद्ध तथा जैन बिहार।

जैसा मैं कह चुकी हूँ, मुझे गौरव शकों और कुषाणों ने दिया। पहली सदी ईस्वी पूर्व में उनके जो पाँच राजकुल भारत में स्थापित हुए उन्हीं में से एक मेरा शकराज कुल भी था। जब सिन्ध और पश्चिमी पंजाब में, मय और तक्षशिला में लियककुसुलक तथा उसके पुत्र पतिक

महाक्षत्रप और क्षत्रप थे तभी मुझ पर अगान और हगामास का शासन था। शक क्षत्रप अपने को ईरानी पार्थव सम्राटों का प्रतिनिधि शासक क्यों मानते थे यह बता सकना कुछ कठिन नहीं पर मैं इतना ही कह कर सन्तोष करूँगी कि मेरे शासक भी अपने को क्षत्रप कहते थे और ईरानी सम्राट को उससे दूर होकर भी सिद्धांततः अधीश्वर मानते थे, यद्यपि मेरी स्वाधीनता पर इसका कुछ कभी प्रभाव न पड़ा। मैं स्वतंत्र राष्ट्र की राजधानी की भाँति बराबर आचरण करती रही और मध्यदेश के पश्चिमी प्रहरी की भाँति मेरे स्वामी शक और विदेशी होकर भी उसकी रक्षा में सतर्क रहे।

मेरा उत्कर्ष विशेषतः रन्जुदल और उसके पुत्र महाक्षत्रप सोडास के समय प्रथम शती ईस्वी पूर्व में हुआ। मैं न केवल स्वाधीन थी वरन् पूर्वी पंजाब, पश्चिमी मध्यदेश और मालवा तक के प्रदेश मेरे प्रासाद से सन्तोष प्रकट करते और भृकुटि भंग से काँप जाते थे। मेरे ही इस राजकुल के निकटतम बन्धु चष्टन ने उज्जयिनी में मालवा शक कुल की प्रतिष्ठा की और तब मैं अपना वह प्रदेश उस यशस्वी शासक को सौंप उधर से निश्चिन्त हुई। कुछ ही काल बाद मेरी ही ओर से और मेरे राजकुल से सम्बन्धी लोहिताक्ष अम्लात ने मध्यदेश को अपनी शक्ति का स्वाद चखाया था और पाटलिपुत्र में रक्तताण्डव किया था। सोडास ने भारतीय धर्म में दीक्षित होकर मेरी नगरी में अनेक विहार और देव मन्दिर बनवाए।

कुषाणों ने शकों से ईसा की पहली सदी में पश्चिमी भारत के सूबे छीन लिए। कुजुल और विम ने काबुल, पश्चिमी पंजाब, काश्मीर, बाख्त्री, काशगर, मारकन्द और खुत्तन पर अधिकार कर लिया। मैं तभी कुषाणों के नेता वीम के कब्जे में आ गई और पेशावर से पाटलिपुत्र जाते समय कनिष्क ने मेरी ही नगरी में डेरा डाला था। शक सूर्य

के उपासक रहे थे और कुषाण सम्मिलित रूप से अनेक धर्मों के देवताओं के। स्वयं कनिष्क कुछ काल बाद बौद्ध हो गया था, परन्तु अपने सिक्कों पर उसने बराबर जरतुश्ती रोमन हिन्दू और बौद्ध देवताओं की आकृतियाँ खुदवायीं।

कनिष्क ने अपनी मुख्य राजधानी तो पेशावर में ही रखी परन्तु उसने अपने पूर्व की राजधानी मुझे बनाया क्योंकि पूर्व के प्रान्तों के मध्य देश के सिंह-द्वार पर बसी होने के कारण देख-भाल मैं ही कर सकती थी। मेरी ही नगरी से होकर विलक्षण बौद्ध दार्शनिक और काव्यकार अश्वघोष कनिष्क के साथ बौद्धों की चौथी संगीति में भाग लेने काश्मीर गया था। मेरी ही नगरी में अधिकतर उस नागार्जुन ने अपने भक्तमार्गीय उपदेश किए जिसमें बौद्धों के महायान सम्प्रदाय का प्रचार किया।

कनिष्क की पूर्वी राजधानी होने के अतिरिक्त मैं कुषाणों का देवकुल भी थी। देवकुल तब राजाओं के मूर्तिसंग्रहालय को कहते थे। मेरे माट नामक जिस गाँव से कुषाण राजाओं की मस्तकहीन मूर्तियाँ इधर कुछ काल हुए मिली हैं, वही कुषाणों का देवकुल था। उसी में उस चष्टन की मूर्ति भी पधराई गई थी जो पीछे मालवा का क्षत्रप बना। इन कुषाण और शक राजाओं की मूर्तियों पर जो वस्त्र आज हम देखते हैं वे निश्चय आज के हमारी अचकन और पाजामें के पूर्ववर्ती हैं। लम्बे कुर्ते और चोगे और साथ ही ऊँचे बूट इन मूर्तियों के पहनावे हैं और उन सूर्य मूर्तियों के भी जिनकी पूजा का प्रचलन शकों-कुषाणों ने ही भारत में किया था। सूर्य की मूर्तियों की पोशाक मध्य एशिया की वह पोशाक है जो शकों और कुषाणों ने पहले पहनी और फिर पठानों-मुगलों ने। आज मैं उसी पोशाक को भारत की

राष्ट्रीय पोशाक बनते देख सन्तुष्ट होती हूँ। परन्तु मेरी जनता उसके अन्तरङ्ग को काश पहचान पाती !

कुषाणों ने इस प्रकार भारतीय संस्कृति को अपना कर उसमें अपने नए विदेशी स्वरों का योग दिया और उस योग का मुख्य केन्द्र मैं रही। मेरे ही आधार से मध्यभारत और दक्षिण की कला में भी विदेशी पुट पहुँची। एक क्षण में अब उस भारतीय कला की ओर संकेत करूँगी जो विदेशी सम्पर्क और संरक्षा में फूली-फली थी। भारतीय मूर्तिकला में जिसे गन्धार शैली कहते हैं, उसका केन्द्र पहले तक्षशिला फिर पेशावर हुआ। दूसरी और पहली ईसा पूर्व की सदियों में तक्षशिला में ग्रीकों का राज्य कायम था और वहाँ से वे समूचे पंजाब और काबुल की घाटी पर शासन करते थे। उसका शासन केवल तलवार का शासन न था वरन् शान्ति के दिनों में उनके शासित प्रदेशों में ग्रीक तक्षक अपनी छेनियों से कला की अभिराम मूर्तियाँ काटते थे और उनके रंगमंच के अभिनेता इस्काइलस, सोफोक्लीज और मेनामदार के नाटक खेलते थे। उन्हीं ग्रीकों ने भारत की मूर्तिकला में गन्धार शैली का आरम्भ किया जिसमें भारतीय विषयों को ग्रीक शैली से पत्थर में अनुप्राणित किया गया। वही शैली शकों और कुषाणों के शासन काल में भी चलती रही और बुद्ध की पहली मूर्ति महामान सम्प्रदाय के चल निकलने पर वहीं बनी। वह पहली मूर्ति सर्वथा ग्रीक आकृति की थी। परन्तु शीघ्र ही बाद उसके रूप का भारतीयकरण होने लगा और उस भारतीयकरण का केन्द्र मैं थी। स्वयं कुषाणों के शासनकाल में ही जैसे जैसे उनकी सांस्कृतिक चेतना भारतीय होती गई वैसे ही वैसे इन मूर्तियों का भारतीयकरण भी डग भरता गया, और गुप्तों के समय तो उसकी पराकाष्ठा ही हो गई। तब की बुद्ध मूर्तियाँ ग्रीक आदर्शों से स्पृष्ट होने पर भी सर्वथा भारतीय हैं।

कनिष्क का शासन काबुल से मगध के पश्चिमी इलाकों तक था और जब कभी वह स्वयं मेरी नगरी में न रहता पश्चिमी मध्यदेश और पूर्वी पंजाब का शासन मेरे केन्द्र में स्थित उसका क्षत्रप खरपल्लान करता जैसे पूर्वी प्रान्तों का काशी में स्थित शासक वनस्फर। कनिष्क के बाद वाशिष्क हुआ और वाशिष्क के पश्चात् हुविष्क। हुविष्क के बनाए अनेक बौद्ध-बिहार और देव-मन्दिर आज भी मेरी धूल में मिले जुले हैं। बासुदेव तो सर्वथा हिन्दू और वैष्णव हो गया। उसके शासन काल में हिन्दुओं का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ने लगा और उसके वंशधरों की दुर्बलता ने तो वाकाटकों और नागों को अपनी महत्वाकांक्षा चरितार्थ करने में बड़ी सहायता की। दूसरी सदी ईस्वी में नागों ने न केवल कुषाणों के दुर्बल हाथों से शक्ति छीन ली वरन् उनको पंजाब में भगा अपना राज्य मध्यदेश में स्थापित किया। शीघ्र मैं तब कुषाणों के हाथ से निकल कर नागों की शक्ति का पश्चिमी केन्द्र बनी। भारशिव नाग बीरसेन ने तो मुझे ही प्रायः अपनी राजधानी बना ली थी यद्यपि अनेक राजनीतिक केन्द्र दूसरे भी थे—कान्तिपुर और पद्मावती। पद्मावती तो उनकी विशिष्ट राजधानी ही थी।

कुषाणों का अधिकार तो मेरे ऊपर से उठ गया परन्तु जो गौरव मुझे उनके सम्पर्क से प्राप्त हुआ था, वह फिर कभी मुझे न मिला। मैं उनकी न केवल राजनीतिक पूर्वी राजधानी थी वरन् उस काल की कला का भी मैं मुख्य केन्द्र थी। कुषाण काल भारतीय मूर्तिकला के इतिहास में विशेष प्रसिद्ध हो गया है और उस कला की मैं ही विशिष्ट राजधानी थी। बुद्ध की अनन्त मूर्तियाँ मेरे तक्षक कलावन्तों ने कोरीं, और देश के कोने कोने के बिहारों में वे पधराई गईं। मेरे आँगन में निर्मित स्तूपों की वेदिकाएँ (रेलिंग) तो विशेष प्रसिद्ध हुई और उनके स्तम्भों पर उत्कीर्ण यक्षी मूर्तियों ने तो भरहुत और साँची की रेलिंगों की शुंगकालीन

यक्षी आकृतियों को लजा दिया। उनके फैले कृत्रिम लाक्षणिक मूर्तियों के ऊपर मेरी वेदिकाओं की यक्षी मूर्तियों ने अपना अकृत्रिम सर्वथा प्राकृतिक रूप पाया। नग्न, आकर्षक, सम्मोहक यक्षी मूर्तियाँ अपने सौंदर्य, अल्हड़पन और पार्थिव आचरण से इस कला क्षेत्र में अप्रतिम हैं। सैकड़ों की संख्या में भग्न और अभग्न रूपों में वे मेरे खण्डहरों में पाई गई हैं और उनको आज का कला-समीक्षक जो देखता है तो दाँतों तले उँगली दबा लेता है।

पत्थर का साधन तो कुषाण कला में प्रयुक्त हुआ ही मिट्टी के खिलौनों के असंख्य नमूने मेरे भग्नावशेषों में मिले हैं जिनसे तत्कालिक कुम्हारों की कला का भी पता चलता है। आज भारत के अनेक संग्रहालयों में जो मेरी भूमि से खुदी सैकड़ों मृण्मूर्तियाँ सुरक्षित हैं उनको कभी मेरी नगरी के कुशल कुम्हारों ने अपने बनाए साँचे में ढाला था। अनन्त व अनन्त उनकी संख्याएँ मेरी नगरी में प्रस्तुत हुईं और दूर दूर के देशों और प्रान्तों में उनके प्रेमी उन्हें ले गए। आज जो मैं बच्चों के भोंड़े खिलौने देखती हूँ तो अपने प्राचीन नागरिकों की रुचि पर उचित अहंकार होता है। भारशिव नागों ने अपनी विजय के उपलक्ष में अश्वमेध तो काशी में किए परन्तु मेरी नगरी भी उनकी पश्चिमी सीमा का केन्द्र बन गई। नागों ने कुषाणों को भगा कर कम से कम अन्तर्वेद में ऐसी राजनीतिक स्थिति पैदा कर दी कि वहाँ एक समृद्ध राज्य स्थापित हो सके और हुआ भी ऐसा ही। उस अन्तर्वेद और साकेत और मगध में गुप्तों का पहले वह राज्य कायम हुआ जो फिर बढ़ कर साम्राज्य हो गया और जिसमें मैं भी समा गई। गुप्तों ने तीर्थस्थानों की साधारण श्रद्धा के अतिरिक्त मुझे अधिक गौरव तो न दिया, परन्तु मैं अपनी प्रतिभा से उनके काल में भी कला की राजधानी बनी रही। इसी काल मैंने विदेशी ग्रीक लक्षणों से संयुक्त कला के आदर्शों का भारतीयकरण

पूरा किया और इस काल पत्थर और मिट्टी के जो नमूने इस क्षेत्र में मैंने प्रस्तुत किए, वैसे न पहले कभी हुए थे न पीछे हो सके।

हूणों ने जब गुप्त साम्राज्य को तोड़ डाला तब मुझ पर भी उन्होंने अनवरत चोटें कीं और मेरे मन्दिर, उनकी मूर्तियाँ सभी खण्ड-खण्ड हो गए। हूणों का स्पर्श मृत्यु का स्पर्श था और एक बार तो मैं बुरी तरह उनकी नृशंसता से उजड़ कर नंगी हो गई।

हर्ष ने फिर मुझ पर अधिकार किया और उसके बाद यशोवर्मन् ने। यशोवर्मन् के समय जब काश्मीर के ललितादित्य मुक्तापीढ़ ने कन्नौज पर आक्रमण किया तब उसने अपनी सेना के पड़ाव मेरी ही नगरी में डाले थे। कुछ ही काल बाद अन्तिम आयुध नृपति से कन्नौज छीन जब गद्दी लेली तब मैं उनके शासन में शामिल हुई। प्रतिहारों ने मुझे समृद्ध और धन धान्य दिया परन्तु फिर भी मैं शकों और कुषाणों का गौरव उनके शासन में प्राप्त न कर सकी। हाँ आक्रमण के लिए इधर-उधर दौड़ती सेनाओं की धमक मैंने निश्चय सुनी।

प्रतिहारों के अन्त्य काल में उत्तर पश्चिम से गजनी के महमूद का हमला हुआ। महमूद कन्नौज जाने के पहले मेरे द्वार आया। मेरी प्राचीरों के द्वार बन्द थे। उन पर उसकी चोटें शुरू हुईं। महमूद ने जिस प्रकार नगरकोट के मन्दिर लूटे थे वह मैं सुन चुकी थी और जब वह मेरी ओर बढ़ा तब मेरे प्राण सूख गए। मेरे मन्दिरों के देवता निष्प्राण पत्थर के तो थे ही उनसे अपनी रक्षा की आशा मैं क्या कर सकती थी और निरन्तर विलास से मेरे नागरिक इतने बुजदिल हो गए थे कि उनसे भी कुछ आशा नहीं की जा सकती थी। मेरी नगरी पूजा-पाठ की नगरी कब की हो चुकी थी और शस्त्र ग्रहण करने की ताब किसी में न थी। विशेषकर जब वह खूँखार 'बुतशिकन' ग़ाज़ी महमूद अपने लूट के इतिहास और रक्तपात की कहानियों के धुएँ में लिपटा

सामने खड़ा था। नगर के द्वार तो वैसे ही टूट रहे थे, अब भागने वालों ने उन्हें सीधा खोल दिया और महमूद की चोटें मेरे मन्दिरों पर उनमें प्रतिष्ठित मूर्तियों पर पड़ने लगीं। सोने की विशाल मूर्तियाँ रत्नों से जड़ी थीं। इतनी विशाल थीं वे कि उनको तौलने के लिए बार-बार तोड़ना पड़ा। सदियों से सिवा मन्दिरों के भण्डार भरने के हिन्दुओं ने कभी उनको छुआ तक न था, विजेताओं तक ने नहीं। वह सारा रत्न संभार महमूद ले गया। दिसम्बर का महीना था। जाड़ा कड़ाके का पड़ रहा था, जो प्रमादी नागरिक भाग न सके अपनी रजाइयों में दुबके पड़े रहे और उन लपटों के शिकार हुए जो पठानों ने नगर में प्रज्वलित कर दी थीं, मुझे उन चीखते-चिल्लाते, तड़पते-जलते बुजदिलों से कोई हमदर्दी नहीं जिन्होंने मेरी आजादी बचाने के लिए उँगली तक न उठाई। मुझे उम्मीद थी कि उज्जयिनी का प्रसिद्ध लड़ाका परमार भोज मेरी रक्षा को आएगा पर वह राजा की अनुपस्थिति में उस काल अन्हिलवाड़ को लूटने में व्यस्त था।

बाद के पच्चीसों वर्ष जुल्म और तकलीफ के थे। उत्तर-दक्खिन की हिन्दू-मुसलमान सेनाएँ दोनों मुझे आक्रान्त करती रहीं। काशी की ओर जाते हुए पहले नियल्तिगीन ने मुझे लूटा, फिर हाजिब तुगातिगीन ने, फिर अमीर खुसरो ने। तब कहीं गहडवालों ने मेरी रक्षा का प्रबन्ध सोचा। गहडवाल कन्नौज, काशी और दिल्ली के स्वामी हो चुके थे और मैं भी उनके अधिकार में आ गई थी। फिर विजयचन्द्र से जब चौहान नृपति विग्रहराज वीसलदेव ने दिल्ली छीन ली तब मैं भी गहडवालों के हाथ से निकल कर चाहमानों के शासन में चली आई। तब दिल्ली के भाग्य के साथ मेरा भाग्य गुंथ गया। राम पिथौरा जब शहाबुद्दीन के साथ दूसरी मुठभेड़ में विनष्ट हुआ तब मुझ पर भी काफी चोटें पड़ीं और कुतुबुद्दीन ऐबक ने जब दिल्ली ली तब

सुभ पर भी अधिकार कर लिया। कुतुबुद्दीन जितना ही फय्याज़ था उतना ही क्रूर भी था। और मेरे नगर में सिरों का उसने अम्बार खड़ा कर दिया जो दिल्ली में बनती उसकी मीनार से किसी कदर नीचा न था।

अल्तमश और बलबन ने भी ऐबक से भी बढ़ जाने की कोशिशें कीं और मुझे सर्वथा वीरान कर दिया। चित्तौर के राणा साँगा ने जब मालवा और गुजरात पर अधिकार कर लिया और इब्राहीम लोदी को दो दो बार हराया तब मुझे आशा बँधी कि दिल्ली के साथ ही राणा मुझे भी आजाद कर देगा। पर जब मैंने उसे बाबर को दिल्ली का तख्त दान करते देखा तब मैंने शर्म से मुँह छिपा लिया। सीकरी के मैदान में बाबर ने राजपूतों पर हमला किया और वह लड़ाई मुझसे थोड़ी ही दूर पर इतनी जम कर हुई, राजपूतों ने अपने परम्परागत शौर्य का इतना अनजाना सबूत दिया कि मैं साँस रोक उस मैदान की ओर देखती रही; जिसने हिन्दुस्तान की किस्मत के साथ ही मेरी किस्मत भी दिल्ली के नए विजेता के साथ बाँध दी।

बाबर उस तैमूर का वंशधर था जिसने एक बार अल्लाउद्दीन और मुहम्मद तुगलक की चोटें अपनी क्रूरता से भुला दी थीं, बाबर ने दिल्ली में तैमूरिया खान्दान की नींव डाली और उसके पोते अकबर ने उसका साम्राज्य दृढ़ किया। हुमाँयू की नेश बाजी से मुझे शेरशाह की हुकूमत ने कुछ नजात दी और जब हिन्दू हेमू विक्रमाजीत की उपाधि धारण कर पानीपत के मैदान की ओर बढ़ा तो मुझे ऐसा लगा कि शायद मेरे नगर में फिर वेद घोष होगा। परन्तु बैरमखाँ के हेमू का तोपखाना हड़प लेने के बाद मेरी आशा फिर मिट गई। यद्यपि अकबर की सहिष्णुनीति ने मुझे अपने मन्दिरों को खड़ा करने का फिर अवसर दिया।

आस-पास की भूमि की मैं स्वामिनी थी। तब से नहीं बहुत प्राचीन काल से और देश ने फिर मुझे समृद्धि और धार्मिक गौरव दिया। परन्तु शाहजहाँ ने जब गाजी बनने की प्रतिज्ञा की तब फिर मैं उजड़ चली और उसके बेटे आलमगीर ने तो मुझे उजाड़ ही दिया। विष्णु का मेरा वह विशाल मन्दिर औरंगजेब ने तोड़ डाला और उसकी जगह उसी के पत्थरों से अपनी मस्जिद की विशाल इमारत खड़ी की। मैं फिर लुट गई और बुरी तरह, और वह गई हुई समृद्धि फिर न लौटी। जब औरंगजेब की कैद से भाग कर शिवाजी स्वदेश की ओर चले तो मैंने ही उन्हें पनाह दी और उसके बदले मराठों ने आगे चल कर मुझे गौरव दिया। परन्तु अब्दाली की चोट मुझे अब भी याद है और कभी न भूलेगी। दिल्ली को लूट कर अफ़गान अहमदशाह जब मेरे नगर में आया तब जाटों ने मेरी रक्षा के लिए भरतपुर से मेरे द्वार तक लाशें बिछा दीं और खुद विनष्ट हो गए पर फिर भी मेरी रक्षा न हो सकी और मैं एक बार फिर उजड़ गई। ऐसा नहीं कि हिन्दू मुझे न लूटते हों। इस काल अनेक बार मराठों ने भी मुझ से चौथ ली और मेरे श्रीमानों को लूटा।

जमाना गुजर गया, लम्बा जमाना यह शताब्दियों का, सहस्त्र-शताब्दियों का है। यमुना के किनारे खड़ी मैंने ब्रज की समृद्धि पाई और निरन्तर मैंने महत्वाकांक्षा के पैंतरे राजमार्ग पर खड़े होकर देखे। अतीत स्वभावतः ही बीत चुका है, वर्तमान चोटी पर है, परन्तु मैं नहीं समझती कि मेरा भविष्य कुछ विशेष रुचिकर होगा।
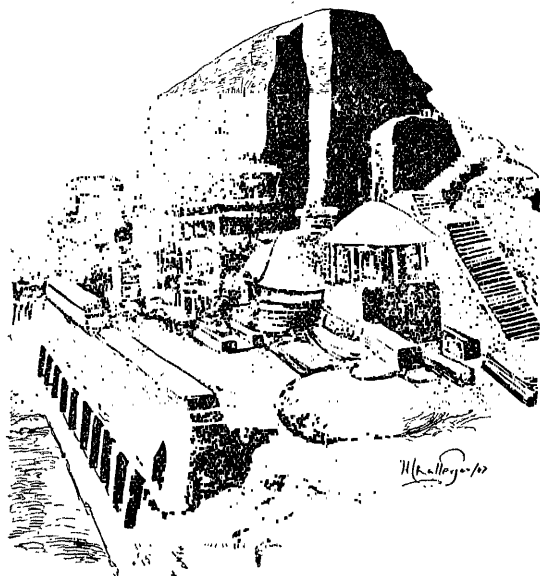
राजगृह

राजगृह विन्ध्यमेखला का उत्तरी प्रसार गया के उत्तर दौड़ता है। पहाड़ियाँ बहुत ऊँची तो नहीं पर बीहड़ जरूर हैं और उनके बीहड़पन ने अनेक बार मानव और बनैले भगेड़ों को शरण दी है। आर्यों ने जब अपनी कठोर ठोकरों से सिन्धु कांठे की द्रविड़ सभ्यता तोड़ डाली तब वहाँ

से भागे हुये अनेक जनों ने इन्हीं पहाड़ियों में शरण ली थी और अपना आवास बनाया था। परन्तु वह कहानी बड़ी पुरानी है, महाभारत के दिनों से भी प्राचीन विदेहजनक से भी प्राचीन, वैशाली के जगमगाते हीरकोज्ज्वल आचरण से कहीं प्राचीन।

उन्हीं पहाड़ियों में कांखों के उत्कर्ष से कुछ पूर्व आर्यजन प्रभुओं ने पश्चिम से आकर डेरा डाला। इन पहाड़ियों की छाया सुखद और शीतल थी। इनकी कन्दराओं में अनेक प्रिय-स्वप्न सत्य हुये, हृदयों के अनेक उद्‌गार जो मैदानों में कुंठित पड़े थे इन गिरि गह्वरों से होकर वह चले। पहाड़ियाँ पाँच थीं और इन पाँचों के ऊपर अपने देखे स्वप्न मनुष्य ने साक्षात किये। इन्हीं पहाड़ियों की कहानी आज मैं कह रहा हूँ, जिन पहाड़ियों के शिखरों पर खिंचे प्राचीरों के पीछे मेरेरा जप्रासाद बसे और मेरा राजगृह नाम सार्थक हुआ।

परन्तु मेरा सब में पुराना नाम राजगृह नहीं गिरिव्रज है जिससे दूर से आकर बस जाने वालों का, आने जाने वालों के तांते का अर्थ ध्वनित है। गिरिव्रज वह पहाड़ी दुनिया थी जहाँ मैदानों से भाग कर लोग आ बसे थे। एक व्रज मथुरा के चतुर्दिक था जहाँ शूरसेनों के शासन में वासुदेव कृष्ण ने मानव लिप्सा की अनेक कथायें चरितार्थ कीं। दूसरा व्रज यह था विन्ध्यमेखला के इस उत्तर प्रसार में बसा—गिरिव्रज।

अपने जन्म की कहानी सदा सब को ज्ञात नहीं। मुझे भी उसका पूरा ज्ञान नहीं। किसने मुझे इन शिखरों पर बसाया मैं स्पष्ट नहीं कह सकता पर वह गिरिव्रज की बात है राजगृह की नहीं क्योंकि इस अपने राजगृह का आरम्भ मुझे स्पष्टतः याद है जो गिरिव्रज के भग्न स्तूपों पर खड़ा हुआ था और वे भग्न स्तूप भूमिसात होने के पहले भारतीय सभ्यता के कनक कंगूरों की भाँति कभी देदीप्यवान रहा था। भारतीय इतिहास का महाभारत काल उर्जस्वी आर्यत्व का काल है। शक्ति की

सीमायें तब वीरवरों ने अपनी बाहुओं से खींची थीं। उसी काल, सम्भवतः उससे कुछ पूर्व गिरिव्रज का आरम्भ हुआ था और महाभारत के युद्ध के समय निश्चय मगध की शक्ति स्मरणीय हो गई थी, इतनी कि कौरव पांडवों के दोनों दलों ने कभी मगध के प्रतिष्ठित बहिद्रथ राजकुल की सहायता माँगी थी।

मगध तब कुछ लम्बा चौड़ा साम्राज्य न था, उसका विस्तार आज के पटना, गया जिलों मात्र तक सीमित था परन्तु शक्ति उसकी प्रचुर थी इतनी कि उससे सहायता की प्रार्थना की जा सके। महाभारत कालीन बृहद्रथ और उसके पुत्र जरासन्ध ने तो शक्ति का इतना संचय किया कि दूरस्थ शूरसेनों का जनमद प्राचीन ब्रज तक उसके भय से काँप उठा।

कहते हैं जरासन्ध खण्डित बालक के रूप में उत्पन्न हुआ था परन्तु जरासन्ध की धाय ने उसके खण्डित अंगों को एकत्र कर उसका जरासन्ध नाम सार्थक किया। फिर तो उन अंगों में दानव की शक्ति भर गई, मानव की चोट जिस पर पड़-पड़ कर स्वयं कुण्ठित हो जाती। महाभारत के समय जरासन्ध कब का अधेड़ हो चुका था। ब्रज के कंस ने उसकी कन्या ब्याही थी और जब उस महायुद्ध का आरम्भ हुआ तब तक जरासन्ध भारत की अमानुषिक ऊँचाइयों वाले वीरों की पंक्ति में खड़ा हो चुका था। कंस और जरासन्ध का संयोग आंधी और आग का संयोग था और दोनों ने पश्चिमी कुरुक्षेत्र को छोड़ बाकी उत्तर भारत और मध्य देश को प्रायः बाँट लिया और यद्यपि उनके साम्राज्य सीमाओं की प्राचीरें वस्तुतः पार्थिव रूप से न खिंची उन राजाओं का प्रभाव देशव्यापी निश्चय हो गया। गिरिव्रज का प्रभाव भी उसी यात्रा में बढ़ चला। गिरिव्रज मगध की पहली राजधानी थी।

ब्रज और मगध का यह सम्बन्ध इतना घना सिद्ध हुआ कि एक का पराभव दूसरे ने अपना पराभव माना और जब प्रजापीड़क आर्य क्षत्रीय

कंस के कुकर्मों से क्षुब्ध होकर आभीर कृष्ण ने उसे मार डाला तब जरासन्ध अपनी विशाल मगध सेना लिये मध्यदेश को रौंदता ब्रज में जा धमका और कृष्ण को ब्रज छोड़ कर भागना पड़ा। जरासन्ध की सेनाओं ने ब्रज पर अधिकार कर लिया। जरासन्ध का आतंक देश पर इतना गहरा था कि विक्रान्त कुरुओं को भी कृष्ण को शरण देने का साहस न हुआ और देवकी नन्दन को सारा देश लांघ पश्चिम समुद्रतट पर द्वारका बसा, वहाँ शरण लेनी पड़ी। गिरिव्रज का प्रभाव इस प्रकार दिन-दिन बढ़ता गया यद्यपि यह प्रभाव मात्र था और मगध का साम्राज्य वस्तुतः साम्राज्य न हो पाया। उसकी शासन की प्राचीरें अब भी एक ओर अंग और दूसरी ओर काशी द्वारा मण्डित थीं।

गिरिव्रज के राजा जरासन्ध के द्वारा यह अपमान कृष्ण कभी न भूल सका। द्वारका से वह लौटा परन्तु अकेला नहीं, महाभारत के पांडव वीरों के साथ। संसार में उसके तीन प्रबल शत्रु थे, कंस, शिशुपाल और जरासन्ध। कंस का वह कब का नाश कर चुका था। इन्द्रप्रस्थ के महलों में शिशुपाल का भी वह उस रीति से बध कर चुका था, जिसे किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता था। वह वास्तव में न्याय तर्क के उत्तर में नाजायज खून था। तीसरा शत्रु जरासन्ध अब भी बच रहा था। कृष्ण ने सोचा यदि जरासन्ध कुरुक्षेत्र में अपनी सेना लिये आ धमका तो न उसकी खैर होगी न पाण्डवों की और यदि वह मारा भी गया तो उसका श्रेय कृष्ण को न होगा वरना समवेत पाण्डव पक्ष को होगा और ब्रज से भागते समय उसकी पीठ लगी धूल प्रतिशोध की विजय द्वारा पुंछ न सकेगी। ब्रज से भागते समय जो कालिख लगी थी, उसका धोना नितान्त आवश्यक था और वह इस प्रकार की जैसे ब्रज के अपने घर में कृष्ण के वह लगी थी, गिरिव्रज के अपने घर में जरासन्ध को लगे। भीमसेन और अर्जुन को लिये कृष्ण गिरिव्रज के

राजप्रासाद में पहुँचा जहाँ कि बैठक में जरासन्ध का अखाड़ा, था जिस अखाड़े की मिट्टी वह दूध से गीली करता था। जरासन्ध की बैठक अब की भूमिसात हो चुकी, परन्तु उसके आधार पर खड़ी उसकी नाम से जाने वाली पत्थरों की एक भग्न बैठक आज भी मेरे प्राचीरों के पीछे फैले मैदान में खड़ी है।

जरासन्ध और भीम में जैसी निपटी उसको सविस्तार कहना मेरा अभीष्ट नहीं, इतना निश्चय है कि जरासन्ध अपने ही घर में मारा गया और जिस प्रयत्न से वह मारा गया, वह कुछ उसी प्रकार का था जिस प्रकार शिशुपाल का वध ! कृष्ण को जरासन्ध के जोड़ों का पता था और भीमसेन को वह राज मालूम होते ही जरासन्ध के अंग-अंग बिखर गये, अपने ही राजप्रासाद में अपनी ही प्राचीरों के नीचे। यह कृष्ण का अभियान था जरासन्ध के विरुद्ध, ब्रज का गिरिव्रज के विरुद्ध और इस अभियान में सेना न गई थी, प्रयत्न और चतुर्विद्या राजनीति मात्र इसमें विजयिनी सिद्ध हुई।

गिरिव्रज पता नहीं कब तक और किस रूप में अपनी शक्ति को अक्षुण्ण उनको रख सका, परन्तु एक बात मुझे आज भी याद है और वह यह कि ईसा से प्रायः ६०० वर्ष पूर्व बार्हद्रथों की इस पार्वतीय प्रदेश से मिट्टी उठ गई। जिस नये राजकुल ने मगध की राजरज्जु संभाली, उसका नाम हर्यंककुल था। हर्यंकों में इसकी प्रबलता ने उस महाभारत प्रथित मागध राजकुल का ध्वंस किया जिसकी कीर्ति कथा जरासन्ध ने अपनी बाहुओं से लिखा था, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भिक हर्यंकों में प्रमुख भट्टीय का पुत्र बिम्बिसार हुआ। इसी बिम्बिसार के उत्थान के साथ ही मेरे उत्थान की कथा भी सम्बद्ध है।

एक और घटना इस कुल के आरम्भ और बार्हद्रथ कुल के अंत के बीच की याद आती है जिसको कहना मैं नहीं भूल सकता।

महाभारत के युद्ध के बाद आर्यों की शक्ति टूट सी गयी। सर्वत्र वे आपस में लड़ पड़े थे; जो विशेष तो कुरुक्षेत्र के मैदान में ही परस्पर निपट चुके थे जो वहाँ से लौटे वे प्रायः और बहुकाल तक उसी कुरुक्षेत्र की शत्रुता को अपने-अपने केन्द्रों में जगाये रहे। आर्यों के अपकर्ष के साथ ही अनेक स्थलों में अनार्यों की शक्ति फिर एक बार जगी। ब्रज की नारियों को द्वारका ले जाते हुए अर्जुन के हाथ से गाँडीव के रहते हुए शबरों ने छीन लिया। एक नारी पद्मिनी के अपमान के परिणाम में इतना बड़ा महाभारत हो गया था, परन्तु इतनी संख्या में कृष्ण की नारियों को खोकर भी और वह भी अनार्यों के विरुद्ध, महाभारत के बचे बीर हाथ न उठा सके। यही घटना अन्य रूप में गिरिव्रज में भी घटी जब बार्हद्रथ कुल के कमजोर होने पर गया के महाकान्तार से अनार्यों की जनता उठी तब कमजोर मूठों से तलवार पकड़ने वाले आर्य वंशधरों के जान के लाले पड़ गये। उनसे भागते न बना। और गिरिव्रज के खड्डों में वे सदा के लिये सो गये। कालान्तर में हर्यक कुल का उत्कर्ष हुआ और राजा भट्टीय ने गिरिव्रज के टूटे प्राचीरों को फिर से खड़ा किया। बिम्बिसार उसी भट्टीय का पुत्र था और उसने मगध का लुप्त गौरव फिर से स्वायत्त करने के लिये कमर कसी।

गिरिव्रज की प्राचीन प्राचीरों के बाहर उत्तर की ओर उसने अपना विशाल राजप्रासाद खड़ा किया। राजप्रासाद के खड़े होते ही उसके चारों ओर अनन्त धनी, मानी, सेठ, साहुकार मगध के विविध नगरों से उसके चतुर्दिक आ बसे। यह एक नयी नगरी उठ रही थी प्राचीन गिरिव्रज की ही छाया में, परन्तु उससे कहीं दृढ़ मन्तव्यों की भावना लिये भट्टीय ने ही आस-पास के अनार्यों को कुचल डाला था। अब केवल विस्तार की आवश्यकता थी और उस विस्तार के लिये बिम्बिसार कटिबद्ध हुआ।

बिम्बिसार न तो कोई बड़ा लड़ाका था और न विशिष्ट राजनीतिज्ञ परन्तु दूरदर्शी वह निश्चय था, पास पड़ोस की गतिविधि गहरायी के साथ निरखने और वस्तुस्थिति को समझनेवाला। उसने दृढ़ निश्चय कर लिया कि मगध की सीमायें अब केवल पुराने परिमाण में ही सीमित न रह सकेंगी। परन्तु अभियान के बजाय उसने वैवाहिक नीतिको अपनी राजनीति में स्थान दिया। भारतीय राजनीति में वैवाहिक सम्बन्ध से उत्कर्ष की अभिप्राप्ति का यह पहला प्रमाण था। मैंने ऐसा कुछ कभी पहले देखा सुना न था, परन्तु जो देखा उससे मेरी आँखे भी खुल गईं और मैंने जाना कि बिना तलवार के भी गढ़ जीते जा सकते हैं। तब की राज शक्तियों में चार प्रबल थे, मगध के हर्यंक, श्रावस्ती के कोशलक, कोशाम्बी के वत्स और अवन्ती के प्रद्योत। कोशाम्बी के वत्सों और उज्जैनी के प्रद्योतों से मगध कुल का वैर था। बिम्बिसार दोनों से अलग बना रहा। कोशल की मैत्री उनके विरोध में आवश्यक थी, इसलिये उसके राजा प्रसेनजित की बहन कोशल देवी से उसने अपना विवाह किया। काशी जो तब की कोशल के अन्तराल में समा चुकी थी अब कोशल देवी के यौतुक में बिम्बिसार को मिली। एक लाख की यह वार्षिक आय मेरे लिये अनजानी थी और काशी की सी प्राचीन नगरी मेरी चेरी हुई, यह कुछ कम गौरव की बात न थी। गिरिव्रज कब का मिट चुका था। मेरा नाम राजगृह बिम्बिसार के राजप्रासाद के सम्पर्क से सार्थक हुआ और अब काशी की परिचर्या से मैं उभग उठा। बिम्बिसार ने फिर गंगा पार देखा। उस पार जहाँ वज्जी लिच्छवियों ने जनक विदेह का राज्य वैशाली में गणतन्त्र कर लिया था। गंगा से हिमालय की तराई तक उनकी तूती बोलती थी और उनकी सहायता पाने को सारे राजकुल लालायित रहते थे। वज्जियों के आठ गणों में विशिष्ट लिच्छवियों का था प्रबलतम

और उसमें चेटक का कुल असाधारण था। उसी चेटक की कन्या चेल्लना को बिम्बिसार ने ब्याहा जिसकी भगिनी त्रिशला जैन धर्म के प्रवर्तक वर्द्धमान महावीर की माता बनी। इस विवाह सम्बन्ध से मेरी शक्ति बढ़ी और मेरी मर्यादा की सीमायें सुदूर विस्तृत हुईं। अनेक राजकुल तब मेरे राजकुल में विवाह सम्बन्ध स्थापित करने को उत्सुक हो उठे। उनमें जिसकी आशा सफल हुई, वह गांधार का राजकुल था। गान्धारों की माद्री मेरे राजप्रासाद में पधारी। इस सम्बन्ध से मेरी सामाजिक मर्यादा असामान्य हो गई।

मेरे स्वामी ने तब एक ओर बढ़कर काशी के पश्चिम में वत्स की प्राचीरों तक अपने बल्ले गाड़े, दूसरी ओर अंग को आत्मसात कर लिया यद्यपि कोशाम्बी के कामुक नृपति उदयन ने अंग के राजा ब्रह्मदत्त की कन्या को ब्याह अपने ससुर को अंग का कुछ भाग फिर से लौटाया परन्तु उस कामुक की चेष्टा कब तक सबल रह सकती थी? ब्रह्मदत्त अंग की प्राचीरों के साथ मेरी सीमाओं में खो गया।

इन्हीं दिनों मगध, कोशल और विदेह में एक नये जीवन का संचार हुआ। धर्म के नाम पर एक जमाने से जो बलात्कार होता आया था उसके विरुद्ध कुछ क्षत्रीय नेताओं ने विद्रोह किया। वास्तव में यह विद्रोह पुराना था—क्षत्रियों का ब्राह्मणों के विरुद्ध और उस विद्रोह के अग्रणी पहले विश्वामित्र, देवापि, भीष्म, जनमेजय, अश्वपति कैकेय, प्रवाहरण जैबलि, अजातशत्रु काषेय, जनक विदेह रह चुके थे परन्तु इधर के काल में भी इन क्षत्रीय विद्रोहियों की भी कुछ कमी न रही थी। काशी के राजकुल के उदात्त राजकुमार पार्श्व ने केवल सौ वर्ष पूर्व उस विद्रोह का झंडा खड़ा किया था और उसके बाद अब वैशाली में वर्द्धमान ने उसको फिर फहराया। शाक्यों में प्रतिष्ठित शुद्धोधन के पुत्र गौतम ने भी उस विद्रोह के नाले बुलन्द किये। उन

नालों की आवाज अनेक बार मेरे पर्वत शिखरों से टकरा टकरा कर मेरे अंतर में भी गूँजी थी और अब मैं उसी शाक्य सिंह की गर्जन की बात आप से कहूँगा।

कपिलवस्तु से महाभिनिष्क्रमण कर रात की नीरवता में अपने प्रिय पुत्र पत्नी को छोड़ ब्राह्मण दर्शकों के उत्तर से अतृप्त सिद्धार्थ गौतम जब अनामा पार कर कोलियों के गणतन्त्र को लाँघ गंगा की ओर वैशाली की राह चल पड़ा था तब मैं अवाक दम साधे कौतूहलपूर्वक उसका वह पदक्रम देख रहा था। गंगा लाँघ सम्बोधि की तलाश में सिद्धार्थ राजगृह पहुँचा। आलारकालाम और रुद्रकराम पुत्र के दार्शनिक वितन्वन उस सत्य की खोजी को उसका समुचित उत्तर न दे सके। क्षुब्ध अतृप्त वह मेरे राजमार्गों पर तीव्रता से निकल जाता और क्षुब्ध अतृप्त वह फिर लौट पड़ता। उसके उन्नत भाल की संकुचित रेखायें उसके हृदय की जागरूकता को प्रदर्शित करतीं पर धरा पर तब कौन वह दार्शनिक था जो उसके भीतर घुमड़ती गुत्थियों को सुलझा सकता? एक बार की कथा मुझे आज भी याद है जब वह महामना मेरी सड़कों पर प्रशान्त तेज को लिए निकल पड़ा था। मेरा स्वामी बिंम्बिसार तब राजप्रासाद की ऊँची छत पर खड़ा उसे तन्मय देख रहा था। सहसा उसके हृदय में असाधारण तरलता का उदय हुआ और प्रासाद के सोपानमार्ग से वह सहसा दौड़ पड़ा। शाक्य कुमार के सामने खड़े होते ही उसे अपने कुल की दयनीय दशा याद आई। अपने पुत्र अजातशत्रु की बगावत याद कर उसने सोचा यदि यह तेजस्वी कुमार मगध की गद्दी पर आरूढ़ हो जाय तो उसकी भावी सुरक्षा संदिग्ध न रह जायगी। वह सहसा बोल उठा—"भदन्त, आप इस नगरी के राजमार्ग पर नित्य चिन्तित क्यों भटका करते हैं और आज नित्यवत आपकी मुद्रा प्रशान्त क्यों नहीं?" उत्तर मिला—"सम्बोधि के निमित्त बाहर निकला था।

मनुष्य दुखी क्यों हैं ? उसके त्याग और तप का परिणाम दुख और मृत्यु क्यों है ? धूप और चाँदनी को मेघों की छाया मलिन क्यों कर देती है ? —इसी की तलाश में कपिलवस्तु से निकला था। आश्रमों के दर्शन में उसे ढूँढ़ता फिरा हूँ। आज स्पष्ट हो गया उनके पास मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं। जन-जन में विरोध क्यों है ? जन-जन ऊँचा नीचा क्यों है ? सब के अधिकार समान क्यों नहीं ? दुख, जरा और मरण समान हैं, कैशोर और तारुण्य समान हैं ?—बोलो राजन्, क्या कुछ तुम इनका समाधान करोगे ? भिक्षुदान के अर्थ तुम्हारे सामने खड़ा है क्या दोगे ?" चकित बिम्बिसार उस महातेजस्वी को क्षण भर देख बोला—"भद्र, सो तो न दे सकूँगा। परन्तु मगध की नित्य फैलती सीमायें आपके चरणों में डालता हूँ; इसे स्वीकार करें।" राज्यभार तो आपके फैले कंधों पर डाल मैं निर्द्वन्द्व हो जाऊँगा। परिव्राजक बोला—"सो तो न ले सकूँगा राजन्! शाक्यों का भूमि विस्तार कुछ कम नहीं, पिता शुद्धोधन का शासनक्षेत्र उससे भी विस्तृत है और यशोधरा के प्रेममय मनोराज्य का विस्तार उससे भी। तीनों को लाँघ आया हूँ, न ले सकूँगा मगध की उन नित्य बढ़ती सीमाओं का भार। मैं तो सम्यक सम्बोधी की खोज में चला।" मैं सुनता रहा। नगर के प्रासाद वातायन वह मधुमण्डित वाणी कुछ काल गुंजाते रहे। वायु के आर्द्र झोंके उस वाकविन्यास को मेरे गिरिगह्वरों में ले उड़े। मैंने ऐसा दान कभी सुना न था और न उसका परित्याग इस ओजपूर्ण आचरण में ही देखा सुना था।

देखते ही देखते मेरे दक्खिन की खड़ी ऊँचाइयाँ लाँघ गौतम महाकान्तार में उतर गया उर्बेला की ओर।

फिर जब सम्बुद्ध होकर वह मेरे नगर में लौटा तब तक घर के षड्यन्त्रों से मेरी स्थिति डावाँडोल हो चली थी। शाक्य सिंह के प्रतिद्वन्दी देवदत्त ने हमारे राजप्रासाद में एक नए धर्म का उद्घोष किया

था जो दोनों से भिन्न था। निग्र न्थ महावीर के से भी, सम्यक सम्बुद्ध के से भी। महावीर के प्रवचन बिम्बिसार ने सुने थे। अब शाक्य सिंह के सुने। दोनों के प्रति वह श्रद्धालु था परन्तु बुद्ध के बढ़ते प्रभाव ने देवदत्त के हृदय में हलचल मचा दी और जब वह बिम्बिसार के कान न जा सका तब वह उसके पुत्र अजातशत्रु के कानों जा लगा। वहाँ उसे निराशा न हुई क्योंकि राजपुत्र पिता के दीर्घजीवन से ऊब चुका था। राजदण्ड को पकड़ने के लिए वह अधीर हो उठा था और देवदत्त के अनुकूल आचरण के सिवा उसने और कोई राह न देखी। फिर क्या था, मेरी ही प्राचीरों के भीतर बिम्बिसार के उस राजप्रासाद में रक्त की व्यवस्था हुई। अजातशत्रु ने हत्यारे की छुरी अपने हाथ में ली परन्तु संयोगवश षड्यंत्र निष्फल गया और बिम्बिसार बाल बाल बच गया। मेरा प्रासाद रक्त के छींटों से कलुषित होते होते बच गया। फिर भी अन्य विधि से अजातशत्रु ने अपना हित साध ही लिया। देवदत्त का मानसिक मन्तव्य पराभव से क्षुब्ध हो उठा था। उसने नई नीति की व्याख्या की। धर्म के नाम पर हत्यारे ने विष और रज्जु हाथ में ली। बिम्बिसार अपने ही बनाए राजप्रासाद में बन्दी हो गया। शीघ्र बन्दी के उच्छ्वास हवा में विलीन हो गए। विष ने उसका काम तमाम कर दिया। उसकी कराह आज भी भग्न प्रासाद की नींव से जब तब उठकर हवा में विलीन हो जाती है। मिट्टी में मिला हुआ मैं स्वयं जब तब उस पथरीली भयव्यंजित आवाज को सुनता हूँ और धूल में मस्तक टिका देता हूँ।

अजातशत्रु मगध की गद्दी पर बैठा। पिता की मृत्यु पर उ ने जयघोष किया, उसका प्रायश्चित भी। प्रायश्चित के लिए उसने एक विशाल यज्ञ की आयोजना की जिसमें अनन्त पशुओं की आहुति दी जाने वाली थी। असंख्य पशु मेरी यज्ञशाला के प्राङ्गण में यूपों से आ बंधे और तभी वह भी आया जिसकी गर्जन ने देश के मिथ्यावादियों

के हृदय में कंप उठा दिया था—वह तथागत। राह में यज्ञशाला की ओर अपनी भेड़ें हाँकते हुए गड़रिये ने बुद्ध के आचरण पर इसलिए मुस्करा दिया था कि वह जब मेमने के हल्के घाव पर इस प्रकार द्रवित हो गया था तब अजातशत्रु के यज्ञ में अनन्त पशुओं के हवन व्यापार का उस पर क्या प्रभाव पड़ेगा, जो उस पितृहंता का ईष्ट है और तथागत् उसके अवरोध के लिए चल पड़ा था।

शीघ्र बाद जो व्यापार मैंने अपनी आँखों देखा, जो सिंहनाद अपने कानों सुना, वह मेरे वातावरण की आज भी अमिट गूँज है—"राजन्, यह क्या व्यापार है?" "तथागत, पितृहत्या का अपराधी हूँ। यज्ञ से पिता की आत्मा तृप्त होगी। मेरे पाप का शमन होगा।" पास का तिनका उठाकर तथागत ने राजा के सामने फेंक कर कहा—"राजन् तनिक इसे तोड़ो तो।" राजा ने चुटकी के कंपन मात्र से तिनका तोड़ दिया। भिक्षु बोला—"राजन्, तनिक इन्हें जोड़ो तो।" चकित अजातशत्रु आँखें फाड़ उस महायात्री को देखने लगा। पैंतीस वर्षों से जिसकी गति कहीं न रुकी थी महायात्री फिर बोला—'राजन् सूखे तृण को जोड़ने की तुझमें शक्ति नहीं और इन लाखों पशुओं को मारकर तुम क्योंकर पिता के प्रति अपराध का मार्जन कर सकोगे? यदि ऐसा ही है तो इस सम्यक सम्बुद्ध की यज्ञ में आहुति दे इष्ट सम्पन्न करो।" यज्ञ बन्द हो गया। लाख लाख यूप बद्ध पशु स्वतन्त्र हो गये। तथागत् फिर अपनी राह चला।

तथागत् लौटा। उसने उस वेणुवन में डेरा डाला जिसे दिवंगत् बिम्बिसार ने संघ के निमित्त दान कर दिया था। वज्जियों का गणतन्त्र अजातशत्रु के प्रसर में ऊँचा अवरोध था। तथागत् से अजातशत्रु के मन्त्री ने उनके पराभव का साधन पूछा। तथागत् ने कहा—"जब तक वज्जियों के गणतन्त्र की बैठकें निरन्तर अविलम्ब होती हैं, जब तक उनके वृद्धों के प्रति तरुणों की श्रद्धा बनी है, जबतक उनके विधान

परम्परा की रक्षा उनका ईष्ट है, जबतक उनमें फूट और ईर्ष्या नहीं, जब तक उनकी नारियों की इज्जत उनके दिलों में बनी है तब तक उनका पराभव सम्भव नहीं।"

अजातशत्रु ने उनमें फूट फैलाने की नीति सोची। अपने मन्त्रियों को उसने वैशाली भेजा जिन्होंने उनकी बैठकों में उनके राजकों में फूट के बीज बोये। उसके मामा चेटक ने उसके वैमात्रिक भाइयों हल्ल बेहल्ल को शरण दी थी, लिच्छवियों ने चाँदी की खान को अकेला भोगा था, अजातशत्रु ने सहसा उनपर आक्रमण किया। वैशाली जूझ कर भी हार गयी। आसपास के पड़ोस को मैंने ईर्ष्या से देखा था और उनको आत्मसात् करते मेरी मुखश्री इतनी उज्ज्वल न हुई थी जितनी अब हुई। प्राचीन काशी जब मेरे अन्तराल में आई तब निश्चय मैं सन्तुष्ट हुआ था, परन्तु वैशाली की शक्ति और गौरव स्वायत्त कर मैंने जो तृप्ति लाभ की वह सर्वथा अनुपम थी। वैशाली का पतन होते ही मेरी सीमाएँ गंगा लांघ हिमालय के चरण तक जा पहुँची। समस्त उत्तर बिहार मेरा उत्तरी प्राङ्गण बना।

अजातशत्रु गंधार के राजा कुक्कुसाति का नाती था। उसकी पुत्री क्षेमा का पुत्र था। उसकी नसों में उत्तरी दुर्द्धर्ष पठानों का रक्त प्रवाहित हो रहा था। सम्भव न था कि वह इतने से ही सन्तुष्ट हो बैठता। कोशल और वत्स से लोहा लेना उसे अभी बाकी था और उज्जैनी की बढ़ती हुई सीमाएँ बराबर उसके हृदय में शंका और भय का संचार करती थीं। जब तब वज्जियों का कांटा उसके पार्श्व में चुभता था वह चुप था, परन्तु अब जब उसने उसे अपनी बगल से निकाल फेंका था तब उसके डरने का कोई कारण न था। अब वह कोशल और काशी की ओर बढ़ा। काशी की आय उसके विमाता कोशलदेवी के दहेज में मिली थी। पिता का जब उसने खून किया था तब कोशल-

देवी ने अन्न जल छोड़ अपने प्राण दे दिये थे और तभी उसके भाई कोशल के राजा प्रसेनजीत ने क्षुब्ध होकर काशी की आय से मगध को वंचित कर दिया था। अजातशत्रु के लिये इस अपमान को निगल सकना असम्भव था परन्तु वज्जियों के पराभव तक वह चुप रहा। उस ओर से निश्चिन्त होते ही अब वह पश्चिम की ओर बढ़ा और कोशल पर उसने प्रचण्ड हमला किया। मैं युद्ध का क्रमशः ईष्ट और अनिष्ट परिणाम देखता रहा। कभी विजय श्रावस्ती की होती, कभी मेरी। अन्त में प्रसेनजित ने हार मान ली और न केवल काशी फिर मेरे अधिकार में आई बल्कि अजातशत्रु ने प्रसेनजित की कन्या वाजिरा का पाणिग्रहण भी किया।

प्रसेनजित स्वयं अपने राज्य में सुखी न था। उसके पुत्र विरूडभ के विद्रोह ने उसे दुर्बल कर दिया था। पुत्र के विद्रोह में उसका मन्त्री दीर्घधारायण भी सम्मत था और दोनों के षड़यन्त्र ने पिता को सर्वथा दुखी और कमजोर कर दिया। इनके अतिरिक्त श्रावस्ती के जंगलों में अंगुलिमाल ने जो उपद्रव कर रखा था, वह उस राज्य को ध्वस्त करने में कुछ कम सिद्ध न हुआ। मैं अपने गौरव से दिन दिन सन्तुष्ट होता जा रहा था। पर अवन्ती को बढ़ती हुई सीमायें मेरे लिये कुछ कम अन्देशे की बात न थी। प्रसेनजित से तो छुटकारा हो गया था। विशेष कर जब पुत्र के गद्दी हड़प लेने से वह गरीब राजा मदद के लिये मेरी ओर बढ़ा और श्रम तथा भूख से क्लान्त उसने मेरे ही सिंहद्वार पर अपना दम तोड़ दिया। प्रभावशाली तक्षशिला के उस स्नातक और सुसंस्कृत बुद्धमित्र प्रसेनजित को अपने द्वार की भूमि चूमते मैं कुछ कम दुखी न हुआ, परन्तु राजनीति को अपना अखाड़ा बनाने वाले राजाओं और राजधानियों को उसमें गिरने वाले व्यक्तियों का कब मोह रहा ?

अवन्ती की सीमायें बढ़ती जा रही थीं। उनसे मुझे भी डर था और जब चण्ड प्रद्योत महासेन ने उज्जैनी में बैठे ही बैठे यान्त्रिक हाथी के सहारे कामुक उदयन को बन्दीकर कौशाम्बी पर अधिकार कर लिया, तब तो अजातशत्रु के हृदय में शंका और दृढ़ हुई और यद्यपि उदयन-प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता को हर कर कोशाम्बी फिर लौटा अजातशत्रु को उज्जैनी के डर से मेरी प्राचीरें मजबूत करनी ही पड़ीं। अजातशत्रु का गौरव मेरा गौरव था, उसके अनौचित्य पर मैंने आँसू नहीं बहाये परन्तु उसके बाद ही यद्यपि मगध दिनों-दिन बढ़ता गया, मेरी मृत्यु की घड़ियाँ धीरे-धीरे पास आने लगीं। अजातशत्रु के बाद मेरी शक्ति को बड़ा धक्का लगा क्योंकि यद्यपि उसका पुत्र दर्शक और पौत्र उदायी हमसे सम्पर्क बनाये रहे मुझ राजगृह का गौरव शीघ्रता से मैदानों में गंगा शोण के कोण में नये खड़े होते पाटलिपुत्र के भवन कंगूरों की ओर बह चला।

पाटलि के लाल फूलों के गाँव में तथागत ने अनेक प्रवचन दिये थे। वहीं माझियों की आजादी हटाकर उदायी भट्ट ने एक नई राजधानी का निर्माण आरम्भ किया। पुराने भला किनको भाते हैं! मेरा कलेवर यद्यपि सचमुच नया था परन्तु जीर्ण गिरिव्रज के सम्पर्क से निश्चय जीर्ण का आभास देता था। उसका नवीकरण नितान्त आवश्यक था परन्तु उससे कहीं आवश्यक उस नये केन्द्र की थी जो मध्यदेश के मैदानों में फैलती मगध की सीमाओं का नेतृत्व कर सकता। पाटलिपुत्र उसी की पूर्ति के लिये उठ खड़ा हुआ और मेरा गौरव सहस्रगुना बढ़कर उसके प्रासादों में पैठा।

अब मैं वीरान हो चला था परन्तु कुछ ही काल बाद एक बार फिर एक सामरिक ने मेरी ओर दृष्टि फेरी। अमात्य शिशुनाग ने सहसा हर्यंक कुल का नाश कर लिया और मगध के बढ़ते साम्राज्य पर अधि-

कार कर लिया। काशी पर तो उसने एक प्रान्तीय शासक नियुक्त किया और राजधानी उसने फिर मेरी प्राचीरों के पीछे सुरक्षित की। फिर भी उसका यह व्यापार दीपक की उस अंतिम लौ की तरह थी जो प्रायः मृत्यु का सूचक होती है। वस्तुतः मेरा वैभव फिर न लौटा और आगे मेरी कहानी दुःख दर्द की है, ईर्ष्या और बर्दाश्त की। उत्तर दिशा में मेरा प्रतिद्वन्दी पाटलिपुत्र नित्य नये उत्कर्ष में कदम उठाता गया और नित्य उठते कदमों के नीचे भारत के प्रान्त के प्रान्त कुचलते गये। समय समय पर उसके विरुद्ध जनता के आचरण हुए परन्तु उसने अपने शक्तिमान हस्तिपदों से उन विद्रोहों को कुचल ही डाला। पाटलिपुत्र का आचरण स्वेच्छाचारी निरंकुश विजेता का आचरण रहा है और मैं दूर से उसके रक्तरंजित व्यापार देखता रहा हूँ।

जब विदेशी ग्रीक दिमित ने पाटलिपुत्र में विजय हुंकार के साथ प्रवेश किया तब मुझे कुछ ढाढस बँधा। मेरी इर्ष्या वृत्ति को कुछ सन्तोष मिला, जब सोमशर्मन पाटलिपुत्र से भाग मेरे पहाड़ियों के पीछे गया के महाकान्तार में उतर गया तब मैंने व्यंग की हँसी हँसी, जब लोहिताक्ष अम्लात ने पाटलिपुत्र की सड़कों पर जनता के क्रन्दन के साथ रक्त का ताण्डव किया तब मैं भी मुस्करा पड़ा यह जानता हुआ कि यह अनुचित है। पर निश्चय ईर्ष्या उचित-अनुचित नहीं जानती।

धीरे धीरे छठवीं सदी से उस महा विद्यापीठ का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ जो नालंद में मेरी ही छाया में खड़ा हुआ। यद्यपि राजनीति का वैभव अब मुझसे दूर हो चुका था। यह सांस्कृतिक गौरव मेरी प्रसन्नता का विशेष कारण हुआ। गुप्तों के डाले बीज ने बढ़कर हर्ष के समय में और कुछ पीछे विशाल बट वृक्ष का रूप धारण किया। अनन्त दिशाओं से भारत और विदेश के कोने कोने से विद्यार्थी और आचार्य इस विशिष्ट विहार के शरणार्थी हुए। मेरी भग्न प्राचीरों को उन्होंने उत्सुकता जिज्ञासा

और श्रद्धा के साथ देखा मैं भी पुलकित हुआ परन्तु मेरा यह सांस्कृतिक वैभव ही बहुत दिनों जीवित न रह सका। उसको जीवित रखने में मैंने भी अनेक उपाय किये थे। बंगाल के देवपाल ने उस विद्यापीठ को समृद्ध करने के लिये जब मेरी ओर देखा तब मैंने अपने चार गाँव उसे प्रदान किये परन्तु उस बनैले बख्तियार को क्या पता था कि मेरा रग रग नालंद के प्रकाश से आलोकित है। उसने उसके ग्रन्थागार में आग लगा दी और ब्राह्मणों को तलवार के घाट उतार दिया। आचार्यों ने दक्षिण भारत और तिब्बत में शरण ली। नालंद वीरान हो गया और अब नलांद और मैं दोनों ही अपने भग्न इतिहास को लिये अन्तर मुख हो औंधे पड़े हैं। दोनों एक दूसरे को देख सन्तोष लाभ करते हैं। मेरी ईर्ष्या अब अभितृप्त है क्योंकि यद्यपि पाटलिपुत्र पटने के नाम से आज भी बिहार की राजधानी है, फिर भी सन्तोष है कि मगध के उस साधारण साम्राज्य की राजधानी का गौरव फिर लौट कर उसके प्रासादों में न बसा। यह भी सन्तोष की बात है कि मुझे जो देखता है, मेरे विगत गौरव की बात सोचता है पर पाटलिपुत्र को जो देखता है उसकी दुर्गन्धयुक्त गलियों के बाद फिर कुछ नहीं सोचता। मैं अपनी वन्य परित्यक्त परिस्थिति से परितुष्ट हूँ।

उज्जयिनी

मैं भी प्राचीना हूँ। काशी, कांची, अयोध्या के साथ भारत की सात प्राचीन नगरियों में मेरी भी गणना है। मैं अवन्ती से उज्जयिनी कब और कैसे बनी, यह मुझे याद नहीं। परन्तु इतना कहूँगी कि भारत में यद्यपि नगर एक से एक हैं परन्तु जितनी उथल-पुथल मेरी स्थिति में हुई है, जितना बदलता हुआ जमाना मैंने देखा है, उतना शायद ही किसी और ने देखा हो।

मुझे देशी विदेशी दोनों स्वामियों ने भोगा है! मेरे आँगन में राज्य और गणतन्त्र दोनों खड़े हुये हैं। देशी विदेशी प्रभुओं ने आपस में चाहे जितने जंग किये हों, मेरे कलेवर को उन्होंने बराबर बढ़ाया है और उसे बढ़ा कर मेरी 'विशाला' संज्ञा सार्थक की है। प्रद्योत और नन्द, मौर्य और शुंग, मालवा और शक, वाकाटक और गुप्त, हूण

और राष्ट्रकूट, प्रतिहार और परमार सब ने सदियों के दौरान में मेरे प्रासादों में अपना आवास बनाया है, सब ने अपनी शक्ति का आधार मेरी समृद्धि को बनाया है।

मैं कितनी प्राचीना हूँ, यह मैं नहीं कह सकती, परन्तु ईसा से प्रायः सात सौ वर्ष पहले, प्रायः तभी जब पश्चिम में रोम की नींव पड़ी थी मेरी शक्ति भी खुल कर फैल चली। निश्चय यह मेरा आरम्भ न था, आरम्भ तो सुदूर अतीत में कब का हो गया था, वह वस्तुतः मेरा वह शक्तिम काल था जब मेरे प्रसर का बालसूर्य क्षितिज पर उठ चला था। सातवीं सदी ईस्वी पूर्व में प्रद्योतों का कुल प्रतिष्ठित हुआ और धीरे-धीरे वह अपनी शक्ति का संचय करने लगा। मगध का साम्राज्य निश्चय पुराना था परन्तु जब शैशुनागों ने महाभारत काल के बार्हद्रथों का अन्त कर गिरिव्रज से गौरव छीन अपनी नई राजधानी राजगृह को दी तब मेरा राजकुल भी अपने साम्राज्य का स्वप्न देखने लगा था और तभी से मेरे इतिहास के अध्याय काल ने जो लिखने आरम्भ किये वे आज भी मेरे आँखों के सामने हैं। मैं प्रद्योतों का धीरे-धीरे उठना देख रही हूँ और देख रही हूँ उत्तरी भारत के उन प्रख्यात राजकुलों की पंक्ति में उसका खड़ा होना जो राजगृह, श्रावस्ती और कौशाम्बी में कब के प्रतिष्ठित हो चुके थे। राजगृह के शैशुनाग, कौशल के इक्ष्वाकु और कौशाम्बी के वत्स इतिहास में काफी प्रसिद्ध हो गए हैं। उन्हीं की श्रेणी में प्रद्योतों का राजकुल जब बुद्ध के जीवनकाल में जा खड़ा हुआ तब वस्तुतः शंकित वह न था वरन् उत्तर भारत के ही राजकुल ही शंकित थे।

तब मेरा प्रभु चण्डप्रद्योत महासेन अपनी कठोरता और सैन्य शक्ति दोनों के कारण विशेष प्रसिद्ध हुआ। आस पास की भूमि पर उसने पूरा अधिकार कर लिया और अब वह उत्तर को भी जीतने के स्वप्न देखने लगा। उत्तर का जीतना कुछ आसान न था, परन्तु आशा इससे हो

आई थी कि तीनों राजकुल सदा आपस में टकरा रहे थे। कौशल उत्तर में था अधिक दूर, प्रद्योत ने इसलिए पहले कौशाम्बी और मगध के साथ निपट लेने का निश्चय किया। उसकी प्रसर नीति से उसकी उत्तरी सीमा वत्स की दक्षिणी सीमा के जंगलों से जा लगी थी। पड़ोसी प्रकृत्य शत्रु होते हैं इससे मेरे और कौशाम्बी के संबन्ध में क्षोभ होना स्वाभाविक और अनिवार्य था। एक एक क्षण युद्ध का अन्देशा लगा रहता था और दोनों राज्यों की सेनाएँ बराबर एक दूसरे पर टूट जाने को सन्नद्ध रहती थीं। पर वत्स के राजा उदयन को जीतना कुछ खेल न था। यद्यपि विलासी के रूप में वह प्रसिद्ध था, वीणावादन में परम निपुण उदयन के हाथ जिस प्रकार उसकी वीणा के तारों पर अबाध गति से दौड़ते थे उसी प्रकार उनमें निरन्तर शस्त्र संचालन की भी अद्भुत क्षमता थी। हार कर मेरे स्वामी ने छल का प्रयोग निश्चित किया और कृत्रिम हाथो के जरिये वत्स के उदयन को कैद कर लिया। कौशाम्बी पर कुछ महीनों के लिये मेरा अधिकार हो गया और मेरी शक्ति से बिम्बिसार के पुत्र मगधराज अजातशत्रु को इतनी शंका हुई कि उसने घबड़ा कर अपनी राजधानी की प्राचीरें सुदृढ़ करा लीं, परन्तु प्रद्योत के हाथ फँसे थे और वत्स पर पूरा अधिकार जमा लेने के पहले मगध की ओर बढ़ना उसने मुनासिब न समझा। उदयन को उसने अपनी कन्या वासवदत्ता को वीणावादन में निपुण करने के लिए शिक्षक नियुक्त किया परन्तु वत्स राजा वासवदत्ता को ले भागा और कौशाम्बी सहसा फिर स्वतन्त्र हो गई। उदयन के उत्कट शौर्य से प्रभावित हो कर प्रद्योत ने वत्स की ओर से अपना हाथ खींच लिया।

परन्तु मेरा और कोशाम्बी का संघर्ष चलता रहा। कभी वह जीती, कभी मैं और अन्त में मैंने उसे दबोच लिया। पालक ने उस पर अधिकार कर लिया, यद्यपि घर की लड़ाई मेरे यहाँ भी कुछ मामूली न थी।

गोपाल पुत्र आर्यक ने पालक से मुझे छीन लिया यद्यपि वह स्वयं मुझे भोग न सका। प्रद्योतों का अन्तिम राजा अवन्तिवर्द्धन था जिसे महापद्मनन्द की सर्वक्षत्रांतक चोट सहनी पड़ी और मैं नन्दों की चेरी हो गई।

नन्दों का चाणक्य की मदद से सर्वनाश कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने जब मगध का साम्राज्य प्रान्तों की नित्य की जीत से दिन-दिन बढ़ना शुरू किया तब मैं विशेष प्रकार से पाटलिपुत्र की आश्रिता होकर भी प्रसिद्ध हुई। मगध का साम्राज्य इतना फैल गया था कि एक राजधानी से उसका शासन ईसा पूर्व चौथी सदी में सम्भव न था और उसके लिये उसे अनेक शासन केन्द्र स्थापित करने पड़े। पश्चिमी प्रान्तों का जिसमें गुजरात सौराष्ट्र तक शामिल थे, शासन केन्द्र मैं बनी। बिन्दुसार के समय जब इन केन्द्रों के राजकुल के कुमार प्रान्तों पर शासन करने लगे तब मेरे प्रासाद में उस अशोक ने निवास किया जिसका नाम संसार के प्रतीक सम राजाओं में गिना जाने वाला था। तब उसका कुशल शासन राजकुमारों के लिये दृष्टान्त बन गया। तक्षशिला में उसका बड़ा भाई सुसीम शासक था और जब वहाँ के दुर्धर्ष जातियों ने विद्रोह किया और उसे सुसीम सम्भाल न सका, तब बिन्दुसार ने उसके दमन के लिये मेरे शासक अशोक को ही वहाँ भेजा। अशोक ने विद्रोह शान्त कर दिया और मेरी ख्याति तक्षशिला के ऊपर प्रतिष्ठित हुई। मेरी ही भाँति मौर्यों के तब दो और शासन केन्द्र थे, उत्तर में तक्षशिला और दक्षिण में सुवर्ण-गिरि जिनसे मेरी स्पर्द्धा होती रहती थी। अशोक जब राजा हुआ तब भी वह मुझे भुला न सका और उसके उत्तराधिकारी सम्प्रति ने तो मुझे प्रायः अपनी राजधानी ही बना ली।

वास्तव में मेरी स्थिति कुछ ऐसी थी कि मुझे भुलाया जा ही नहीं सकता था। राजनीति तो मेरी प्रबल थी ही परन्तु उससे बढ़कर मेरी अर्थनीति थी जो सदा राजनीति का आधार रहा करती है और रहती

आई है। मैं उस समय एशिया की आर्थिक दृष्टि से राजधानी थी, मेरी समृद्धि का मुकाबला तब का कोई नगर, पाटलिपुत्र तक नहीं कर सकता था। मैं उस काल के संसार की सबसे बड़ी मन्डी थी। वाणिज्य का केन्द्र इतना बड़ा दूसरा न था। चीन और द्वीप समूहों से ताम्रलिति से होकर आने वाला सारा वाणिज्य मेरे ही बाजारों में टूटता था। रोम, मिश्र, बाबुल और अरब की ओर से कल्याण शूरपारक और भृगुकच्छ से होकर आने वाला सारा तिजारती सामान मेरी ही सड़कों पर उतरता था। इसी प्रकार उत्तरापथ और मध्यएशिया के सारे स्थल मार्ग मेरे ही आँगन में समाप्त होते थे। प्रशस्त वणिकपथ मेरे आधार से उठकर कौशाम्बी की राह एक ओर मथुरा तक्षशिला की ओर जाते थे, दूसरी ओर काशी पाटलिपुत्र की ओर। तीसरी ओर कलिंगपत्तन ताम्रलिति की ओर और चौथी ओर पश्चिम के समुद्र तट की ओर। मैं इन वणिक पथों की निस्सीम स्वामिनी थी। अशोक का पाटलिपुत्र का निरन्तर मेरी ओर आँख लगाए रखना स्वाभाविक ही था।

अशोक के बाद मौर्यों का साम्राज्य जो बिखरा तो बिखरे प्रान्तों पर अधिकार के लिए देश के छोटे बड़े राजाओं में संघर्ष छिड़ गया। परन्तु उसकी बात न कह इससे पहले मैं उस राजनीति की क्षण भर कहानी कहूँगी जिसके परिणामस्वरूप मेरा अवन्ती नाम बदल कर मालवा हो गया।

पंजाब अति प्राचीन काल से गणतन्त्रों की आधार-भूमि रहा है। उन्हें एक बार ईरानी सम्राट दारा ने पराभूत कर दिया था फिर ग्रीक विजेता सिकन्दर ने और फिर अन्ततः चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा की चोट से छिन्न-भिन्न कर दिया था। उन्हीं गणतन्त्रों में मालव क्षुद्रकों के गणतन्त्र भी प्रसिद्ध थे। मालवों ने जो हँसिया और तलवार दोनों एक साथ धारण करते थे, सिकन्दर की राह अपने चप्पे-चप्पे जमीन पर रोकी थी। सिकन्दर का हमला तो उन्होंने बर्दाश्त कर

लिया परन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य का विधान उनकी बर्दाश्त और परम्परा से बाहर था। वे उसे सह न सके। उन्होंने अपना रावी तट का आधार छोड़ कर राजपूताने के झाड़खण्ड में चला जाना निश्चित किया। पूर्वी राजपूताने की राह वे दक्षिण की ओर चले। इसी बीच एक और घटना घटी जिसका प्रभाव न केवल मध्यएशिया वरन् सारे भारत पर पड़ना था। जातियों के परस्पर टकरा जाने से टूट कर शक नामक जाति अपने आधार से उठ सिन्ध देश में बस गई थी। इसी काल वह अवन्ती में आ-बसी और उसने इस प्रदेश को जीत कर मेरे नगर में एक नए विदेशी राज-कुल का प्रारम्भ किया। अभी कुछ ही दिनों उनको इस देश में आए हुआ था कि उन पर मालवों की बिजली गिरी। मालव स्वयं राजपूताने की राह अवन्ती की ओर बढ़ते आ रहे थे। अपने मुखिया विक्रमादित्य के नेतृत्व में उन्होंने शकों पर आक्रमण किया और उन्हें हराकर अवन्ती से उखाड़ फेंका। मालवों ने स्वयं इस देश में बस कर उसका नामकरण फिर से किया। अब मैं उनके नाम से मालवा कही जाने लगी। मालवों ने मुझे एक नया संवत् भी दिया, मालव संवत् जो शकों के ऊपर उनकी विजय का स्मारक था। ईसा से प्रायः ५७ वर्ष पूर्व उस मालव संवत् का प्रारम्भ हुआ जो प्रायः आठ सौ वर्ष बाद मालवों के उस मुखिया विक्रमादित्य की विजय से संबंधित होने के कारण विक्रम संवत् कहलाने लगा। मालवों का गणतन्त्र मालवा में प्रतिष्ठित हुआ तो सही पर जम न सका और यद्यपि वे कुछ काल उसके स्वामी बने रहे, उनके हाथ से बाढ़ की तरह बढ़ती आने वाली शकों की धाराओं ने शक्ति छीन ली। अब तक भारत में प्रायः एक साथ ही शकों के पाँच राजकुल प्रतिष्ठित हो चुके थे—सिन्ध में, तक्षशिला में, मथुरा में, महाराष्ट्र में और अब मुझ उज्जयिनी में। मौर्यों के बाद शुंगों के आरम्भ ने पहले मगध को बाख्त्री ग्रीकों ने रौंद डाला था। शुंग जो उनके बाद वहाँ सम्राट के रूप

में प्रतिष्ठित हुए, मेरे ही पड़ोसी विदिशा के रहने वाले थे और सेनापति पुष्यमित्र के बेटे अग्निमित्र ने विदिशा से ही विदर्भ को जीता था। शुंगों के बाद कण्व आए थे और उनके बाद आन्ध्र सातवाहन। परन्तु तभी शकों के नेता लोहिताक्ष अम्लात ने मगध के प्रान्तों को कुचल कर बिखेर दिया। उसी काल में शकों की दूसरी धारा ने मुझे आप्लावित कर, मेरे नगर में यसामोतिक का राजकुल स्थापित किया।

यसामोतिक का शक राजकुल उज्जयिनी के क्षत्रप राजकुल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस कुल के गौरव का प्रतिष्ठाता यसामोतिक का पुत्र चष्टन था। चष्टन का सम्बन्ध मथुरा के शक राजकुल से भी था। चष्टन ने मेरे नगर के आधार से अपने राज्य का विशेष विस्तार किया और मालवा की शक्ति पश्चिमी भारत के प्रसिद्ध राजकुलों में गिनी जाने लगी। चष्टन का पुत्र जयदामन हुआ परन्तु उसकी शक्ति विशेष समादृत नहीं हुई और इस कुल की समृद्धि वस्तुतः उसके पुत्र रुद्रदामन् ने बढ़ाई।

रुद्रदामन इस कुल का सर्वश्रेष्ठ नृपति था और गौतमी पुत्र श्री-सातकर्णी ने मेरे जिन प्रान्तों पर कब्जा कर लिया था उनको तो उसने छीन ही लिया, उनके अतिरिक्त आन्ध्रों के अन्य प्रान्त भी उसने स्वायत्त कर लिए। उस काल आन्ध्रों का राजा वाशिष्ठि पुत्र श्री पुलमावि था जिसने रुद्रदामन की कन्या को ब्याहा था। परन्तु वैवाहिक सम्बन्ध राजनीतिक प्रसर में बिरले ही बाधक होते हैं और शकराज को अपने ब्राह्मण जामाता के अनेक भूखण्ड छीनते जरा भी संकोच न हुआ। मेरी सीमाएँ बढ़ चलीं। सातवाहनों के उत्तरी सूबों के अतिरिक्त गुजरात, सौराष्ट्र, कर्नाट और राजपूताने के अनेक भाग भी मेरी सत्ता में शामिल हो गए। रुद्रदामन ने न केवल इन्हीं देशों को अपने हाथ में किया वरन् उसने दृप्तयौधेयों को भी परास्त किया।

उसके शासन काल में एक प्रसिद्ध बात यह हुई कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में खुदी गिरनार पर्वत की सुदर्शन झील के बन्ध टूट गए। उनकी रुद्रदामन के सौराष्ट्र शासक कुलैप पुत्र सुविशाख ने फिर से मरम्मत कराई और इस निमित्त उसने प्रजा पर किसी प्रकार का कर न लगाया।

इसी काल विशेषतः मैं भारतीय ज्योतिष का केन्द्र बनी। ताराओं की गति-विधि का निरीक्षण मेरे ही आधार से होने लगा। पंचाङ्गों का निर्माण भी मेरे ही नगर का विशिष्ट माना जाने लगा। और ज्योतिष के क्षेत्र में ग्रीक और रोमक विदेशी प्रभावों को भी तब के हिन्दुओं ने अपने शास्त्र में स्थान दिया। ग्रीक ज्योतिष के अनेक सिद्धान्त, पारिभाषिक शब्द और राष्ट्र चक्र आदि भारतीय ज्योतिष में मेरे ही नगर में स्वीकृत हुए। राशि चक्र तो वास्तव में ग्रीकों का भी नहीं था। उन्होंने उसे बाबुली ज्योतिष से लिया था। इसी प्रकार होड़ाचक्र जो जन्मपत्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसी ग्रीक दिशा से मुझे मिला। यद्यपि उसका आरम्भ भी ग्रीकों में न हुआ था, मिश्रियों में हुआ था जिनसे सूर्य के लिए ग्रीकों ने पहले पहल होरस शब्द सीखा। शक होने के नाते विदेशी ज्ञान को स्वीकार करने में रुद्रदामन या उसके पूर्वजों और वंशधरों में ब्राह्मणों की भाँति संकोच न था। यह विशेष प्रशंसा की बात है कि जिन मेरे शक स्वामियों को ब्राह्मणों ने म्लेच्छ और घृणित समझा उन्होंने ही उनकी संस्कृति भाषा की प्रगति में अपना अप्रतिम योग दिया। आश्चर्य की बात है कि जहाँ ब्राह्मण सातवाहनों ने अपने लेख प्राकृत में खुदवाए, म्लेच्छ शकों ने शुद्ध संस्कृत में और रूद्रदामन का द्वितीय शती ईस्वी के मध्य में लिखा गिरनार वाला लेख तो संस्कृत गद्य की पहली शुद्ध निखरी हुई शैली प्रस्तुत करता है। सुबन्धु बाण और दण्डी की वाक्य परम्परा को

अनेकार्थ में उस गिरनार की शैली से सीखना है। रुद्रदामन का यह सांस्कृतिक योग सदा भारतीय संस्कृति के विद्यार्थियों को उपकृत करेगा।

रुद्रदामन के बाद मेरे शक राजकुल में दुर्बल नृपतियों का शासन हुआ और एक के बाद एक कमजोर नृपति मेरे स्वामी होने लगे। इसी काल मेरे पश्चिमी जगत में आभीरों की आँधी आई और मेरे प्रान्त तितर-बितर हो गए। रुद्रदामन की अर्जित पृथ्वी की रक्षा करने या भोगने वाला न रहा। जब आभीरों का उत्थान मेरी दिशा में हुआ प्रायः तभी मगध और अन्तर्वेद में उस नई शक्ति का जन्म हुआ जिसे भावी भारत की राजनीति का नेतृत्व दीर्घ काल तक करना था और जिसकी बढ़ती हुई शक्ति मेरे ऊपर भी शीघ्र ही हावी होनी थी, गुप्त सम्राटों की।

मेरे राजकुल का अन्तिम नृपति रुद्रसिंह तृतीय हुआ। अपने निकट के पूर्वजों से कहीं अधिक उसमें शक्ति थी और कुछ मात्रा में उसने अपने कुल की विगत शक्ति लौटा ली। उसकी महत्वाकांक्षा इतनी बढ़ी कि उसने मगध पर भी अधिकार करने का स्वप्न देखना शुरू किया और कम से कम कुछ काल के लिए मगध राज को शंकित कर ही दिया। वास्तव में मगध के सूर्य पर वह राहु बनकर कूदा और यदि तरुण चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) ने उसे मार न डाला होता तो वह निश्चय समुद्रगुप्त की दिग्विजय पर स्याही पोत देता। फिर भी जो कुछ उसने किया उसने गुप्तों के सम्मान में कम बट्टा न लगाया। शक-मुरुण्डों शाहीशाहानुशाहियों और अन्य विदेशी राजपूत शक्तियों को संगठित कर वह सहसा मथुरा की ओर से अन्तर्वेद के पश्चिमी द्वार पर जा खड़ा हुआ। समुद्रगुप्त शीघ्र ही मर चुका था और यद्यपि उसने अपनी पृथ्वी की रक्षा के लिए अपने कनिष्ठ पुत्र चन्द्रगुप्त को चुना था परन्तु उसके मरने पर बड़े होने के अधिकार से उसका बड़ा बेटा रामगुप्त

मगध की गद्दी पर बैठा। रामगुप्त कमजोर और कायर था जिसमें अपने पिता की जीती पृथ्वी को संभाल सकने की ही शक्ति न थी, शकों के आक्रमण से वह इतना आतंकित हो उठा कि उसने उनके मनमानी सन्धि की शर्तें चुपचाप मान लीं। अपनी आजादी और राज्य के बदले जो मूल्य देना उसने स्वीकार किया, वह कायरता का अप्रतिम दृष्टान्त है। उसकी पत्नी ध्रुवदेवी अपने सौन्दर्य के लिए विख्यात है। रुद्रसिंह ने उसको भी संधि की शर्तों के अनुकूल माँगा और उसके पति रामगुप्त ने उसे शकराज के हवाले कर देना स्वीकार कर लिया। ध्रुवदेवी ने जब यह सुना तब वह अत्यन्त उद्विग्न हो युवराज चन्द्रगुप्त के पास पहुँची और उससे उसने अपनी लाज की रक्षा की प्रार्थना की। तरुण चन्द्रगुप्त को वैसे भी वह अपमान खटका था और उसने शकराज से बदला लेने का उपाय सोच लिया। ध्रुवदेवी के वेश में वह एक छोटी रक्षक सेना लिए शकों के स्कन्धावार में पहुँचा और वहाँ उसने रुद्रसिंह को मार डाला। शकों में भगदड़ मच गई और गुप्त वंश की लाज बची। चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी और मगध की गद्दी दोनों पर अधिकार कर लिया। रुद्रसिंह मर तो गया परन्तु शकों की प्रभुता मालवा और मेरे नगर में बनी रही। यह प्रभुता फिर भी कुछ ही दिनों ठहर सकी। चन्द्रगुप्त द्वितीय जो अब मगध की गद्दी पर था और जिसने अपने कायर भ्राता रामगुप्त का नाम सिक्कों अभिलेखों तथा गुप्त वंशावली से भी मिटा दिया था जागरूक और दूरदर्शी नृपति था। महत्वाकांक्षा भी उसमें पिता की ही भाँति कूट-कूट कर भरी थी और उसने राहु स्वरूप शकों को खतरे की दूरी से सदा के लिए निकाल देने का व्रत किया। मावला और मगध के बीच वाकाटक ब्राह्मणों का राज्य था। उनके राजपुत्र से अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता को ब्याह वाकाटकों को मित्र बना उनके राज्य में अपनी सेना का मार्ग बना, शकों

में आ टूटा और शीघ्र उन्हें कुचल डाला। चन्द्रगुप्त की संहारक नीति साधारण न थी। प्रतिद्वन्द्वी को हराकर छोड़ देना उसकी नीति न थी और उसने शकों को मालवा से बाहर निकाल दिया। उसकी इस नीति के कारण ही उसे शकारि विक्रमादित्य का विरुद मिला। मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र सभी अब मगध साम्राज्य में समा गए और पश्चिमी समुद्रतट पर विदेशों से होने वाले वाणिज्य का लाभ अब मगध को होने लगा। मैं स्वयं संसार के वाणिज्य का प्रमुख केन्द्र थी और मेरी समृद्धि अब पाटलिपुत्र की समृद्धि हुई।

मेरी महत्ता मगध सम्राट ने भी मानी और मुझे विशेष आदर दिया। मुझे अपने साम्राज्य की उसने दूसरी दक्षिणी राजधानी बनाई और यद्यपि पाटलिपुत्र उसका राजनीतिक केन्द्र था, साम्राज्य का व्यापारी और सांस्कृतिक केन्द्र मैं ही थी। अनेक बार उसने मेरे प्रासादों में अपने दरबार किए। अनेक बार उसके नवरत्न यहाँ पधारे। गुप्त काल के उस स्वर्ण युग की अनेक ऊँचाइयाँ मेरे ही नगर में उस काल के इतिहास ने छू लीं। कालिदास मुझसे थोड़ी ही दूर पर रहता था और उसने अलका की ओर जो अपना मेघदूत भेजा तो मेरी नगरी का महत्त्व वह न भुला सका और वह यद्यपि मेरा रास्ता अलका जाने वाले मेघ के लिए कुछ टेढ़ा पड़ता था उसने फिर भी मेरी ओर भेजा। उसने कहा भी तू उज्जयिनी स्वर्ग का पृथ्वी पर उतरा हुआ खण्ड है, वहाँ महाकाल के प्राचीन मन्दिर में चँवर लिए नर्तकियाँ सदा अपने घुँघरुओं से मन्दिर का वातावरण निनादित रखती हैं, वहाँ के ऊँचे भवन विश्राम के आवास हैं, शिप्रा के तट पर कोविदवृद्ध उदयन की कथा कहते हैं—उज्जयिनी की चपलांगी कामिनियों के कटाक्ष से वंचित रहा उसका जीवन निरर्थक है।

हूणों की अनेकानेक धाराओं ने जब गुप्तों की शक्ति तोड़ दी और उनके साम्राज्य के प्रान्त बिखेर दिए, तब मैं भी उससे दूर जा पड़ी और

मेरे ऊपर भी हूणों का अधिकार हो गया। उनके नेता तोरमाण ने मालवा पर अधिकार कर लिया। परन्तु शीघ्र यशोधर्मन् ने उसके पुत्र मिहिरकुल को मालवा से निकाल दशापुर (मन्दसोर) में अपनी प्रशस्ति के वाहक स्तंभ को खड़ा किया। लौहित्य से समुद्र तक की भूमि के राजा उसके चरण छूने लगे।

हूणों की चोट से मगध का गुप्त कुल जब जर्जर हो गया तब उसकी एक शाखा मेरे नगर में आ बसी और उसने मालवा के एक भाग पर अधिकार कर लिया। मेरी नगरी फिर यशोधर्मन् के बाद स्वदेशी नृपतियों द्वारा शासित होने लगी और देवगुप्त ने तो जो गौढ़ के नृपति शशांक से मैत्री की तो कन्नौज के राजाओं की जान के लाले पड़ गए। उसने हर्ष के बड़े भाई राज्यवर्द्धन को मरवा डाला और मौखरियों के अन्तिम राजा को मार कर कुछ काल के लिए कन्नौज पर अधिकार कर लिया यद्यपि वह हर्ष की बढ़ती ताकत से नष्ट हो गया। मैं फिर भी अपनी आजादी बनाए रख सकी।

अब एक नई शक्ति ने भारत में प्रसिद्धि पाई। वह शक्ति गुर्जर प्रतिहारों की थी। देश में तीन प्रबल शक्तियाँ पाल, राष्ट्रकूट और प्रतिहार थे। प्रतिहार मारवाड़ में मन्दोर के आधार से उठे थे और उनके नृपति वत्सराज ने मुझ पर अधिकार कर लिया। वत्सराज को राष्ट्रकूट नृपति की चोट से भागना पड़ा और मैं राष्ट्रकूटों के अधिकार में आई। इस काल का मेरा इतिहास छीनाझपटी का इतिहास है और मैं कभी राष्ट्रकूटों, कभी प्रतिहारों के अधिकार में आती-जाती रही। वत्सराज के पुत्र नागभट्ट द्वितीय ने जब कन्नौज को जीत उसे अपनी राजधानी बनाई तब फिर एक बार मैं प्रतिहारों के कब्जे में आ गई। शीघ्र राष्ट्रकूटों ने मुझे छीन लिया। नागभट्ट के पुत्र मिहिरभोज ने एक बार सहसा मुझपर आक्रमण किया और मेरे परवर्ती प्रदेश को रौंद कर मुझे भी लूटा।

महेन्द्रपाल प्रथम महीपाल, महेन्द्रपाल द्वितीय आदि फिर फिर मुझ पर अधिकार करते रहे यद्यपि उन्हें बराबर राष्ट्रकूटों से मेरे लिए लोहा लेना पड़ा। इस छीना झपटी में मेरी जो दुर्गति हुई उसका अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है।

दसवीं सदी के आरम्भ में एक नया राजकुल मेरी नगरी में प्रतिष्ठित हुआ। वह था उन परमारों का जिनके वंशधर वाक्पति राजमुंज और भोज पिछली हिन्दू संस्कृति के रक्षक और उसके निर्माता हो गए हैं। इस राजकुल के उठने के समय मेरी नगरी में प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के प्रतिनिधि शासक रहा करते थे। कृष्णराज उपेन्द्र ने एकाएक बाहरी शक्ति को उखाड़ मालवा में स्वतंत्र परमार वंश की सत्ता स्थापित की। मैं फिर स्वतंत्र राजधानी हुई और मेरी शक्ति की पुनः प्रतिष्ठा सियकहर्ष ने की। उसने राष्ट्रकूटों का पराभव ही न किया वरन् खोट्टुग को मार राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेत पर अधिकार कर लिया।

उसी सियकहर्ष का पुत्र यशस्वी मुंज था। मुंज अपने साहस, अपनी साहित्य प्रियता और उदारता के लिए इतिहास में प्रसिद्ध हो गया है। उसका सम्पर्क मुझे अपने भाग्योदय सा प्रतीत हुआ और निश्चय वह मेरा भाग्योदय भी था। जिस प्रकार प्रद्योतों के समय मैं प्रकर्ष के मार्ग पर आरूढ़ हुई थी, जिस प्रकार शकों के समय मैंने साम्राज्य निर्माण किया था, उसी प्रकार परमारों के आधिपत्य में मैंने उत्कर्ष की चोटी छू चली। मुंज पृथ्वीबल्लभ कहलाता था। निःसन्देह वह उज्जयिनी वल्लभ था। चालुक्य को तो उसने कुचल कर रख दिया। उन्हें उसने अनेक बार हराया, परन्तु छठी बार जब वह अपने मन्त्री की सलाह की अवहेलना कर गोदावरी लांघ चालुक्यों के राज्य में घुसा और घुसता चला गया तब चालुक्य नरेश तैलप द्वियीय ने उसे पकड़ कर कैद कर लिया। मुंज हाथी से कुचलवा दिया गया और मैं अनाथा हो गई। मुंज ने

अनेक साहित्यिकों को मेरी नगरी में आश्रय दिया था। पद्मगुप्त, धनंजय, धनिक, सब उसकी कीर्ति के उपासक थे।

उसके बाद मेरी गद्दी पर कुछ काल के लिए मुंज का छोटा भाई सिन्धुराज बैठा, जिसे सिन्धुल भी कहते थे। इसी सिन्धुराज के यशोगान के लिए पद्मगुप्त ने 'नवसाहसांक चरित' लिखा। सिन्धुल कुछ ही काल जीवित रहा और उसके बाद उसका पुत्र राजा भोज मेरी गद्दी पर बैठा।

राजा भोज अपने समय के भारत का सबसे प्रसिद्ध और शक्तिमान नृपति था। उसने प्रायः साठ वर्ष राज्य किया और इस दौरान् में उसने छः छः राजकुलों से संघर्ष कर समय समय पर उन्हें पराभूत किया। चालुक्यों से बैर पुराना था और चालुक्य राज को परास्त कर उसकी राजधानी को लूट उसने अपने चचा भोज का बदला लिया। ऐसा नहीं कि भोज हारा न हो। वह हारा भी और अनेक बार हारा परन्तु उसकी विशेषता इस बात में थी कि हार कर भी उसने कभी अपने को हारा हुआ न माना और बार बार उसने लौटकर गद्दी पर अधिकार कर लिया। विक्रमादित्य, जैसिंह, सोमेश्वर ने उसको पराजित किया और मालवा को अनेक बार रौंद दिया पर भोज धारा से उज्जयिनी, उज्जयिनी से धारा भागता रहा और फिर उसने मेरे राज्य पर अधिकार किया। त्रिपुरी के कलचुरियों, ग्वालियर के कच्छपघातों, अन्हिलवाड़ के चालुक्यों और कल्यानी के चालुक्यों को उसने अनेक बार हराया। उसका लम्बा जीवन एक साथ शस्त्र और शास्त्र की उपासना में बीता। तब वह उन बीसियों ग्रन्थों को लिखने का समय पाता था जो उसके कृतीत्व के स्मारक हैं। समझ में नहीं आता परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शक्ति, लक्ष्मी और सरस्वती तीनों ने समान रूप से उसको वरा था।

भारत पर इन्हीं दिनों महमूद गज़नवी के आक्रमण होने लगे थे।

पहली बार जब हिन्दू राजाओं ने सम्मिलित रूप से उसका सामना किया था तब उनमें भोज का भी योग था और उसकी सेना भी महमूद से हारी थी। परन्तु समझ में नहीं आता, इतने साहसी, वीर और बुद्धिवान नृपति ने महमूद को हराने का उद्योग क्यों न किया? भोज के से अद्भुत राजा को भी घरेलू युद्धों में फँसे रह कर विदेशी विजेता की ओर से मुँह फेर लेना निश्चय मेरी प्रसन्नता का कारण न हो सकता था। मैंने अनेक बार अपने आप से उलाहना के रूप में कहा—भोज का शौर्य अपनों को ही विपन्न करने में चरितार्थ होता है। जब महमूद के भय से भाग कर अन्हिलवाड़ के नृपति भीम प्रथम ने अन्यत्र शरण ली और सोमनाथ को विदेशी द्वारा पददलित तथा नष्ट होते सुना तब मैंने अपने स्वामी और भारतीय संस्कृति के मूर्तिमान प्रतीक भोज की ओर देखा। तब उसकी उदासीन मुद्रा देख मैं फफक कर रो पड़ी और मेरी ग्लानि तथा क्षोभ का अन्दाज लगाया जा सकता है। जब भीम के सिन्धु के मुसलमानों के विरुद्ध आक्रमण करने, अपने राजधानी छोड़ बाहर चले जाने के बाद मैंने अपने स्वामी के जैन सेनापति कुलचन्द्र को अन्हिलवाड़ को लूटते देखा, नहीं कह सकी यह भोज के पराक्रम का दृष्टान्त था या जैन अहिंसा का आचरण!

जो हो, मैं भोज के कृत्यों से बहुत प्रसन्न न थी और मुझे बार बार मुंज के वीर्य और व्यक्तित्व की याद आने लगी। मेरी विरक्ति से खीझ कर भोज ने तब धारा नगरी को अपनी राजधानी बनाया। धारा शक्ति और समृद्धि में मुझसे बढ़ चली। उसके प्राङ्गण में मन्दिर और भवन खड़े होने लगे, सर और सरोवर खुदने लगे परन्तु मेरी कीर्ति इस नवनिर्माण से नहीं मिट सकती थी, न मिट सकी। अनेक बार अपनी राजनीतिक हार से भाग कर भोज को मेरी ही प्राचीरों के पीछे शरण लेनी पड़ी। अनेक बार मैंने मालवा का नेतृत्व किया। अन्त में लक्ष्मी-

कर्ण और भीम दोनों ने अपने कुलों के पहले पराभव का बदला मेरे स्वामी भोज से लिया। अपनी सेनाएँ एकत्र कर उन्होंने दो ओर से मालवा पर हमला किया और दोनों मोर्चों को भोज ने संभाला। किस विद्युत गति से वह एक से दूसरे मोर्चे पर दौड़ पड़ता, किस साहस से वह कभी एक दूसरे की रक्षा करता यह जब मैं याद करती हूँ तब उसे सराह उठती हूँ और गर्व से मेरा मस्तक ऊँचा हो जाता है। परन्तु वृद्धावस्था में अपने क्षीण शक्ति के साथ भोज दो प्रतिष्ठित राज्यों की सम्मिलित सेनाओं का सामना अकेला न कर सका और जब वह पश्चिमी मोर्चे से पूर्वी मोर्चे की ओर जा रहा था, तब राह में ही युद्ध की थकान से भोज की मृत्यु हो गई।

राजा भोज ने भारतीय साहित्य और साहित्यिकों के संरक्षा क्षेत्र में अपना साका चलाया। उसके दरबार में नित्य अगणित मेधावी काव्यकार आते रहे। उनको नित्य लाखों की संख्या में स्वर्ण मुद्राएँ, हाथी, घोड़े, गाँव, भोज दान करता रहा। देश भर में उसकी ख्याति छा गई कि वह कभी किसी मंगते को विमुख नहीं करता और मुँह मांगा दान देता है। श्लोक के एक एक चरण पर, उसके शब्द शब्द पर उसने लक्ष लक्ष सुवर्ण दिए थे। और जब अब हम इस संबंध में उसको अपने समकालीन अप्रतिम विजेता महमूद गजनवी से तुलना करते हैं तब गर्व से हमारा ललाट चमक उठता है। एक फिरदौसी को अपने दिए वचन के अनुसार भारत के लूटे, अछूते अनन्त धन के बावजूद भी वह सन्तुष्ट न कर सका। फिरदौसी के सामने नगण्य कितने ही संस्कृत कवियों ने उसकी आशा से दुगनी सम्पत्ति भोज से पाई। काश फिरदौसी भोज का कवि होता!

परन्तु इस विवेकहीन साहित्यिक औदार्य और अनवरत युद्धों पर खर्च का परिणाम वही हुआ जो होना था और शीघ्र भोज के मरते

ही कोष तो रिक्त हो ही चुका था, मालवा की रही सही शक्ति भी लुप्त हो गई। यद्यपि चालुक्य राज ने परमार नृपति को फिर से मेरी गद्दी पर बिठा दिया, मेरी शक्ति दिन पर दिन क्षीण होती गई और मैं आस-पास के उठते हुए राजकुलों की महत्वाकांक्षा का शिकार हो गई फिर मेरे ऊपर छीना झपटी शुरू हुई। फिर मैं शक्तिमान का लौट लौट दामन पकड़ने लगी। धीरे धीरे हिन्दू सत्ता भी नष्ट हो गई और चौदहवीं सदी के शुरू में जब अलाउद्दीन के सेनापति मलिक काफूर ने मालवा को रौंदा और मुझे लूट लिया तब मेरी प्राचीरों से हिन्दू सत्ता सदा के लिए उठ गई।

परमारों के मेरे नगर में प्रतिष्ठित होने के पूर्व ही मेरी शक्ति राजनीतिक रूप से बंधने लगी थी। कुछ तो मण्डपिका (माण्डू) ने ले ली थी, कुछ भोज के समय में धारा ने ले ली। फिर भी मेरी प्राचीनता और अतीत का गौरव जनता की दृष्टि में इतना ऊँचा था कि वस्तुतः मेरी शक्ति कभी टूटी नहीं। यह सही है कि मुसलमानों के समय मालवा की राजधानी मेरे आँगन से उठकर माण्डू चली गई और मालवा पर नवाबों का अधिकार हो गया, परन्तु मेरा राजनीति के क्षेत्र में फिर भी मालवा में प्रभाव बना ही रहा। नवाबों के कुल एक के बाद दूसरे आए और उन्होंने मालवा को शक्तिमान बनाया। मैंने उसे देखा और यद्यपि मैं स्वयं उनकी राजधानी न थी पर अपने देश का उत्कर्ष मुझे निश्चय अच्छा लगा और निःसन्देह नवाबों के बाहर अपना दूसरा घर भी न बसाया। उनकी नीति भी निश्चय प्रजाशोषक नीति थी। अपने ऐश और विलास में वे भी प्रजा की गाढ़ी कमाई स्वाहा करते थे परन्तु भोज का औदार्य अनुभव कर लेने के बाद मुझे नवाबों के इस आचरण से विशेष क्षोभ न हुआ।

मालवा की गुजरात और मेवाड़ के स्वामियों से अक्सर मुठभेड़ हो

जाया करती थी। मेरे सुल्तान भी कुछ कम महत्वाकांक्षी न थे, और यदि गुजरात के सुल्तान ने उनके कुछ प्रान्त छीने तो मेरे सुल्तानों ने भी गुजरात की राजनीति पर काफी प्रभाव डाला। हाँ गुजरात और मालवा की सम्मिलित सेना को जब मेवाड़ के राणा कुम्भ से मार खानी पड़ी तब निश्चय दोनों के मुँह कालिख पुत गई थी। राणा ने चित्तौड़ में इस विजय के उपलक्ष में कीर्ति स्तम्भ खड़ा किया। धीरे-धीरे मालवा की शक्ति फिर प्रचण्ड हुई और मेदिनीराय के मन्त्रित्व में उसका आकार-प्रकार भी बढ़ा। बाबर के भारत में आने के पहले साँगा ने मालवा को श्री विहीन कर दिया। परन्तु शक्ति मेवाड़ के हाथ आकर भी निकल गई। दो दो बार दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी को हरा कर भी दिल्ली के तख्त पर राणा ने अधिकार क्यों न किया, यह अबूझ पहेली है। विशेषकर जब हम यह देखते हैं कि जमुना से गुजरात तक और मालवा से मारवाड़ तक की भूमि उसके सामने सिर झुकाती थी। फतहपुर सीकरी की हार ने राणा का सर्वनाश कर दिया और मैं भी बाबर की सल्तनत का सूबा बनी। हुमायूँ के समय मैंने निश्चय फिर स्वतंत्र होने की कोशिश की और जब शेरशाह ने उसे निकाल बाहर किया तब मैं एक बार फिर स्वतंत्रता का स्वप्न देखने लगी पर स्वयं शेरशाह ने मुझे अपनी पकड़ से बाहर न जाने दिया। यद्यपि उस सुल्तान का शक्तिमान और मेधावी शासन मुझे सर्वथा प्रतिकूल न ज्ञान पड़ा। शेरशाह के मरते ही माण्डू का अफगान राजकुल फिर प्रबल हो गया।

दिल्ली सल्तनत पर तैमूरिया खानदान के सबसे बड़े सुल्तान अकबर का जब कब्जा हुआ तब पानीपत के मैदान में फिर एक बार हिन्दुस्तान की किस्मत का फैसला हुआ। अफगानों की सम्मिलित सेना का हेमचन्द्र (हेमू) नइ तदबीजों और उम्मीदों के साथ मैदान में उतरा था और कुछ अजब न था कि उसकी जीत से भारत की राजनीति बदल जाती। परन्तु

नतीजा कुछ और हुआ और अकबर जम कर दिल्ली के तख़्त पर बैठा। तब उसके दो प्रबल प्रतिद्वन्द्वी देश में थे, एक उसके दादा के दुश्मन राणा सांगा का पोता प्रताप मेवाड़ में, दूसरा बाजबहादुर मालवा में। बाजबहादुर माण्डू का नवाब था और उसका उत्कर्ष मैं अभिरूचि से देखती थी। मालवा जीतने के लिए जब अकबर ने धाय भाई को भेजा तब बाजबहादुर बड़ी धीरता से लड़ा और जब शाही फौज के सामने उसकी मुट्ठी भर सेना न ठहर सकी तब वह राजगाट से बढ़कर आजादी को समझ मालवा छोड़ मेवाड़ चला गया जहाँ समान धर्मा प्रताप अकबर से लोहा ले रहा था। तब मैंने देखा बाज़बहादुर की प्रेयसी हिन्दू वीरांगना कवयित्री रूपमती का वह साहस जिसने माहम अनगा के बेटे को विवर्ण कर दिया। अकबर का सेनापति जब उसके रूप पर मुग्ध हो माण्डू को नष्ट न करने के बदले उसे मांगा तब उसने उसका प्रस्ताव स्वीकार करते हुए अपने महलों में आमन्त्रित किया। परन्तु जब सेनापति ने उसके कमरे में प्रवेश किया, तब उसे सुन्दर कपड़े और गहने पहने मरी पड़ी पाया। वह चकित रह गया। उसकी माँ माहमअनगा जानती थी कि अकबर इस अनौचित्य को सह न सकेगा और इसलिए कि माण्डू के अन्तःपुर की कोई नारी उसके पुत्र का यह दुष्चरण अकबर तक न पहुँचा दे, उसने मालवा के उस हरम में आग लगा दी। मुझे माण्डू के जलते महलों की लपटें आज भी याद हैं, आज भी उनमें जलती रानियों और उनकी बांदियों की चीख सुन पड़ती है।

उसके बाद का मेरा इतिहास फिर ऊबड़-खाबड़ और असम है। मेरी स्थिति निरन्तर बिगड़ती गई और मैं तैमूर की सल्तनत में समा गई पर मेरे ही मैदान में उसके सुल्तानों और दक्कन की रियासतों की चोटें भी मैंने देखीं, फिर मराठों की मैंने खुद सही और जब धीरे-धीरे मेरी हस्ती मिट गई तब भी जीवित मैं क्षिप्रा के जल की भाँति चली जा रही हूँ और मेरा अतीत मूर्तमान हो मेरे सामने जब तब उठ आता है।

कौशाम्बी

नगर दूसरे भी हैं, रहे हैं, भारत में भी, बाहर भी जिनका इतिहास गौरव और शक्ति का है परन्तु जैसा रोमांचक इतिहास मेरा है वैसा किसी और का नहीं। प्रयाग से प्रायः ३८ मील पश्चिम यमुना तट पर मीलों कोसम के आस पास जो भग्नावशेष आकाश की ओर आँख किये नित्य उमड़ते और विलीन होते अपनी कीर्ति कथा देख रहे हैं, वे मेरे हैं। मीलों तक फैले हुये मेरे भग्न परकोटे उस भू प्रसार का परिवेष्टन करते हैं जहाँ नीति, साहित्य और दर्शन ने साक्षात् निवास किया था। मेरी मिट्टी में आज भी उन नर-नारियों की काया घुली मिली है भारतीय साहित्य ने जिनका नामोल्लेख गर्व और रोमांच के साथ किया है।

मैं कौशाम्बी हूँ, उदयन की कौशाम्बी, कोशाम्ब की बसाई पर वस्तुतः उदयन की ही। उदयन का नाम भारतीय रोमांचक साहित्य में व्यापक और अमर है और उसके साथ ही उसकी और वत्सों की प्यारी

मुझ कौशाम्बी का नाम भी अमिट है। माना यमुना का जल-प्रवाह उसी प्रकार आज भी प्राचीन गति से मेरा स्पर्श करता बहता जा रहा है, माना कि अब मैं उस प्रकार जीवित नहीं कि यमुना के उस प्रवाह के साथ पूर्व के देशों को अपने सन्देश भेज सकूँ, पर निश्चय मेरी मिट्टी में जो विभूतियाँ सोई हैं उनका स्पर्श कर यमुना स्वयं पवित्र होती है और मेरी पावन रज राह के नगरों को पवित्र करने के लिये बहाले जाती है।

मैं प्राचीना हूँ, गिरिव्रज की भाँति प्राचीन। शतपथ और गोपद ब्राह्मण ने मेरा यश गाया है और एतेरेय ने मेरे उस जन वत्सों का जिन्होंने दूर पूर्व में मेरी नींव डाली। काशी का प्रतर्दन राजन्य ही नहीं ऋषि भी था। भर्ग और वत्स उनके दो पुत्र हुये। भर्गों ने मेरे उत्तर-वर्त्ती पड़ोसी प्रदेश में अपने गणतन्त्र का विस्तार किया परन्तु वत्स ने मुझे अपनी राजनीतिक क्रियाशीलता का केन्द्र बनाया, मुझ कोशाम्बी को। मुझे भर्गों का जनसत्ताक शासन न भाया और मैं अपने राजसत्ताक प्रभुओं की प्रिया बनी।

मेरी स्थिति यमुना के तट पर ऐसी थी जो पूर्व पश्चिम, उत्तर-दक्खिन का केन्द्र था। उत्तर तक्षशिला की ओर से, दक्षिण उज्जयिनी और शूरपारक जाने वाला वणिक पथ और मगध से हस्तिनापुर का राजमार्ग मेरी ही नगरी में एक दूसरे को काटते थे। एक ओर वैशाली, राजगिरि, पाटलिपुत्र, काशी और प्रयाग, और दूसरी ओर हरद्वार, मथुरा, कान्यकुब्ज, अहिछत्र और काम्पिल्य का वाणिज्य मेरे नगर में बरस पड़ने को उत्सुक रहता था। श्रावस्ती, कपिलवस्तु, साकेत आदि के मार्ग भी मेरे ही आधार से फूटते थे। फिर जलमार्ग से पंचनद और अन्तर्वेद से जाने वाला सारा वाणिज्य मेरी ही राह सहजाति और वहाँ से समुद्र के रास्ते बर्मा और चीन की ओर जाता था। उत्तर से दक्षिण और दक्षिण से उत्तर जाने वाली सेनाएँ मेरे ही राजमार्ग से होकर

निकलती थीं। मेरे ही केन्द्र से अवन्ती ने शूरसेन को और मगध ने अवन्ती को अपनी राजधानी का अंग बना रखा।

मैं पहले कह चुकी हूँ कि वत्सों ने मेरी बुनियाद डाली और एक लम्बे काल तक लगातार उनके उत्कर्ष का इतिहास मेरी नगरी में लिखा जाने लगा। परन्तु मेरा विशेष उत्कर्ष महाभारत युद्ध के बाद हुआ। जनमेजय के शासन काल के बाद हस्तिनापुर पर ईतियाँ बरसती गई और एक दिन गंगा की बाढ़ ने उस प्राचीन नगर को सर्वथा आप्लावित कर डाला तब निचक्षु ने हस्तिनापुर छोड़ मेरी शरण ली। पौरव कुरुओं के राजवंश की यह शाखा जब मेरी नगरी में आई तब भी मैं काफी प्राचीन थी और मेरा नये रूप से शृंगार आवश्यक था। निचक्षु के भरतकुल ने निश्चय मेरा अंग मण्डन किया और मुझमें नई शक्ति प्रतिष्ठित की। पंचाल का जनपद मेरे ही पीछे था और पंचाल अनेक प्रकार से जाग्रत और सचेत था। परन्तु कुरु कुल की इस यशस्वी शाखा ने जो मुझे नई शक्ति प्रदान की उससे मैंने अहिछत्र और काम्पिल्य के प्रताप को सर्वथा ग्रस लिया।

निचक्षु से प्रायः बीस पीढ़ी बाद सहस्रानीक और शतानीक परंतप हुये। उन्हीं दिनों भर्गों का जनपद मेरी बढ़ती हुई पूर्वी सीमाओं में खो गया। भर्गों का प्रसार अपने गणतन्त्र की सीमाओं को 'मिर्जापुर' से काफी पूर्व खींच ले गया था। शमशुमारगिरि जहाँ आज चुनार का किला है उनकी राजधानी थी। मैं पहले कह चुकी हूँ कि उनका गण-तन्त्र मुझे प्रिय न था और लोकवादिता के उनके नारे मेरे राजसत्ताक सिद्धान्तों पर चोट करते थे। मैं जानती थी उनका परिहास मैं सह न सकूँगी और पड़ोसी पर आक्रमण का दोष मुझे शिरोधार्य करना होगा। सो करना ही पड़ा। वास्तव में प्रसर की नीति पड़ोसी की विनाश से ही आरम्भ होती है और प्रसर की नीति राजसत्ताक शासन ही अपना

सकता है। राज्यों का प्रसार दूसरों के विलेपन से होता है। अराजक शासन का दूसरों की सद्भावना से आखिर एक दिन मुझे भर्गों के विरुद्ध अभियान करना ही पड़ा। उनका कृषक जनपद मेरी शिक्षित और शस्त्र विनीत सेनाओं का सामना न कर सका और मैं विजयी हुई। भर्गों की राजधानी शमशुमारगिरि मेरे प्रान्तीय शासक की राजधानी हुई। शतानीक परंतप, उदयन का पिता था।

उदयन का जन्म उसी दिन हुआ जिस दिन गौतम बुद्ध का, उसी ईसा पूर्व की छठी शती में। वसन्त का समागम था। दिशाएँ हँस रही थीं, तरु पल्लवित और लताएँ फूलों से सज रही थीं, जब क्षितिज से उठते हुए बाल रवि के साथ ही उदयन का जन्म हुआ। उसका नाम सूर्योदय से ही सार्थक हुआ! उसी उदयन के नाम के साथ मेरा नित्य संबंध है और यद्यपि अनेक राजा उसके पहले मेरे स्वामी हुए थे, अनेक उसके बाद मेरे स्वामी हुए। परन्तु राजवन्ती मैं उदयन से ही हुई। मेरा यह विश्वास है कि जितना गौरव मुझे राजाओं की उदयनपूर्व परम्परा ने दिया उससे कहीं अधिक गौरव मुझे एकमात्र उदयन के सम्पर्क से मिला। उदयन का इतिहास मेरा इतिहास है, मेरा इतिहास उदयन का। यदि मुझे अपने सारे जीवन की अवधि उदयन के सम्पर्क की एक घड़ी से बदल लेनी हो तो मैं बड़ी प्रसन्नता से बदल लूँगी।

उदयन और मेरी कथा से भारतीय साहित्य भरा पड़ा है। यद्यपि उज्जयिनी ने एक बार मुझ पर अधिकार कर लिया था, परन्तु मेरे स्वामी का प्रभाव कुछ इतना गहरा था कि उज्जयिनी के विरुद उसी की कथा कहते थे। कालिदास ने अपने मेघदूत में, हर्ष ने अपनी प्रियदर्शिका में, सुबन्धु ने अपनी वासवदत्ता में, और अनेक कवि, नाटककारों ने अपनी कृतियों में उदयन और मेरा यशगान किया। कालिदास के पूर्ववर्ती भास ने अपने अनेक नाटकों में मेरा रोमांचक इतिहास बार-बार पढ़ा।

स्वप्न वासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, प्रतिमा नाटक सब में मेरी कथा अनुप्राणित हुई। एक ही नाटककार अपनी अनेक कृतियों के वस्तु तन्तु में मेरी कथा ही बुनता है। इसमें कुछ खास राज़ है।

परन्तु यह साहित्य का जाल है। इसकी बात यहीं छोड़ कर मैं अपनी प्रगति की कथा कहूँगी। उस काल की मेरी और मध्यभारत की स्थिति समझने के लिए पहले मेरे पड़ोस की राजनीतिक स्थिति समझ लेना नितान्त आवश्यक होगा। बुद्ध पूर्व का भारत प्रधानतः जनपदों का भारत था। सोलह महाजनपद जिनमें राज्य और गणतन्त्र दोनों शामिल थे देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैले हुए थे। उनमें से गन्धार और कम्बोजों के जनपद दूर पश्चिम में थे और अंगो, मागधों के दूर पूर्व में। मैं भी उन्हीं सोलह जनपदों में से एक थी। कुरुपंचाल मेरे पश्चिमी पड़ोसी थे और कोशल, काशी, पूर्वी। धीरे-धीरे राज्यों ने जो अपनी प्रसर की नीति अपनाई तो छोटे-मोटे राज्य और गणतन्त्र उनकी चोट के सामने ठहर न सके। भर्गों का अस्तित्व मैंने मिटा दिया, कोशल ने काशी का।

कालान्तर में, प्रायः सौ वर्ष बाद, बुद्ध के जीवन काल में गणतन्त्रों के अतिरिक्त चार पड़ोसी राज्य विशेष प्रतिष्ठित हुए—मगध का हर्यंक शैशुनाग राजकुल राजगृह में, कोशल का राजकुल श्रावस्ती में, अवन्ती का उज्जयिनी में और भरतों का मेरी नगरी कौशाम्बी में। इन चारों का परस्पर संघर्ष विशेषकर उन प्रसर के दिनों में स्वाभाविक था। पहले तो जब तक इन राज्यों के पड़ोस में गणतन्त्र कायम थे तब तक ये विशेषरूप से एक दूसरे के विरुद्ध न बढ़े। परन्तु जब उनको बारी-बारी से इन्होंने हड़प लिया तब इनकी अपनी प्राचीरें परस्पर टकरा गईं। इनका एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध में उतर पड़ना अनिवार्य था। कभी-कभी जब एक राजकुल किसी गणतन्त्र को अपना लभ्य और पुरस्कार समझता

था उसे दूसरे के स्वायत्त कर लेने पर वह उस विजेता राजकुल में उलझ पड़ता। इसी राजनीतिक परिस्थिति में मैं भी औरों के साथ संघर्ष के लिए कटिबद्ध हुई। मेरी सीमायें तब प्रायः तीनों राजकुलों से मिलती थीं। काशी जो पहले ब्रह्मदत्त राजकुल की राजधानी थी और जिसे कोशल के प्रसेनजित के पिता महाकोशल ने हड़प लिया था, मेरी पूर्वी पड़ोसी थी। परन्तु यद्यपि इस पर कानूनी अधिकार कोशल का था प्रसेनजित ने मगध के बिम्बिसार के साथ अपनी बहिन कोशलदेवी के विवाह के अवसर पर उसे भगिनी के यौतुक में बहनोई को दे डाला था और कर के ग्रहण में काशी मगध के अधीन हो गई थी। इस प्रकार यह नगरी मगध और कोशल दोनों के प्रभाव में थी और इसी कारण दोनों राज्य मेरे पड़ोसी भी थे। काशी के रूप में दोनों की सीमायें मेरी पूर्वी सीमा से मिलती थीं। उधर उत्तर में भी स्वतन्त्र रूप से मेरी और कोशल की सीमायें समान थीं। काशी के बिल्कुल पास गंगा पार दक्षिण में शमशुमारगिरि पर जो मेरे पूर्वी प्रान्तीय शासक की राजधानी थी उससे मगध मेरी ओर बहुत स्नेह से कभी न देख पाता था और उसने भी, जब उदयन ने अपने पुत्र बोधी को शासक बना कर शमशुमा-गिरि भेजा तब काशी में अपना प्रान्तीय शासक नियुक्त किया जिसका कर ग्रहण के अतिरिक्त दूसरा कार्य मेरी गति-विधि पर दृष्टि रखनी थी। हम दोनों एक दूसरे पर अहेरी की चुस्ती से नजर डाले बैठे रहे।

पहले मैं उदयन की रानियों का जिक्र करूँगी जो मेरे और उदयन के इतिहास के लिए असाधारण सामग्री प्रस्तुत करती है। उदयन का जीवन नितान्त विलासी था इसमें सन्देह नहीं। उसकी विलासिता भारतीय साहित्य में निष्क्रिय विलासी जीवन का प्रतीक बन गई है। यद्यपि उदयन का जीवन विलास के अतिरिक्त सर्वथा अकर्मठ न था परन्तु उसके जीवन का वह अवलंब अवश्य था। जिस प्रकार प्राचीन काल में

दुष्यन्त विलासिता का प्रतीक हो गया है, जिस प्रकार उसके विलासाधिक्य से प्रजा की बहू- बेटियों का जीवन खतरे में पड़ गया था उसी प्रकार उदयन का जीवन भी जब तब प्रजा के त्रास का कारण हो जाता था। परन्तु उसकी बात फिर कहूँगी। अभी केवल उसके अनेक विवाहों की ओर निर्देश करना समीचीन होगा।

उदयन ने अनेक और विवाह किए थे। उसके विवाहों का क्रम निश्चित करना तो कठिन है परन्तु यथासाध्य उसका विवरण दे रही हूँ। उसके विवाह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों में हुए थे। इस प्रकार के विवाह उस काल अजब नहीं माने जाते थे और इस तरह के असवर्ण विवाहों की सन्तति भी सदा औरस ही मानी जाती थी। स्वयं बिंबिसार ने अपना एक विवाह ब्राह्मण कन्या से किया था। उदयन ने भी एक विवाह ब्राह्मण कन्या ही से किया। वह माकन्दिका थी, कुरुक्षेत्र के एक ब्राह्मण की असामान्य सुन्दरी कन्या। अनेक राजन्य और धनी श्रेष्ठिकुमार उसके कर के लिए लालायित थे। परन्तु इस ब्राह्मण के विचार में उनमें से कोई इस योग्य न था कि उसकी कन्या माकन्दिका को वर सके। कहते हैं एक बार बुद्ध जब उधर से लौट रहे थे ब्राह्मण उनसे मिला और उसने कन्या के सौन्दर्य का बखान कर तथागत से उसे स्वीकार करने की प्रार्थना की। तथागत ने तत्काल सौन्दर्य की अनित्यता पर एक प्रवचन दे ब्राह्मण को विदा कर दिया। तब तक उदयन की सौन्दर्योपासना देशव्यापी हो चुकी थी और ब्राह्मण ने अपनी कन्या को उसके समक्ष ला खड़ा किया। उदयन उसका रूप देख चकित रह गया और तत्काल उसने उसका पाणिग्रहण किया। पाँच सौ नर्तकियाँ उसकी सेवा में उसने नियुक्त कीं और कुछ काल उसके साथ उसने विलास में बिताया। मेरे भग्नावशेष का पश्चिमी द्वार माकन्दिका के उस उपवन की राह खोलता था जहाँ उदयन ने राजकार्य मंत्रीवर

यौगन्धरायण पर छोड़ काम सेवन किया था। माकन्दिका ब्राह्मण धर्म के प्रति अपनी भीरुता और बौद्धधर्म के विरुद्ध अपनी दुरभिसन्धियों के लिए विख्यात है। उदयन की सद्धर्म के प्रति उदासीनता और वैमनस्य का एक कारण उसकी उत्कट विलासिता के अतिरिक्त माकन्दिका का यह ब्राह्मण दृष्टिकोण भी था।

उदयन की दूसरी पत्नी श्यामावती कौशाम्बी की ही थी। वस्तुतः रहने वाली तो वह अन्यत्र की थी, धनाढ्य सेठ की कन्या। परन्तु देश में अकाल पड़ने के कारण वह मेरे नगर में आ गई थी। मेरे नगर में तीन प्रमुख सेठ थे, घोषित, कुक्कुट, और.........। घोषित ने उसे असहाय पाकर अपनी कन्या बना ली थी। एक दिन प्रातःकाल वातायन से बाहर देखते उदयन की दृष्टि उस अप्रतिम रूप पर पड़ी तब वह मुग्ध रह गया। अपने चेट-विटों को उसने उसका पता लगाने के लिए भेजा। घोषित ने जब कन्या के प्रति राजा का प्रसाद सुना तब स्वयं सब प्रकार से मण्डित कर उसे लेकर राजप्रसाद में पहुँचा। उदयन ने श्यामावती को पत्नी बना लिया। श्यामावती बौद्धधर्म के प्रति उतनी ही आकृष्ट थी, माकन्दिका जितनी उससे विरक्त। उसने बराबर बुद्ध और उनके शिष्य पिंडोल भरद्वाज के उपदेश सुने और उदयन तथा उसका पुत्र बोधिकुमार जो सद्धर्म की ओर आकृष्ट हुए, वह इसी श्यामावती का फल था।

उदयन ने दो और विवाह किए, दोनों क्षत्रिय कुल में, एक मगध अजातशत्रु की कन्या और दर्शक की भगिनी पद्मावती से, दूसरा अवन्ती के चण्डप्रद्योत महासेन की कन्या वासवदत्ता से। पद्मावती के साथ उसका विवाह सम्भवतः राजनीतिक लाभ की आशा से हुआ। अवन्ती की महत्त्वाकांक्षिणी प्रवृत्ति सदा से मेरी शंका का कारण रही है और उदयन ने यह मुनासिब समझा कि 'चण्ड प्रद्योत के विरुद्ध वह उस

अजातशत्रु से वैवाहिक बन्धुत्व स्थापित कर ले जो स्वयं प्रद्योत का शत्रु था और जो उसके प्रसर से स्वयं शंकित रहता था। अजातशत्रु बिम्बिसार का पुत्र था। बिम्बिसार और बुद्ध दोनों प्रायः उदयन की ही आयु के थे। बुद्ध और उदयन तो एक ही दिन उत्पन्न हुए थे और बुद्ध अजातशत्रु के शासन काल के आठवें वर्ष मरे जिससे प्रकट है कि उदयन और अजातशत्रु की आयु में भी काफी अन्तर था। मगधराज की कन्या पद्मावती तो आयु में उदयन से अत्यन्त छोटी हुई। परन्तु राजनीतिक विवाहों में जिस बात पर सबसे कम ध्यान दिया जाता था, वह थी आयु। उदयन को आयु के इस वैषम्य पर कोई आपत्ति न हुई और उसने बालिका के साथ अपना विवाह कर लिया। वैसे भी आमृत्य विलासी जीवन बिताने वाले उदयन में आयु का विशेष प्रश्न न था; जिसने भ्रमर की भाँति निरन्तर रस-शोषण ही अपने जीवन का इतिवृत माना हो उसे आयु का बन्धन कहाँ तक अवरुद्ध कर सकता है।

उदयन का चौथा विवाह जैसा पहले कह चुकी हूँ उज्जयिनी की वासवदत्ता से हुआ और सम्भवतः युवावस्था में ही। वासवदत्ता के साथ उसका विवाह अत्यन्त रोमांचक ढंग से हुआ। उसकी अनन्त अनन्त कथाएँ बहुत काल पीछे तक भारत के गाँवों में कही जाती रहीं, उसके साहित्य में लिखी जाती रहीं। मेरे इतिहास का उस घटना से गहरा संबंध है क्योंकि एक बार मेरी नगरी उसी कारण प्रद्योतों का शिकार बन गई थी।

उदयन में विलास के अतिरिक्त दो कमजोरियाँ और थीं—एक वीणावादन, दूसरी गजग्रहण। वीणावादन विलास का ही एक उद्दीपक अंग है। उसका उदयन का गुणतालिका में होना स्वाभाविक ही है परन्तु हाथियों का पकड़ना भी उसका एक व्यसन हो गया था। और हाथी पकड़ता भी वह वीणा बजा कर ही था। जब उसके वादन से

गज प्रमत्त और विवश हो जाता तब वह पकड़ लिया जाता। जिस वीणा को उदयन हाथी पकड़ने के काम में लाता उसका नाम हस्तिकान्त था और जिससे वह अपना मन बहलाता, अपने विलास का उद्दीपन करता उसका नाम घोषवती या घोषा था। हाथियों को पकड़ने वाली उसकी कमजोरी की ख्याति देश भर में थी और उज्जयिनी के नृपति को भी उसका ज्ञान था। चण्डप्रद्योत महासेन असामान्य शक्ति का नरेश था। उसके नाम से ही उसकी सेना की महाकामता और उसकी प्रकृति की भयंकरता सिद्ध है। परन्तु उदयन के शौर्य पर उन दोनों में से कोई जब विजय न पा सके तब प्रद्योत ने एक नई युक्ति सोची, उदयन की पहली कमजोरी से लाभ उठाने की। उसने वत्स और अवन्ती की सीमा के घने बन में एक काला विशाल हाथी लकड़ी का बना कर छोड़ दिया। उसका संचालन यन्त्र से होता था और उसमें साठ सैनिक छिप सकते थे। उसे बन में भेज दोनों ओर के जंगलों में अपने सैनिक छिपा प्रद्योत ने चर द्वारा उदयन को कहला भेजा कि वत्स के महाकान्तार में एक विशाल यूथप घुसा है। राजा अपने आटविक अनुचरों के साथ हस्तिकान्त ले जा घुसा। कुछ काल बाद अनुचर तो पीछे छूट गए परन्तु उदयन घने बन में घुसता गया। अन्त में धुँधले प्रकाश में उसने पेड़ों के नीचे यूथप को सूँड़ से गुंजलक भरते खड़े देखा। हस्तिकान्त के तारों पर उसकी उँगलियाँ स्वाभाविक जा पड़ीं और उनसे निसृत स्वर वातावरण को मत्त करने लगा। उस स्वर को गज ने भी सुना और उसके पग एक ही स्थल पर बार बार गिर अपनी मादकता को सूचित करने लगे। परन्तु उदयन ने न जाना कि कृत्रिम हस्ति उसका शत्रु होकर आया है, वंचक वैरी है और शीघ्र उसके आगे बढ़ते ही उसने अपना उदर खोल दिया। प्रद्योत के सैनिकों ने उदयन को बाँध लिया। उदयन उज्जयिनी का बन्दी हो गया और कुछ काल

तक प्रद्योत की कारा में बन्द रहा। उसका मन्त्री योगन्धरायण उसकी रानियों से प्रण कर चुका था कि शीघ्र वह उदयन को कारा से मुक्त कर वत्स को लौटा लाएगा। परिव्राजक के भेष में मन्त्री प्रवर ने प्रद्योत के हृदय में अपने लिए श्रद्धा उत्पन्न की और कन्या को वीणावादन में प्रवीण तथा गजग्रहण के मन्त्र में दीक्षित करने के लिए उदयन को वासवदत्ता का गुरु बनाना उसने प्रद्योत से स्वीकार करा लिया। परन्तु प्रद्योत शंकित था। उसे पहले यह व्यापार न भाया फिर भी उसने सोचा हाथियों के पकड़ने का मन्त्र मिल जाने पर सम्भवतः वह अपनी गजसेना की संख्या बढ़ा सके और उस वत्स का पराभव कर सके जिसकी सेना में हाथियों की संख्या विशेष थी।

उदयन को वासवदत्ता के शिक्षण के लिए उसने नियुक्त तो कर लिया परन्तु दोनों को एक दूसरे से अनभिज्ञ रखने की उसने एक तदबीर की। शिक्षण पर्दे के पीछे से होता था। एक ओर उदयन बैठता दूसरी ओर वासवदत्ता। परन्तु उदयन से कहा गया कि पर्दे के पीछे कुरूपा-दासी बैठी है और वासवदत्ता को बताया गया कि उसका शिक्षक वामन है। परन्तु जब वीणा का नाद धीरे-धीरे उस कोष्ठ से उठ कर दिगन्त में व्याप्त होने लगता, तब वासवदत्ता के मन में प्रबल शंका आ उपस्थित होती। उसे देखने की इच्छा उसके मन में प्रबल हो उठती। परन्तु वह पिता की आज्ञा से लाचार थी। चुप हो बैठी। एक दिन जब कुछ अन्यमनस्क होने के कारण वासवदत्ता ने पाठ में गलती की तब उसे उदयन ने कुवाच्य कहकर धिक्कारा। उस कुवाच्य में उसकी कुरूपता का संकेत था। क्षुब्ध होकर उत्तर में वासवदत्ता ने भी उदयन को बौना कहा। फिर एकाएक दोनों ने जो पर्दा हटाया, एक दूसरे को देख चकित रह गए। फिर एक रात जब प्रद्योत उज्जयिनी के बाह्य उपवन में विनोद के लिए गया हुआ था, तब योगन्धरायण की सहायता से एक

विशाल गज पर चढ़ उदयन और वासवदत्ता वत्स की ओर भाग चले। प्रद्योत ने जब यह सुना तो उन्हें पकड़ने के लिए सैनिक दौड़ाए तब गज पर पीछे बैठ उदयन के अनुचर ने स्वर्ण की नकुली खोल दी। सिक्के झनझन कर नीचे गिरे, सैनिक उन्हें उठाने में व्यस्त हुए और मेरा स्वामी उदयन अपनी हरी नव प्रिया को लिए मेरी प्राचीरों के पीछे आ पहुँचा। इस पलायन को मेरे कलाकारों ने मृतिका कलस पर मूर्त किया। तब से सदियों पीछे तक लगातार उस पलायन के चित्र मिट्टी और पत्थर पर मेरे नगर में बनते रहे, वह कथा निरन्तर साहित्य में कही जाती रही।

उदयन ने वासवदत्ता का राजधानी में पहुँच पाणिग्रहण किया और उससे उसे बोधी नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। यही बोधी बुद्ध का शिष्य था और यही मेरे नगर में सद्धर्म के प्रचार के लिए प्रयत्नशील हुआ। वासवदत्ता के साथ विवाह हो जाने पर चण्डप्रद्योत का रोष मेरे प्रति कुछ कम हो गया और उसने बजाय मेरी ओर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के मगध की ओर किया। अजातशत्रु को अपनी राजधानी राजगृह की प्राचीरें दृढ़तर करानी पड़ीं।

उदयन के ये चार विवाह तो शास्त्र सम्मत हुए परन्तु उसका अनौरस सम्बन्ध असंख्य नारियों से था। एक विवाह सम्भवतः और उसका हुआ था, परन्तु उसका रूप अर्धबर्बर होने के कारण वह विवाह नहीं समझा जाता। अंग के राजा की बिम्बिसार ने एक बार गद्दी छीन ली थी। अपने प्रभाव और शौर्य से उदयन ने उसे बीच बचाव कर गद्दी लौटा दी। इसके बदले उसने उपकृत राजा की कन्या को बरा था। परन्तु जैसा ऊपर कह चुकी हूँ, उदयन के अनौरस सम्बन्धों की संख्या गणनातीत थी। मेरे प्रासादों में विशेषकर बहिरुपवनों में जब वह विलास के लिए आता, और यह अवसर नित्य आते थे, तब उसके

चतुर्दिक कामिनियों की बड़ी संख्या होती। कामिनियाँ उसके वक्ष से चिपटी रहतीं, उसकी कोहनियों से लटकी रहतीं और वह व्यसन से दुर्मद पुरुष नितान्त उच्छृंखल हो उठता। उसके परिचारक, परिचारिकाएँ, चेट-विट निरन्तर अभुक्त व्यसन की खोज में घूमते रहते, सौन्दर्य की अभिप्राप्ति उनके लाभ का कारण बनती, उदयन के उद्दीपन और व्यसन का प्रमाण। नागरिकों के 'शुद्धान्त' दूषित हो उठे। माण्डलिकों के 'अवरोध' सर्वथा अपावन, पिताओं का उदयन भय बन गया, पतियों का शत्रु, पतिव्रताएँ और सतियाँ उसके स्मरण का कीट अपने हृदय का 'रहस्य बनातीं। इस प्रकार उदयन का कामरन्जन होता। क्या आश्चर्य कि उसकी अरीति से दुर्विनीति और व्यसन से वत्सों की संयम परम्परा विनष्ट हो जाय ?

उदयन के विलास और बहुविवाह के कारण वत्स का जनपद खतरे में पड़ गया। उसकी शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होने लगी। राजकार्य अधिकतर मन्त्री के हाथ में पड़े रहने के कारण दिन-दिन उदयन से दूर होते गए और वह अपनी प्रजा के प्रति उदासीन होता गया। राजनीति के क्षीण पड़ते ही पड़ोसी शत्रुओं ने सिर उठाया और यदि उदयन का कभी-कभी सचेत हो उठने वाला व्यक्तिगत पराक्रम रास्ते में न आ जाता तो मेरी क्या गति होती, मैं नहीं कह सकती। इतना मुझे स्पष्ट याद है कि अनेक बार उसकी बहुपत्नियों में पारस्परिक अनबन हो जाने के कारण उसके राजप्रासाद के अन्तःपुर विपन्न हो उठे थे। माकन्दिका और श्यामावती में तो वह रोष इतना बढ़ा कि माकन्दिका ने श्यामावती के प्रासाद में आग लगवा दी जिसमें वह अपने पाँच सौ नर्तकियों के साथ जल मरीं। नर्तकियों की याद आते मुझे उदयन के उन अपरिमित अवरोधों की बात याद आती है, जिनमें सर्वत्र नारी राज्य हो गया था। विशिष्ट रानियों के अपने-अपने प्रासाद थे, अपनी-

अपनी नर्तकियाँ, अपनी-अपनी अनुचरियाँ। माकन्दिका, श्यामावती, पद्मावती और वासवदत्ता चारों की अनुचरियों के अतिरिक्त, पाँच-पाँच सौ नर्तकियाँ थीं जो अपने नृत्य से उनका मनोरंजन करतीं। अनेक बार इन नर्तकियों में से चुनी हुई उदयन का राग रन्जन करतीं। इनके अतिरिक्त रानियों की अनेक सखियाँ, अनेक प्रसादिकाएँ और दासियाँ थीं। हजारों नारियों से भरा उदयन का यह अवरोध अन्तःपुरों के इतिहास में असाधारण था।

यह तो हुई उदयन के विलास की बात जिसमें उसने अपने पराये का अन्तर न डाला। प्रजा से अपहृत धन जिसे उसने पानी की तरह बहाया और जिस क्षेत्र में सुरा और सुन्दरी की मात्रा में उसने कभी कोई सीमा न खींची। परन्तु उदयन पुरुषार्थ से सर्वथा विहीन न था। नीतिमत्ता तो उसमें थी ही और उस नीतिमत्ता के फलस्वरूप ही उसने उस काल के शक्तिमान दो राजकुलों से अपना वैवाहिक संबंध स्थापित कर लिया था, परन्तु व्यक्तिगत पराक्रम की भी जैसा ऊपर कह चुकी हूँ, उसमें कमी न थी। अंग के राजा की सहायता तो उसने की ही थी, अनेक बार मलासेन प्रद्योत का चण्ड पौरुष भी उसके सामने समाहत हो जाता। इसके अतिरिक्त एक बार उसने कलिंग विजय करने के भी स्वप्न देखे थे और यद्यपि कलिंग की विजय वह न कर सका उस दिशा में उसके भय से एक बार आतंक जरूर छा गया था। बुद्ध के साथ उसका पहला सम्बन्ध भी वस्तुतः उसके शौर्य प्रदर्शन से ही हुआ था। जब वह अभियान के लिए प्रस्तुत सेना का मैदान में निरीक्षण कर रहा था तभी तथागत त्रिचीवर पहने उधर से निकले। उनका दर्शन उदयन को अशुभ जान पड़ा। श्रमण विरक्ति का प्रतीक है, युद्ध प्रवृति का और त्रिचीवरधारी श्रमण का अभियान के अवसर पर दर्शन निश्चय उसे पराभव का सूचक जान पड़ा। उसने बाण छोड़ भी दिया जो अपना लक्ष्य चूक

गया परन्तु फलस्वरूप प्रवाहित तथागत के उपदेश वचन अपने लक्ष्य से न चूके। तथागत ने अकारण रक्तपात और दूसरों की आजादी छीनने के उपक्रम को अनुचित कहा और जिन शब्दों में उन्होंने अपना वह सामयिक उपदेश कहा, उनका उद्घोष आज भी मेरे कानों में गूँज रहा है।

बुद्ध के उपदेश से उदयन स्तम्भित तो तत्काल हो गया, परन्तु उसे सद्धर्म में दीक्षित वस्तुतः बुद्ध के शिष्य पिण्डोल भरद्वाज ने किया। पिण्डोल भरद्वाज मेरे ही नगर का ब्राह्मण नागरिक था। अनेक बार अन्य विद्यापीठों से आकृष्ट होकर मेरे नागरिक बाहर जाते थे। अति प्राचीन काल में इसी प्रकार प्रांति कौसूरविन्दि भी मेरे नगर से बाहर गया था और उसने ज्ञान जिज्ञासा में अपना नाम विख्यात किया। पिण्डोल भी उसीकी भाँति ज्ञानार्जन के लिए वत्स से बाहर गया था और राजगृह में तथागत के प्रवचन सुन संघ में दीक्षित हो गया था।

उदयन कामप्रिय होने के कारण स्वाभाविक ही विरक्त और सद्धर्म का शत्रु था। अनेक बार उसने श्रमणों को अकारण कष्ट पहुँचाया था। एक बार तो उसके क्रोध से भाग कर एक श्रमण ने श्रावस्ती में शरण ली। पिण्डोल भरद्वाज को ही उसने कुछ कम कष्ट न दिया। एक बार बहिउपवन में विलास करते समय जब वह सो गया और पास के कानन में प्रवचन करते पिण्डोल को सुनने जब उसकी पत्नी श्यामावती अपनी अनुचरियों के साथ चली गई थी, तब उसने उस महाश्रमण के शरीर पर असंख्य माटे बाँध दिये थे। फिर भी धीरे-धीरे उदयन का आकर्षण बुद्ध के उपदेशों की ओर हुआ और उसने संघ की सेवा की।

संघ के प्रति अपनी उदारता और मेरी नगरी में सद्धर्म के प्रचार के लिए घोषित, कुक्कुट आदि तत्कालीन सेठ भी प्रसिद्ध हो गए हैं। उन्होंने अपने-अपने नाम पर संघ के ठहरने के लिए आवास बनवाए और उपवन लगवाए और उन्हें संघ को दान कर दिया। उदयन की

की मृत्यु के बाद बोधी ने भी देश में बौद्ध-धर्म का प्रचुर प्रचार किया। शमशुमारगिरि पर उसने कोकनद नाम का एक सुन्दर महल बनवाया था। उसे बुद्ध के चरणरज से पवित्र करने के लिए उसने संघ और तथागत को आमान्त्रित किया।

उदयन की कहानी निश्चय मेरे उत्कर्ष की कहानी है, परन्तु निःसंदेह मेरा इतिहास उस वीणावादक विलासी नृपति तक सीमित नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि उदयन के बाद मेरी राजनीति पर्याप्त दुर्बल पड़ गई और प्रद्योतों ने मुझे तत्काल जीत भी लिया। दो-तीन राजाओं ने भरतकुल की मानमर्यादा किसी प्रकार मेरी नगरी में संचित रखी। परन्तु अवन्ती के पालक ने शीघ्र अर्जुन के उस यशस्वी भरतकुल का अन्त कर दिया जिसका निचक्षु ने मेरी धरा पर आरम्भ किया था। फिर भी यद्यपि शीघ्र मेरी स्वतन्त्रता नन्दों की साम्राज्य-सीमा में समा गई, उसका अस्तित्व बना रहा और हजार वर्ष तक मैं किसी न किसी रूप में साँस लेती रही।

महापद्मनन्द के सर्वक्षत्रान्तक नीति ने मेरी स्वतन्त्रता की स्थिति गिरा दी और चन्द्रगुप्त मौर्य ने जब नन्दों का अन्त किया तब मैं मौर्य साम्राज्य की भी चेरी बनी। परन्तु मेरी स्थिति अन्य नगरियों की भाँति फिर भी दयनीय न थी। मौर्यों के शासन का तब भी मैं एक केन्द्र थी और मेरे कौशाम्बी प्रान्त का शासन मेरी नगरी में ही स्थित एक महामात्र के हाथ में थी। अशोक ने बौद्ध धर्म का सेवक होकर संघ भेदकों के विरुद्ध जब अपना आदेश शासन के रूप में घोषित किया तब वह घोषणा स्तम्भ पर उत्कीर्ण हो मेरे ही प्राङ्गण में खड़ी हुई। पीछे जब मेरी स्थिति और भी डाँवाडोल हो गई तब वह स्तम्भ प्रयाग की शोभा बढ़ाने लगा। ईस्वी पूर्व दूसरी शती में पुष्यमित्र शुंग ने जब ग्रीक मेनान्दर का पराभव कर संघों की वंचकता से खिन्न हो जलन्धर तक के बौद्ध बिहार जला डाले तब उसकी लगाई लपटों में मेरे बिहार भी भस्म हुये थे।

बाख्त्री के ग्रीक दिमित्रिय की पूर्वी सेना के अध्यक्ष उसके जामाता मेनान्दर ने जब मगध में प्रवेश किया था, तब मेरे ही भग्न प्रासादों में यमुना के तट पर उसने डेरा डाला था और कुछ काल बाद मुझसे थोड़ी ही दूर पर पुष्यमित्र द्वारा वह पराभूत भी हुआ था। वह कहानी मुझे भली भाँति याद है। भली भाँति याद है और न केवल वह इसलिए कि विदेशी विजयवाहिनी ने देश में प्रवेश किया था, बल्कि इसलिए भी कि उसी के फलस्वरूप जो देशव्यापी उथल-पुथल हुई उससे मैं स्वतन्त्र हो गई।

शुंगों के बाद कण्व आए। कण्वों के बाद आन्ध्र-सातवाहन और तब शक और कुषाण। शुँगों के पिछले राजा कमजोर हुए और पश्चिमी प्रान्तों पर उनकी पकड़ ढीली होते ही मैं स्वतन्त्र हो गई और मैंने अपनी नगरी के आधार से आस-पास की भूमि पर एक स्वतन्त्र राज्य की प्रतिष्ठा की। कण्व तो कमजोर थे ही, आन्ध्र-सातवाहन भी दक्षिण की राजनीति में विशेष फँसे रहने के कारण उत्तर के प्रा तों पर अधिक ध्यान न दे सके और मेरी आजादी बनी रही। शकों का खूनी नेता लोहिताक्ष अम्लात जब मध्यदेश से पश्चिमी प्रान्तों को रौंदता इस ओर से निकला तो मेरी भी वही गति हुई जो औरों की हुई—पार्थिव नष्ट हो गए, प्रान्त बिखर गए, वर्णाश्रम धर्म नष्ट हो गया—परन्तु मैंने तब रक्षा 'वैतिसीवृति' से की—बेंत की नीति से जो आँधी आने पर सिर झुका लेता है और उसके निकल जाने पर पूर्ववत् उठ खड़ा होता है। इन दो सौ वर्षों में मेरा शासन मित्रकुल के स्वतन्त्र नृपतियों के हाथ में रहा जिन्होंने मेरी सीमाओं में अपने नाम के सिक्के चलवाए, अभिलेख घोषित किए, ग्राम दान दिए। कनिष्क ने जब पाटलिपुत्र से अश्वघोष को सहसा झपट लिया था तब उसको सेनाओं के समक्ष भी मैंने वही बैतिसी नीति अपनाई। कुषाणों के कमजोर हाथों से वाकाटकों और नागों ने राजदण्ड छीन लिया, उनकी चोटों से

विशेष कर नागों के धावों से कुषाणों की पूर्वी राजधानी मथुरा तक न बची। तब फिर मैं अपनी स्वतन्त्रता खो बैठी और मारी हुई गेंद की तरह कभी वाकाटकों के हाथ से नागों के हाथ आती, कभी नागों के हाथ से कुषाणों के हाथ। अन्त में नागों ने पद्मावती से उठ कर कान्ति-पुर से मथुरा तक की पृथ्वी अपने हाथ में कर ली और अश्वमेधों के यजन के बाद अनेक बार काशी तट पर भागीरथी में 'अवभृथ'-स्नान किए। काशी का दशाश्वमेध घाट मेरे हीं नाग स्वामियों की कीर्ति कथा को अमर करता है। नागों के सम्पर्क से भी मैं काफी फूली-फली और यद्यपि मैं उनकी एकमात्र राजधानी न हो सकी, निःसन्देह मेरी नगरी उनका एक विशिष्ट केन्द्र फिर भी बनी रही। एक एक अश्वमेध कर अनेक राजाओं ने अपने को धन्य माना और ऊँचे स्तम्भों पर अपनी प्रशस्ति खुदवाई है परन्तु मेरे स्वामियों ने खड्ग से जो अपनी कीर्ति कथा लिखी, वह शौर्य के क्षेत्र में प्रतीक बन गई। उन्होंने एक नहीं, दस-दस अश्वमेध किए।

परन्तु नागराजा भी अपनी शक्ति सर्वथा के लिए कायम न रख सके। कौन रख सका है? मगध में इस काल के कुछ ही पहले तीसरी सदी ईस्वी के आरम्भ में ही एक शक्ति उठ चली थी। वास्तव में उनका आरम्भ प्रयाग के गंगावर्ती प्रदेश और साकेत से ही हुआ था, परन्तु मेरी सीमाएँ फिर भी अछूती रही थीं। चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवियों के साथ जब अपना विवाह संबंध किया, तभी मुझे अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता के संबंध में भय उपस्थित हो चला था और वह भय उचित ही था। चन्द्र गुप्त के बेटे समुद्रगुप्त ने साम्राज्य निर्माण पर कमर कसी। दिग्विजय और अश्वमेध किया, आर्यावर्त्त के राजाओं को उखाड़ फेंका, गणराज्यों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया, आरविक राज्यों को संत्रस्त कर दिया, दक्षिणपथ के राजाओं की लक्ष्मी छीन ली, अन्तों को कर, उपहार आदि देने को

मजबूर किया—मैं भी उसी के बढ़ते साम्राज्य में समा गई। आर्यावर्त्त के राजाओं को उखाड़ फेंकने की समुद्रगुप्त ने शपथ ली थी। मैं आर्यावर्त्त में उसकी पहली पश्चिमी पड़ोसिन थी।

परन्तु मिटते मिटते भी मैंने अपनी शक्ति का परिचय दिया। तब नाग राजाओं के कम से कम तीन स्वतंत्र राजकुल थे—अच्युत, नागसेन और गणपतिनाग। तीनों ने एक साथ उस आजादी के दुश्मन साम्राज्यलोलुप समुद्रगुप्त को यमुना के किनारे मेरे ही प्राङ्गण में सम्मिलित शक्ति से राह रोकी। युद्ध जमकर हुआ। यमुना की धारा रक्त से लाल हो गई। भूमि लहू से सिक्त। अन्त में संध्या होते होते सूर्य के साथ ही नागों की शक्ति भी अस्त हो गई। परन्तु अपनी खोती आजादी की रक्षा में तीनों नृपति उस एक दिन के युद्ध में ही खेत आए। समुद्रगुप्त ने अपनी प्रशस्ति में बड़े गर्व से लिखवाया कि तीनों नाग राजाओं का उसने एक ही दिन के युद्ध में वध किया। निश्चय यह तस्वीर में शेर पर चढ़े आदमी की बात थी। काश मैं उस युद्ध का रक्तरंजित इतिहास अपने दरबारी-अनुचर कवि से लिखवा सकती! और मैं लिखवाती कि स्वतंत्रता की रक्षा में नागराजों ने प्राण तक का मूल्य अधिक न समझा और वे बलि हो गए।

और समुद्रगुप्त की यह रक्तरंजित प्रशस्ति अशोक के इस चिरस्मरणीय पूत उपदेश को वहन करने वाले स्तम्भ पर खुदी जिसमें उसने शान्ति और दया के संवाद खुदवाए थे। अब से मेरा इतिहास फिर दीन हो चला। गुप्तों के साम्राज्य में मैं यद्यपि प्रान्तीय शासन का केन्द्र हुई फिर भी दासता तो दासता ही है। आजादी खोकर मैं सुखी न रह सकी। पाँचवीं सदी के प्रायः तृतीय चरण तक मैं गुप्तों के अधिकार में रही। स्कन्दगुप्त ने हूणों की प्रचण्ड आँधी से देश की रक्षा के लिए जो तप किया उसे भी मैंने देखा। परन्तु वह आँधी साधारण न थी। रोमन

साम्राज्य की उसने कमर तोड़ दी थी, मध्यएशिया के अनन्त राज्य उसकी चोट से नष्ट भ्रष्ट हो मिट्टी में मिल गए थे। उस आँधी को रोकना स्कन्द गुप्त के से सामरिक अथवा लड़खड़ाते गुप्त साम्राज्य के वश की बात न थी। शकारि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के बाद ही जिस विलास ने कुमार गुप्त के रूप में मगध की गद्दी का आरोहण किया था, वह वस्तुतः गुप्त साम्राज्य के लिए विष का घूंट था। कुमारगुप्त ने विलास में मेरे उदयन को अपना दृष्टान्त बनाया परन्तु उसमें न तो उदयन का शौर्य था न उसकी बुद्धिमत्ता थी, न उसकी शिष्टता थी।

गुप्त साम्राज्य हूणों की अनवरत चोटों से लड़खड़ा कर गिर पड़ा और यद्यपि बालादित्य ने यशोद्धर्मन के सहयोग मे स्कन्दगुप्त के बाद हूणों का पराभव किया वह उनकी गति न रोक सका। हूणों ने जनपद उजाड़ डाले। मैं भी एक बार फिर उनकी चोट से उजड़ गई। परन्तु यह चोट सबकी समान चोट थी, मैंने भी उसे चुपचाप सह लिया।

हूणों के पहले मेरा एक सांस्कृतिक जीवन था। कला से मण्डित, संगीत से निनादित, दर्शन से जागरूक। दर्शन की दिशा में तो गुप्त काल में मैंने विशेष उन्नति की। बालादित्य समुद्रगुप्त का गुरु, प्रकाण्ड बौद्ध दार्शनिक बसुबन्धु जो बाद में अयोध्या में रहने लगा था पहले अपना चिन्तन उसने मेरे ही नगर में आरम्भ किया था और यद्यपि वह विशेषतः गुप्तों की उस दूसरी राजधानी अयोध्या में ही रहता था वहाँ के शोरगुल से भाग अक्सर वह मेरे प्रशान्त घोषिताराम में जमुना के किनारे प्रायः शरण लेता था। वसुबन्धु के भाई असंग ने भी अपने विख्यात बौद्ध विचार योगाचार के सूत्र यहीं ग्रथित किए। इस नए सम्प्रदाय ने बौद्धों के दार्शनिक चिन्तन क्षेत्र में तत्काल अपना स्थान बना दिया और आने वाली सदियों में उसका निरन्तर प्रभाव बढ़ता गया। उस यगोाचार का आरंभ जैसा पहले कह चुकी हूँ मेरे घोषिताराम में ही हुआ, उस घोषिता-

राम में जिसे चौथी सदी ईस्वी के अन्त में फाह्यान ने देखा था और फिर सातवीं सदी में ह्वेनच्वाँग ने देखा। परन्तु हूणों ने दर्शन चिन्तन की वह शृंखला तोड़ दी थी, कला के वे मण्डन-साधन बिखेर दिए। प्रदत्त-पुष्कर का निनाद बन्द कर दिया था।

हूणों के बाद मौखरियों ने कन्नौज पर कब्जा कर लिया था और उसके साथ ही मैं भी उनके अधिकार में आई। कन्नौज के मौखरियों और मगध के पिछले गुप्तों में दिनरात कशमकश चलती रही और अन्त में गौढ़ और मालवा के सम्मिलित योग ने मौखरी कुल का अन्त कर दिया तब कन्नौज का स्वामी थानेश्वर का राजा हर्षवर्धन हुआ। हर्ष-वर्धन के शासन काल में मेरी विशेष उन्नति न हुई और मैं चुपचाप अपने अतीत के आँकड़े सँभालती औंधी पड़ी रही। हर्ष की मृत्यु के बाद देश में फिर उथल-पुथल मची और शक्ति का एक नया स्वरूप राजपूताने की मरुभूमि में खड़ा हो चला। अनेक जातियाँ, देशी-विदेशी संघर्ष और सम्मिश्रण से उठ खड़ी हुई थीं, जिनका देश की राजनीति और संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ना अनिवार्य था।

मेरा संबंध कन्नौज के साथ अब कुछ स्थाई सा हो चला था और जैसे जैसे उस नगर के भाग्य पलटते वैसे ही वैसे मेरे भी पलटने लगे। हम दोनों का स्वामिनी-चेरी का संबंध हो गया था और मैं अब स्वा-मिनी के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होने लगी। आठवीं सदी में कन्नौज में एक नई शक्ति ने जन्म लिया, और यद्यपि वह वहाँ फिर स्थाई न हो सकी। उसने मध्यदेश की राजनीति पर प्रभाव काफी डाला। अज्ञात कुल वाला यशोवर्मन् जिसने वहाँ अपनी शक्ति का साका चलाया विशेष प्रतापी हुआ और मैं भी अपने स्वामी का यशोगान करने लगी। यशोवर्मन् का नाम संस्कृत साहित्य में भी स्मरणीय हो गया क्योंकि उसका सम्पर्क प्रसिद्ध नाटककार भवभूति से था। भवभूति ने मनस्विता

और मर्यादा की जो छाप अपने नाटकों पर छोड़ी है वह साहित्य में अनुपम है। उत्तर रामचरित और मालतीमाधव उच्चकोटि की रचनाएँ हैं विशेषकर मालतीमाधव जिसका मनस्वी उद्गार कठिन परिस्थितियों में पड़े अनेक साहित्यिकों का शक्ति सम्बल हो गया है। समालोचकों की चोट से व्यथित भवभूति जब इस बात से दुःखी हुआ कि उसकी कृतियों से मर्मज्ञ नहीं हैं तब भी उसने धीरता न खोई और उसने लिखा—"उनके लिए यह प्रयत्न नहीं जो समझ पाते वरन् उनके लिए है जो आगे आएँगे क्योंकि काल की अवधि नहीं और पृथ्वी विपुल है। कभी तो आखिर समानधर्मा उत्पन्न होकर उन्हें समझेंगे–"उत्पत्स्यते ममतु कोऽपि समानधर्मा कालो ह्यं निरवधि विपुला च पृथ्वी। भवभूति भारतीय साहित्याकाश का वह नक्षत्र है जो दर्बारी संरक्षा में रहकर भी अपना व्यक्तित्व न भूला।

राजनीति वह शिला है, जिससे सारी संस्कृति, सारी भावुकता टकरा कर चूर चूर हो जाती है। यशोवर्मा के शासन काल में ही कन्नौज को बुरे दिन देखने पड़े। काश्मीर के दिग्विजयी ललितादित्य मुक्तापीढ़ ने कन्नौज पर आक्रमण कर उसे जीत लिया फिर यशोवर्मा और भवभूति दोनों ही लुप्त हो गए। शीघ्र फिर भी इसी कन्नौज में आयुधों का राजकुल प्रतिष्ठित हुआ परन्तु इस कुल के तीनों नृपति वज्रायुध, इन्द्रायुध, चक्रायुध दुर्बल थे और उनके होते भी उनकी राजनीति का चक्र औरों ने प्रवर्तित किया। धर्मपाल ने वज्रायुध को गद्दी से उतार इन्द्रायुध को बिठाया। नागभट्ट ने इन्द्रायुध से गद्दी छीन चक्रायुध को दे दी। इसी उथल पुथल में कन्नौज के मुस्कराते खेतों पर राष्ट्रकूट टिड्डीदल की भाँति टूट पड़े। राष्ट्रकूट नृपति ने अपने कलचुरी सामन्त की सहायता से प्रयाग तक का प्रदेश खूब लूटा और धर्मपाल को दोआब छोड़ बंगाल भागने पर मजबूर किया। इस लूट में मेरी भी कुछ कम अधोगति न हुई,

क्योंकि दक्षिण से आनेवाला मार्ग मेरी नगरी से ही होकर गुजरता था और राष्ट्रकूटों की सेनाएँ दोनों ओर से इधर से ही गई थीं।

फिर मैं गुर्जर प्रतिहारों के अधिकार में आई और जब नागभट्ट द्वितीय ने उस उथल पुथल में कन्नौज में अपने कुल की राजनीतिक परम्परा कायम की तब मैं उसके प्रान्त का शासन केन्द्र बनी। प्रतिहारों का अधिकार कन्नौज पर प्रायः दो सौ वर्षों तक बना रहा और मैं लगातार उनके अधिकार में फूलती फलती रही। यद्यपि उनके पिछले नृपतियों के दुर्बल सत्ता के फलस्वरूप मुझे अनेक बार अपमानित भी होना पड़ा। नागभट्ट, मिहिरभोज, महेन्द्रपाल प्रथम, महीपाल, महेन्द्रपाल द्वितीय बारी बारी से मेरे स्वामी हुए और यद्यपि धीरे-धीरे उनकी शक्ति चन्देल राजकुल क्षीण करता गया फिर भी मेरी स्थिति में विशेष अन्तर न पड़ा और यद्यपि मैं स्वयं राजधानी न थी, मेरा प्रभाव था, मेरी प्रतिष्ठा थी।

त्रिलोचन पाल के समय मेरी स्थिति फिर बिगड़ चली। यद्यपि वह विशेषतः मेरे कारण नहीं कन्नौज के दुर्भाग्य से। ग्यारहवीं सदी का प्रथम चरण था। धन पिपासु और लुटेरा महमूद गजनवी इस्लाम के नाम पर हिन्दुस्तान पर चोटें करने लगा था। इस्लाम के झण्डे के नीचे तब मध्य एशिया के खूँखार डाँकू और नंगे भी खड़े थे। शाहियों पर, जो कभी शक कुषाण थे और अब ब्राह्मण-क्षत्रिय होकर जिन्होंने सदियों भारत के सिंहद्वार की रक्षा की थी, सुबुक्तिगीन और उसके बेटे महमूद ने भयंकर चोटें कीं। जयपाल और आनन्दपाल टूट गए, शाही उखड़ गए और महमूद प्रतिवर्ष मध्यदेश के खलिहानों और मन्दिरों पर टूटने लगा। त्रिलोचन पाल ने कभी मेरी नगरी में दर्बार कर गाँव दान किए थे, अभिलेख लिखवाए थे, अब उसे विकट महमूद का सामना करना पड़ा। महमूद के विरुद्ध मैदान में तो वह जरूर

उतरा परन्तु अफगानों के हमले से घबराकर वह भागा। महमूद ने कन्नौज को लूटा और उसके मन्दिरों के कलश कँगूरे जमीन पर डाल दिए। मेरे कलश कँगूरे भी अछूते न बचे और इस्लाम की सेनाओं ने उनको भी तहस-नहस कर डाला। मैं फिर लुट गई।

त्रिलोचन पाल का भागना चन्देलों को असह्य हो गया था और यद्यपि वे स्वयं महमूद का सामना न कर सके थे, उनके राजा गण्ड ने अपने युवराज विद्याधर को कन्नौज भेज त्रिलोचनपाल को मरवा डाला और उसके बेटे राज्यपाल को गद्दी दी। महमूद ने जब यह सुना तब वह फिर लौटा और राज्यपाल को मार उसने चन्देलों की भी खबर ली। मेरी स्थिति कन्नौज की राजनीति की ही भाँति डाँवाडोल होती और बनती बिगड़ती रही। प्रतिहारों का अन्तिम राजा यशपाल था जिसने त्रिलोचनपाल की ही भाँति मेरी नगरी में दर्बार किया और मुझ पर अपना अधिकार बनाए रहा। उसके साथ ही कन्नौज से प्रतिहारों की सत्ता उठ गई और कुछ काल के लिए उस साहित्यिक वातावरण की भी, जिसमें भवभूति और राजशेखर फले फूले थे प्रतिहारों के बाद कन्नौज की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई। चारों ओर की शक्तियों की लूट खसोट से वह तिलमिला उठा। पाल और राष्ट्रकूट, चन्देल और कलचुरी बारी बारी से उसे लूटते रहे और मैं भी उसी की भाँति चोट पर चोट सहती रही।

इस उथल पुथल का अन्त उस चन्द्रसेन ने किया जिसने कन्नौज के नए गहड़वाल राजकुल की नींव डाली। उसने अनेक देश जीते और आस पास के सारे प्रदेश अपने हाथ में कर लिए। कन्नौज में नई शक्ति जम चली और उसके साथ ही मैं भी कान्तिमती हुई। गोविन्द चन्द इस कुल में विशेष कर्मठ हुआ। युवराज की ही स्थिति

में उसने मसूद तृतीय के भेजे हाजिब की सेना को हराकर तितर बितर कर दिया था और अब जब वह गद्दी पर बैठा तब उसने गया तक के प्रदेश जीत काशी को अपनी दूसरी राजधानी बनाया। दक्षिण के चालुक्य, गुजरात और कश्मीर के राजा उसका लोहा मानते और उससे मित्रता का दम भरते थे। मेरा गौरव फिर उस महाकाय नृपति ने यमुना के किनारे प्रतिष्ठित किया, परन्तु उसके पोते जयचन्द के जीवन-काल में फिर कन्नौज की लक्ष्मी ने पलटा खाया और साथ ही मैंने भी।

गोर के सूखे पहाड़ों में एक नए पठान राजकुल ने प्रतिष्ठा पाई थी और उसके सुल्तान शहाबुद्दीन गोरी ने हिन्दुस्तान के लहलहाते मैदानों को जीतने का कौल किया। पहली बार का उसका हमला व्यर्थ गया। दिल्ली के चौहान राजा पृथ्वीराज ने अन्य हिन्दू राजाओं की मदद से उसे धूल चटा दी। उस जीत में कन्नौज का भी हाथ था। परन्तु जब तक शहाबुद्दीन फिर से सेना तैयार कर हिन्दुस्तान लौटा, जमाना बदल गया था। परस्पर ईर्ष्या और फूट ने हिन्दुस्तान की राजनीति की काया पलट दी थी और उस स्थिति को डाँवाडोल करने में पृथ्वीराज का विशेष हाथ था। जयचन्द सम्राटपदीय राजा था। अनेक देश उसने जीते थे और अपनी जीतों के उपलक्ष में उसने अश्वमेध भी किया था। उज्जयिनी से गुजरात तक के राजा उसका लोहा मानते थे। दिल्ली अभी हाल तक कन्नौज की चेरी रही थी और थोड़े ही दिन पहले बीसलदेव ने उसे जयचन्द के पिता से छीन लिया था। चौहानों को जयचन्द अपना माण्डलिक मानता था और उसका ऐसा करना कुछ बेजा भी न था। पृथ्वीराज वीर अवश्य था पर विलासी भी असाधारण था। देश में उसके अनेक युद्धों का कारण उसकी अप्रतिम विलासिता थी। आज उसने इस राजकुल की बेटी छीनी, कल

उसकी। यही पृथ्वीराज की राजनीति थी। जयचन्द की बेटी संयुक्ता के हरण में उसे कन्ध, कैमास के से वीरों की बलि देनी पड़ी, परन्तु अपनी कामवासना की अभितृप्ति के लिए उस चौहान नृपति ने कभी कोई मूल्य न समझा। नतीजा यह हुआ कि शहाबुद्दीन की दूसरी चोट ने उसके पौरुष पर दाग लगा दिया। 'सरसुती' के किनारे जब वह हाथी से उतर कर घोड़े पर भागा जा रहा था, पठानों ने उसे पकड़ कर 'जहन्नुम' रसीद कर दिया। निश्चय जयचन्द ने अबकी उसकी मदद न की थी, पर मैं पूछती हूँ कौन पिता अपनी बेटी भगा ले जाने वाले जबरदस्ती बने दामाद के लिए अपना खून बहाएगा ?

कन्नौज पर दूसरे ही साल गोरी आ धमका और मुझे इस बात के कहते गर्व होता है कि जयचन्द ने पृथ्वीराज की भाँति उसे पीठ न दिखाई और वह अस्सी वर्ष के बुढ़ापे में अपनी मुट्ठी भर जवानों के साथ मुझसे थोड़ी ही दूर पर चन्दावर के मैदान में आ उतरा। जिस बहादुरी का उसने वहाँ प्रदर्शन किया उसकी प्रशंसा मुसलमान तवारीख नवीसों ने मुक्तकण्ठ से की। मैं अपनी डाँवाडोल, शङ्कित स्थिति से उत्कण्ठित हो उस युद्ध के मैदान की ओर देखती रही क्योंकि उसी के परिणाम पर मेरा बुरा भला भी निर्भर था। यद्यपि उस परिणाम को मैं पहले से ही जानती थी। जयचन्द की सेना के बाँके लड़ाकों का रक्त यमुना की धारा में बहकर मेरे तट पर भी पहुँचा और मेरी प्राचीन नगरी भी उसके पावन स्पर्श से पवित्र हुई। तब के बाद इधर के प्रदेशों पर भी मुसलमान काबिज हुए।

अभी सौ वर्ष पहले तक मैं जागती सोती फिर भी जीती रही हूँ पर धीरे धीरे मेरी संज्ञा मेरे नगर के भवनों के साथ ही सो चुकी है, सदा के लिए समाधिस्थ हो चुकी है। मीलों तक फैले मेरे परकोटे उस प्राचीन

इतिहास की कहानी कहते हैं जिनके ताने बाने मेरे कर्मठ राजाओं और विरक्त दार्शनिकों ने बुने थे। उन परकोटों के पीछे की धूल में, उन राजाओं और रानियों की रज भी मिली है, जो भारतीय इतिहास में विलास के प्रतीक बन गए। वक्तों की अम्लान प्रिभा, भरतों की कान्तिमती लक्ष्मी मैं आज कोसम और गढ़वा के टीलों में दबी चुपचाप यमुना के प्रवाह को देख रही हूँ, जिसकी उदासीनता में कभी कोई अन्तर न पड़ा।

वैशाली

मैं वैशाली हूँ—जनशक्ति का गढ़। जो लोग उत्तर बिहार के तिरहुत प्रदेश में मुज्जफरपुर के जिले में बसाढ़ गाँव देखते हैं, उनको इस बात का गुमान तक नहीं कि उसकी मिट्टी में वे विभूतियाँ सोई हैं जिन्होंने कभी मानवता का नेतृत्व किया था, राजसत्ता के जो आजीवन विद्रोह रहे और जिन्होंने आमृत्य जन बल को पीछे कर राजाओं की महत्वाकांक्षाओं से सदियों लोहा लिया।

जन-स्वातन्त्र्य की शास्वत प्रहरी मुझ वैशाली ने जनसत्ता का पाया हजार वर्षों तक नेतृत्व किया और जनसत्ता राष्ट्रों की उस शृंखला में अग्रणी रही जिसमें पावा के मल्ल, पिप्पलिवन के मोरिय, रामग्रामे के कोलिय और कपिलवस्तु के शाक्य इतिहास में विख्यात हो गए हैं। इन गणतन्त्रों ने समय समय पर भारतीय इतिहास को उसकी असाधारण

ऊँचाइयाँ दी हैं—मैंने वर्द्धमान महावीर को विप्नलिवन में चन्द्रगुप्त मौर्य और कपिलवस्तु में तथागत बुद्ध को बसाढ़ के भग्नावशेष उन दिनों की याद दिलाते हैं जब मैं समाधिस्थ हुई थी, परन्तु तब से पूर्व का इतिहास कुछ ऐसा है जहाँ सदियों तक राजनीतिक प्रयत्न केन्द्रित रहे हैं। मेरा आरंभ प्रायः नवीं सदी इसवी पूर्व का है। नवीं सदी इसवी पूर्व में मेरे पड़ोस की वह नगरी कीर्तिमती थी जिसका वैभव मैंने शीघ्र छीन लिया, उस मिथिला का जो विदेहों की राजधानी थी और जिसके अवशेष अब भी हिमालय की तराई में जनकपुर में सोये पड़े हैं।

ऐसा नहीं कि मेरा आरंभ सर्वथा तभी हुआ हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि तब और तब के पहले, बहुत पहले, भी मैं सर्वथा अनजानी न थी, पर हाँ, मिथिला के सामने अकिंचन, उसकी चेरी अवश्य थी। वैसे तो मैं तब भी निर्जीव न थी जब इस भू भाग पर आर्यों का तत्व न था, जब इस देश के प्राकृत निवासी अपने अराजक सत्ता के अनुकूल सुखी जीवन बिताते थे। वस्तुतः यही कारण है कि मैं सदियों के दौरान में अपनी जन सत्ता प्रवृति की परंपरा कायम रख सकी। मैंने पूर्व में कोशल, काशी और मगध में आर्यों के पहले बल्ले गड़ते देखे थे, मैंने कोशल में इक्ष्वाकुओं को अपना आधार स्थापित करते देखा, ब्रह्मदत्तों को काशी में और मगध में बहिद्रथों को। फिर कोशल की ओर से जन सत्ता जनपदों को बाँध सदानीरा को पार कर अपने विस्तृत आँगन में आर्यों को मैंने उतरते देखा। तब वे इधर के रहने वालों को 'अनासा', 'मृध्रवाचा', 'अदेवयु', 'अयज्वन', 'व्रात्य', आदि कहते थे और इधर के रहने वाले उनको गाली समझ गाली का उत्तर गाली से देते थे। कभी आर्यों ने अंगों-मगधों को अपावन देश कहा था। अपनी व्याधियों को मन्त्र द्वारा उधर भेजने के उपक्रम किए थे, परन्तु शीघ्र लाभ की भावना से प्रेरित हो उन्होंने उसी अपावन पूर्व में अपने बीसियों केन्द्र स्थापित

किए, स्थान विशेष की महत्ता किस प्रकार अर्थ और पात्र पर केन्द्रित है यह मैंने तभी देखा। काशी, अयोध्या, गिरिव्रज और चम्पा में धीरे धीरे इनकी छावनियाँ और फिर विस्तृत समृद्ध राज्यों की राजधानियाँ स्थापित हुई।

उन्हीं दिनों विदेहों का कुल भी मिथिला में स्थापित हुआ। विदेहों के एक के बाद एक दो कुल कालान्तर में प्रतिष्ठित हुए जिनको उठते, पनपते, समृद्ध होते और अन्त में विध्वस्त होते मैंने देखा। तब जैसा मैं पहले कह चुकी हूँ, अकिंचन थी मिथिला की चेरी परन्तु इसीलिए मिथिला के आँगन में घटने वाली घटनाएँ भी मैं निरन्तर देखती रही। पहला कुल उन विदेहों का था जिन्होंने आरंभ में जनों या कबीलाबंदी का अपना जीवन बिताया था। इक्ष्वाकुओं के अयोध्या में प्रतिष्ठित हो जाने के काफी बाद क्षत्रियों का विदेह नामक पहला प्रख्यात और लड़ाका कबीला सदानीरा को पार कर इधर के मैदानों में उतरा था और उसने आसपास की सारी भूमि पर अपनी विजय के झण्डे खड़े किये। उनमें सबसे प्रतापी सीरध्वज जनक का कुल था। पहले तो वह कुल भी अन्य कबीलों की भाँति एक कबीला मात्र था। विदेह उस कबीले का नाम था और उसका प्रमुख कुल जो सीरध्वज का था केवलमात्र उसका मुखिया था। परन्तु शीघ्र नये देश में पहुँच कर नयी समृद्धि कीर्ति, ख्याति और शक्ति अर्जित कर उस कुल ने जनमात्र की सीमायें, स्वीकार न कीं। पास ऐसे जन भी न थे जो इस जन की व्यापक सत्ता के अनुत्तरदायी निरंकुश शासन के विरुद्ध आवाज उठाने या कशमकश करते। फिर ऐसा करना संभव इसलिए भी न था कि स्वयं आर्यों में अपनी विजयों के फलस्वरूप अबतक अनेक जनपद राज्य कायम हो चुके थे—सतलज के कांठे में भरतों का, कुरुक्षेत्र में कुरुओं का, पंचाल में पंचालों का, जो दोनों भरतों की ही शाखा थे, और कोशल में

एक्ष्वाकुओं का। जनता ने इस बढ़ते हुए रोग का निदान करते ही पहले उसके उपचार का प्रयत्न किया, परन्तु शीघ्र उसके असाध्य होते ही वह चुप हो बैठ रही। जन प्रभृति का इस प्रकार हाथ पर हाथ धर बैठ रहना ही राजसत्ताक प्रभृति को प्रश्रय देता है और वही हुआ। सीरध्वज के पितामह ने विदेहों में प्रमुख कुल का अग्रणी होने के कारण पहले तो विदेह नाम गोत्र के अर्थ में स्वीकार किया फिर धीरे धीरे उसके पिता ने उसे अपना विरुद् बना डाला। सीरध्वज का पिता और स्वयं वह अब विदेहों के केवल अग्रणी न थे वरन् उनके राजा भी थे। बदलते हुए इतिहास के साथ बदलती हुई इस शक्ति काया को मैंने देखा परन्तु ऐसा लगा कि यह क्रान्ति अपनी नहीं विदेशियों—विजातीयों की है। और मुझे चुप ही रहना चाहिए, मैं चुप ही रही।

सीरध्वज जनक ने अपनी ख्याति और गौरव बढ़ाने के लिए आर्य जगत के प्रमुख राजकुल अयोध्या के एक्ष्वाकुओं से अपना वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया और इस अर्थ उसने एक बड़ा घटाटोप खड़ा किया। एक विशाल धनुष सामने रख उसने अपनी कन्या जानकी का स्वयंवर किया जिसमें दूर दूर के राजा निमन्त्रित हुए। जानकी कौन थी, यह चाहे एक्ष्वाकुओं का जाना न हो पर मैं उसे जानती हूँ। जानकी सीता थी। जोती हुई भूमि की हराई से निकली सीता जो वस्तुतः जनक की कन्या न थी इस पृथ्वी की कन्या थी, मिथिला की कन्या और आगे लिखे जाने वाले महाकाव्यों में चाहे जिस प्रकार सीता का सम्बन्ध जनक के कुल से जोड़ा गया हो। सफेद को काला करने वाले काव्यकार भी इस बात से इनकार न कर सके कि पतिम्बरा मिथिला की भूमि की जायी थी। जो हो दशरथ तनय राम ने उस धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ाई। उस धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ा कर सीता को ब्याहा, जिसे जनक ने जामाता के शक्ति-मान के रूप में स्वयम्वर के प्राङ्गण में रखा था।

सीरध्वज जनक का वह राजकुल दो सदियों में अनन्त की गोद में सो गया। उसका अन्त होते ही विदेहों में एक नई जागृति हुई और उस जागृति में मेरे गणमुखियों का भी प्रचुर योग था। विदेहों ने देखा कि जनक के राजकुल ने न केवल विदेहों की जन सत्ताक प्रकृतियाँ कुचल कर उसके स्थान पर राजसत्ता की प्रतिष्ठा की वरन् अपने नाम के अनुकूल राजधानी का नाम भी उन्होंने बदल दिया—उसे जनकपुर कहा। विदेहों ने जो अपना अराजकतन्त्र कायम किया उसमें सीरध्वज की राजधानी का नाम बदल कर उन्होंने फिर मिथिला रखा और उस आधार से वे अपने प्राचीन जन परम्परा के अनुसार राजनीतिक आचरण करने लगे।

दो सदियाँ और बीतीं। विदेहों का प्रकर्ष यश फैला। परन्तु धीरे-धीरे फिर शक्ति को एकत्र करते हुए एक नवीन राजकुल ने उस पर फिर कुठाराघात किया। इस कुल का नाम भी जनक कुल ही था और महत्वाकांक्षा की इसकी प्रवृति भी अधिकतर उस नाम के संयोग से ही हुई। परन्तु चूँकि जनबल नष्ट हो जाने पर भी उसकी याद जनता में सतर्क थी, इसलिए वह राजकुल अपने को विदेहों से सर्वथा अलग न कर सका, और उसके अग्रणी राजा जनक ने अपने को 'जनकविदेह' कहा। इससे उसने जनता का वह भय दूर करने का प्रयत्न किया, जिसकी सीरध्वज के इतिहास की याद से उसमें संचार हो सकता था। इस विदेह जनक का कुल शारीरिक शक्ति से नहीं, मानसिक शक्ति से विख्यात हुआ था। इसी कारण विदेहों की संगठित मेधा के रूप में इस कुल ने विदेहों का जन नाम भी अपने साथ जुड़ा रहने दिया।

जनक विदेह का राजकुल नवीं सदी में विशेष प्रकार से ब्राह्मणों के विरुद्ध उठने वाले क्षत्रिय विद्रोह का परिणाम था। कम से कम उसकी ख्याति और सत्ता तो इसी सफल संघर्ष के कारण जमी। जमाना

उपनिषदों के ज्ञान-संभार का था। जनपद राज्यों के साथ साथ उपनिषद् ज्ञान के केन्द्र भी स्थान स्थान पर स्थापित हो चुके थे। पंजाब के केकय में अश्वपति, पंचाल में प्रवाहण जयबलि, काशी में अजातशत्रु और विदेहों में जनक अब ज्ञान के आचार्य थे। ब्राह्मणों के हाथ से मेधा का नेतृत्व छिनकर अब क्षत्रियों के हाथ में आ गया था। अश्वपति ने जिसे अपने राज्य में चोर और 'स्वैरिणी' न होने का अभिमान था, ब्राह्मणों में अग्रणी आरुणि को 'समित पाणिभव' का ब्राह्मणोचित दर्पमय आदेश दिया था, प्रवाहण जयबलि ने विद्वानों के पञ्चाल परिषद् का प्रधान के रूप में संचालन किया था, अजातशत्रु ने दृप्तबालाकि को आत्मा सम्बन्धी प्रश्न से निरुत्तर कर दिया था और जनक विदेह ने आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु आरुणेय और उसके अप्रतिम गुरु भाई याज्ञवल्क्य को अग्निहोत्र के पाठ पढ़ाये थे। जैसा बराबर होता आया है, विजय अर्थ की जीत के लिए की गई। अर्थ और राजनीति एक ही शरीर के दो जानु बनकर बैठीं और उनका संचालन अब राजा करने लगा। राजा को अब यह इष्ट न था कि वह संहारक युद्धों में मृत्यु का सामना करे और प्रदेश को जीत जान के मूल्य जीते। उस भूखण्ड को दक्षिणा में ऋत्विज के हवाले कर दे। रघु ने कभी साम्राज्य जीत सर्वजित यज्ञ में उसे अपने पुरोहित को दे डाला था और स्वयं सूर्य का अर्घ मिट्टी के पात्र में दिया था। वह स्थिति अब उसके क्षत्रिय वंशधरों को स्वीकार न थी। उन्होंने अपने जनपद राज्य कायम कर उनकी समृद्धि के नीचे सुख और आराम का जीवन बिताना चाहा। सुख और शांति में, समृद्धि और बाहुल्य में जब उदर की आवश्यकताएँ मन को आकुल नहीं करतीं तब मन में दानव का प्रवेश होता है और वह कल्पना के नित्य नये संसार गढ़ने लगता है। दर्शन का आरम्भ उसी अनाकुल प्रज्ञा की निष्क्रिय स्थिति में होता है और निःसन्देह उपनिषदों

के ज्ञान ने दर्शन की परम्परा प्रारम्भ की। 'आत्मा', तृष्णा और लिप्सा की वह अनादि और अनन्त श्रंखला की बीजकड़ी थी, जिसने जीवन का तन्तु जुलाहे के ताने की तरह आगे को खींचा। यह जीवन जो प्रसन्न, सुन्दर, जीव्य है उसका अन्त न हो, उसकी परम्परा इस शरीर के बाद भी बनी रहे, यही इस तृष्णा का अर्थ था जिसके शमन के लिए क्या क्षत्रिय-बौद्ध, क्या ब्राह्मण-हिन्दू दर्शन ने आवाज उठाई। इस प्रकार के सुखी और जीव्य जीवन की पुनरावृत्ति का स्वप्न उपनिषद्-कालीन जनपदों का क्षत्रिय राजा ही देख सकता था और उसे उसने देखा—अश्वपति ने केकय में, प्रवाहण ने पँचाल में, अजातशत्रु ने काशी में, जनक ने विदेह में!

मैं चुपचाप यह अद्भुत आध्यात्मिक राज सत्ताक ताना-बाना कुछ काल देखती रही। मैंने पास से, काफी पास से पड़ोस से, ही उचक उचक कर मिथिला में होने वाले उस तथाकथित ज्ञान समारोह को देखा जिसमें जनक ने मध्यस्थ का आसन ग्रहण किया था और जिसमें याज्ञवल्क्य ने दुनिया के ज्ञानियों को अपना पराभव करने की चुनौती दी थी। दरबारी याज्ञवल्क्य के पीछे जनक की पार्थिव शक्ति का साधन था। कोई उसके सामने कहाँ तक ठहर सकता। गार्गी यदि कुछ देर ठहरी तो इसलिए कि उसका सम्बन्ध सम्भवतः पंचाल के राजकुल से था। परन्तु उसके प्रश्नों के उत्तर—उनका क्या हुआ? याज्ञवल्क्य ने कहा था—"ब्रह्मवादिनि, बन्द कर अपने प्रश्न वरना सिर गिर जायगा।" सिर गिर जाने का भय निश्चय बड़ा था। सम्भवतः उससे कहीं बड़ा जो कन्नौज में पश्चात काल में हर्ष से ह्वेनसांग के मुकाबले ब्राह्मणों को हो गया। गार्गी के साथ जो व्यवहार मेरे देखते ही याज्ञवल्क्य का हुआ, वह नारी के प्रति उस ज्ञानी का होना उचित ही था, जिसने जीवन भर दूसरों को निष्पृह हो इन्द्रियों के विषयों से ऊपर उठने का उपदेश

किया परन्तु स्वयं जिसकी तृप्ति एक नारी से न हो सकी और जिसे मैत्रेयी और कात्यायनी दो पत्नियाँ रखनी पड़ीं !

याज्ञवल्क्य का यह व्यक्तिगत आचरण अपने संरक्षक जनक विदेह के आचरण से भिन्न न था। जनक पिछले काल के साहित्य में 'विदेह' —जीवन मुक्त, देह के रहते उससे विरहित—कहा गया है, यद्यपि उस विदेहता का राज मैं जानती हूँ। क्या खूब कि जन-विदेहों के नाम पर उनके नेता के रूप में शक्ति संचय करने वाले जनक का उपनाम विदेह दार्शनिक विरुद मान लिया गया ! उसी साहित्य ने यह भी कहा कि मुमुक्षु जनक का एक पाँव सिंहासन पर रहता था, दूसरा वन में अर्थात् वह सर्वथा त्यागी था। दूर से अर्थ का अनर्थ करने वाले चाहे जो लिखें, परन्तु जहाँ तक मैंने देखा, जनक का एक पाँव क्या पाँव का आभास भी कभी वन की ओर न झुका। मैंने उसको निरंतर सिंहासन पर, उसके नीचे की स्वर्ण पाद पीठी पर, जमे पाया। हाँ, त्याग उसमें अवश्य था। यदि त्याग न होता तो उस धन का संचय राजप्रासाद में क्योंकर होता, जिसके फलस्वरूप स्वर्ण के पत्तर सौ गायों की दोनों सींगों पर जड़े गये थे जिन्हें जनक का दर्बारी दार्शनिक याज्ञवल्क्य अपनी विजय के पुरस्कार स्वरूप हाँक ले गया था ! और त्याग का यह रूप ऐसा था कि इसमें धन जो एक त्यागी के यहाँ संचित था, उठकर उसके संरक्षित दूसरे त्यागी के पास बह गया, जिससे एक की यशःकाया बढ़ी, दूसरे की पार्थिव अभितृप्ति हुई !

जनक विदेह और उसका आत्मदर्शन फिर भी बहुत काल न चल सके। शीघ्र उसका कुल उस विप्लव में खो गया जिसमें मिथिला के विदेहों के साथ ही मेरे नागरिकों का भी प्रचुर हाथ था। सातवीं सदी ईसवी पूर्व में विदेहों ने फिर एक बार अपनी राजनीति की काया पलट दी। राजसत्ता को कुचलकर उन्होंने प्रजासत्ता शासन का आरम्भ

किया। अब तक मेरी स्थिति प्रबल हो चली थी। जनक विदेह के शासन काल में ही यद्यपि मैं नाम मात्र को उसकी हुकूमत में थी मेरे आँगन में पंचायती बैठकों की बुनियाद पड़ गई थी परन्तु अपनी स्थिति सर्वथा स्वतंत्र करने के लिए पार्श्ववर्ती विदेहों के राजकुल का नाश आवश्यक था। उसके नष्ट होते ही न केवल मैं स्वतंत्र हो गई वरन् मेरी सत्ता सर्वथा सर्वत्र मान्य सिद्ध हुई। बार बार नष्ट भ्रष्ट हो जाने के कारण, बार-बार राज सत्ता के प्रतिष्ठित हो जाने के कारण विदेहों में डर समा गया था और अब यद्यपि उन्होंने अपनी मिथिला में भी अपने जन का स्वतंत्र 'सन्थागार' कायम किया और उसे रखा फिर भी उन्होंने मेरे ही विशाल गण का मित्र और अंग हो जाना मुनासिब समझा।

इधर मुझे भी अपनी नई उठती हुई स्वतंत्र स्थिति के प्रति एक नया डर उठ खड़ा हुआ था। गंगा पार यद्यपि बहिद्रथों के प्राचीन राजकुल का अंत हो गया था वहाँ एक नये राजकुल ने नयी शक्ति के साथ अपनी प्रतिष्ठा की थी। इसी प्रकार कोशल का राजवंश भी नित्य नये प्रदेश जीतने लगा था। ऐसा लगा कि कहीं इन राजवंशों की प्रसरनीति मेरे विरुद्ध भी न बरती जाय और मैने विदेहों का वह सुझाव मान लिया। आठ गण तन्त्र मेरे आस-पास की भूमि पर शासन करते थे उनमें विदेह ज्ञात्रिक, वज्जी, लिच्छवि विशेष शक्तिमान और प्रख्यात थे। लिच्छवियों का तो मैं ही केन्द्र थी। आठों गणों ने राजशक्तियों के विरुद्ध उनकी आशंका से शांति पाने के लिए अपना एक विशाल संघ बनाया जिसका नाम वज्जी संघ रखा गया। उसकी राजधानी मैं बनीं; जो गौरव और वैभव मुझे इस काल इस सातवीं ईसवी छठी पूर्व की इन सदियों की सन्धि पर मिला वैसा फिर कभी न मिला।

वज्जी संघ की राजधानी होने के पूर्व, जैसा मैं पहले कह चुकी हूँ, मैं लिच्छवियों की राजधानी थी और बाद भी सम्मिलित अधिवेशनों

के अतिरिक्त मै निरन्तर उन्हीं की राजधानी बनी रही। उनके सात हजार सात सौ सात राजकुल अपने प्रतिनिधि भेज कर अपने प्रान्त का शासन करते थे। इन ७७०७ प्रतिनिधियों को 'राजुक' कहते थे। उन्हें मेरी पुष्करणी में स्नान करने का अधिकार था और उस स्नान से पवित्र होकर मेरे सन्थागार में बैठने का। मेरी सन्थागार की बैठकें जन सत्ता और जन न्याय का प्रतीक थीं। बुद्ध ने कहा और सही कहा कि लिच्छवियों की बैठक देवसभा की बैठक है।

मेरे सन्थागार में जनता का कार्यक्रम सर्वथा न्यायपूर्वक होता था। गणपूरक उन आसनों पर जिन्हें आसन प्रज्ञायक प्रस्तुत करता था राजुकों को यथा स्थान बिठाता था और राजा तथा उपराजा के बैठ जाने पर प्रस्तावों की परम्परा चल पड़ती थी, प्रस्ताव को 'कम्मवाचा' कहते थे। उसका विज्ञापन 'ज्ञप्ति' कहलाती थी और उसका रखना 'प्रतिज्ञा'। प्रतिज्ञा रखने के बाद तीन बार उसे रखने वाला अपने प्रस्ताव को दोहराता था, यदि राजुक मूक रहते तब प्रस्ताव पास समझा जाता वरना किसी के विरोध करते ही उस पर बहस शुरू हो जाती, फिर यदि वोट की नौबत आती तो लकड़ी की रंग बिरंगी शलाकाओं के जरिये 'छन्द' या वोट लिया जाता। जिस संख्या में दृष्टिकोण उपस्थित होते उसी संख्या में शलाकाएँ भी रंग दी जातीं और अन्त में बहुमत से निर्णय होता। यही उस सन्थागार के अधिवेशनों की कार्य प्रणाली थी।

मेरी शक्ति इतनी प्रबल थी कि सैनिक बिम्बिसार को तो हिम्मत ही न हुई कि वह मेरी ओर रुख करे और यदि उसने किया भी तो केवल मैत्री का। अंग पर आक्रमण कर उसने उसे अपने राज्य में मिला लिया। सोलह जनपदों में से एक इस प्रकार सदा के लिए खो गया परन्तु मेरी ओर मगध राज ने केवल मैत्री का हाथ बढ़ाया। सोलह जनपदों में मैं गणतन्त्रों के इस जनपद की स्वामिनी को छेड़ने का मगध

राज को साहस न हुआ। उसने जाना कि मेरा अनुकूल सम्पर्क उसकी गौरव वृद्धि का कारण होगा और उसने लिच्छवियों के विशिष्ट परिवा के स्वामी चेटक की कन्या चल्लना के कर को पिता से माँगा और यह विवाह सम्पर्क स्थापित हुआ।

वज्जियों के न्याय-शासन की ख्याति भारत भर में थी और अनेक नवीन गणतन्त्रों ने उनके न्याय के अनुकूल ही अपने न्याय के रूप संवारे थे। मेरे सन्थागार में रखे विधान के अनुकूल ही अपराधी को दण्ड मिलता था, लिखित विधान के अनुकूल राजा की मौखिक प्रक्रिया के अनुकूल नहीं। हमारे पवेनि-पोथक उन दण्डों की अनुक्रमणी रखते थे जिनके अनुकूल अभियुक्त अपराधी सिद्ध होने पर दण्ड पाता था। और यह दण्ड पाना भी कुछ खेल न था। न्याय के सात-सात पदाधिकारी अभियोग को सुनते थे—पहले विनिश्चय-महामात्र, फिर व्यवहारिक, सूत्रधार, अष्टकुलक, फिर सेनापति और अन्त में उपराजा और राजा। इनमें से प्रत्येक प्रमाण के अपर्याप्त होने के कारण अभियुक्त को मुक्त कर सकता था। दिन-दिन मेरी शक्ति बढ़ती गई। दिन-दिन मेरी ख्याति दिगन्त में व्याप्त होती गई और दिन-दिन मैं मगध राज की महत्वाकांक्षा की राह में वृहद अवरोध का रूप धारण करती गई।

मेरे ही नगर के बाहर कुण्डग्राम में सातवीं सदी ईसवी पूर्व के पिछले चरण में उस महामना का जन्म हुआ जो पहले जिन थिर महावीर के नाम से विख्यात हुआ और जिसके चलाये अहिंसक जैन समुदाय ने दया और मानवता का प्रचार अपनी दीक्षा का मन्त्र बनाया। वर्द्धमान कुण्डग्राम के ज्ञात्रिक क्षत्रिय वंश के मुख्य सिद्धार्थ के पुत्र थे और लिच्छवियों में अग्रणी उस चेटक की भगिनी त्रिशला के तनय जिसकी कन्या चेल्लना मगध के राजा बिन्दुसार को ब्याही थी। वर्द्धमान ने युवावस्था में विवाह किया और उनका वैवाहिक जीवन भी

कुछ कम अभितृप्ति का साधन न था परन्तु अपने चारों ओर जो दुख की धाराएँ बहतीं उन्होंने देखीं तो उसके शमन के लिए वर्द्धमान सयत्न हुए। चारों ओर बन्धन ही बन्धन देख पड़े थे जिनसे स्वतंत्र होने की, बन्धनहीन निर्ग्रन्थ होने की उनकी कामना प्रबल हो उठी और वे फलतः प्रव्रजित हो गए। और बारह वर्ष तक निष्काम तप कर उन्होंने 'कैवल्य' प्राप्त की और निराडम्बर नितान्त नग्न हो वह पाये सत्य का उपदेश करने लगे। उपदेश क्षत्रियों की उसी विद्रोही परम्परा में थी जिसका उपनिषद्काल के क्षत्रियों ने और विशेषकर काशी के राजकुल के पार्श्व ने प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पहले किया था और यह उपदेश जन भाषा में किये गये। उपनिषद् काल के क्षत्रिय नेताओं ने भी ब्राह्मण भाषा संस्कृत को ही प्रश्रय दिया था परन्तु महावीर ने पहली बार जनभाषा का प्रयोग किया और मिथिला मगध राज में उसी भाषा में अपने विचारों का प्रसार करते रहे। ब्राह्मणों के वर्णाश्रम धर्म पर जो उन्होंने कुठाराघात किया, उस नीति को और साथ ही उनकी भाषा सम्बन्धी नीति को शाक्य सिंह बुद्ध ने अपनाया।

मेरा गौरव दिन दिन बढ़ता गया। बुद्ध ने जब महाभिनिष्क्रमण किया तब मेरी ओर से ही अनेक बार मगध की ओर से वे आये गये। एक बार जब मेरे नगर की वारांगना अम्बपाली ने उन्हें और उनके संघ को भोजन के निमित्त आमन्त्रित किया तब अभिजात कुलीय लिच्छवि राजुकों के निमन्त्रण को भी ठुकरा कर उन्होंने उसे स्वीकार किया और अम्बपाली ने राजुकों के रथ से सटाकर अपना रथ हाँका। यह औरों के लिए क्षोभ की बात थी कि वारवनिता राष्ट्र ने प्रतिनिधियों के बराबर रथधावन करे परन्तु वैशाली के नागरिकों के अधिकारों में कभी वैषम्य न होने दिया और तथागत ने उसके इस आचरण से सन्तोष लाभ किया। यथासमय उन्होंने उसे सराहा भी।

बिम्बिसार का पुत्र अजातशत्रु महत्वाकांक्षी था। उसके राज्य को घेरे वज्जियों से आशङ्का तो थी ही, उसके प्रसर में कंटक भी कुछ साधारण न थी और उसने मुझे निगल जाना चाहा। गंगापार का हिमालय तक यह मेरा अनन्त विस्तार अराजक नीति के शासन में हो, यह अजातशत्रु कभी पसन्द न कर सका और उसने मुझे हड़प लेने के अनेक प्रयत्न किये परन्तु उसके सारे प्रयत्न निष्फल हुए। एक बार जब महात्मा बुद्ध राजगृह में उपदेश कर रहे थे अजातशत्रु ने उनसे वज्जियों के उत्कर्ष का कारण और पराभव का उपाय पूछा। तब बुद्ध उस समय तो चुप हो रहे—निश्चय राजा की दूरभिसन्धि उन्हें खल गई और जनसत्ताक शक्ति की अाव मानना उन्हें सह्य न हुई परन्तु कुछ काल बाद मेरी प्रशंसा में मगधराज के मन्त्री ने तथागत को यह कहते सुना—

"जब तक वज्जियों के संघ में एकता की शक्ति है, जब तक उनकी बैठकें गुप्त और अधिकाधिक होती हैं, जब तक प्राचीन परंपरा का उनमें आदर है, जब तक अपने वृद्धों के प्रति वे श्रद्धालु हैं, जब तक नारियों का वे आदर करते हैं, जब तक उनकी मन्त्रणा का भेद नहीं खुल पाता और जब तक उनमें संयम प्रचुर है, तब तक कोई वैशाली का पराभव नहीं कर सकता।"

मन्त्री ने मगध राज से जब तथागत के उद्गार कहे तब वह नितान्त अकर्मण्य हो रहा परन्तु अजातशत्रु जिसने अधीर होकर पिता की मृत्यु तक की अपेक्षा न कर उसका वध कर डाला था, निश्चय वह चुप न बैठा रह सकता था। उसने तथागत के उद्गार के अनुकूल ही आचरण प्रारंभ किया। सुनीध और वसाकर नामक अपने चर-मन्त्रियों को मेरे नगर में भेज उसने भेद की नीति अपनाई। दोनों ने पहले संघ के आठों गणों में, फिर लिच्छवियों के विशिष्ट कुलों में परस्पर फूट बोनी

शुरू की। धीरे धीरे जब उसका अंकुर निकला तब उसमें विष का पुट दे दे कर अजातशत्रु ने ईर्ष्या और अनेकता के योग से सशक्त किया। सङ्घ के गण एक दूसरे को सन्देह, शंका और भय की दृष्टि से देखने लगे, तभी मगध राज ने अपनी विशाल सेना प्रस्तुत की और उस सेना के आयुधागार में असंख्य विषायुध संचित किये परन्तु आखिर इस अनीति को सार्थक करने का कोई न कोई बहाना चाहिए, पर बहाना खोजने वाले को उसे पाते देर नहीं लगती और अजातशत्रु को बहाना मिल ही गया। विमाता चेल्लना की भूमि में रत्नों की एक खान मिली थी। अजातशत्रु ने उस पर अधिकार करने के उपक्रम किये। अधिकार अकारण था परन्तु अजातशत्रु को तो बहाना चाहिए था। इसी बीच एक और घटना घटी। चेल्लना के पुत्र और अजातशत्रु के वैमात्र भ्राता हल्ल और वेहल्ल उसके अनाचार और अत्याचार से भागकर लिच्छवियों में शरण लेने मेरे नगर में आये। अजातशत्रु ने उन्हें राजप्रासाद के रत्न का चोर कह उनका पीछा किया। लिच्छवियों का उनकी रक्षा करना आवश्यक था। लोहा से लोहा टकरा गया। यद्यपि वज्जियों का संघ प्रायः टूट चुका था और वे एक दूसरे के विरुद्ध शङ्कित हो चुके थे, परन्तु इस समान शत्रु का सामना करने के लिए वे एक साथ कटिबद्ध हुए।

समर भयंकर हुआ और दीर्घकाल तक। बलिदानों की कमी न रही परन्तु अजातशत्रु के चरों ने मेरे संघ में जो फूट की बेलि बोई थी समय पर उसमें द्वेष के फल लगे और मेरा संघ विनष्ट हो गया। अजातशत्रु ने मेरे नगर और संघराज्य पर कब्जा कर लिया। हिमालय तक उसने अपने साम्राज्य की सीमा बढ़ा दी। मेरी स्वतंत्रता मेरे नागरिकों का अपरिमित स्वातंत्र्य मगध की बढ़ती हुई सीमाओं में समा गया। मैं कुण्ठित अभागिनी सी अपने पीछे मल्लों और कोलियों की ओर

ताकती रही परन्तु उनपर भी तभी कोशल की अविरल चोटें पड़ रही थीं। शाक्यों का बुरा हाल था। प्रसेनजित के पुत्र विडूडभ ने कपिल-वस्तु को अग्नि को समर्पित कर दिया था। शाक्यों का संथागार जलकर भस्म हो चुका था और उनसे मुझे किसी प्रकार की सहायता की आशा न थी। मैंने उत्कर्ष देखा था, वैभव की चोटी चूमी थी। अब मैं अपने अधोगामी इतिहास का भी निर्माण करने लगी।

मैं आजादी का अनुबन्ध थी। अब मैं नीचे की ओर गिर चली थी। यद्यपि मुझे सर्वथा नगण्य नहीं कहा जा सकता और मगध में गिरने उठने वाले राज्यों ने अनेक बार मेरी ओर देखा, अनेक बार उन्होंने मुझे सहायता के लिए आमन्त्रित किया। कुषाणों के बाद जब पूर्व का अन्तरवेद स्वतंत्र हो चला और चन्द्र मगध के पुराने राजकुल का अभिभावक बना तब एक बार फिर मेरी मगध को याद आई। चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र की गद्दी हड़प ली थी परन्तु उसे डर था कि कहीं लिच्छवियों का विरोध उसकी महत्वाकांक्षा में दाग न लगा दे। झट उसने उस नीति का पल्ला पकड़ा, जिसका अंग को जीतते वक्त बिंबसार ने कभी पकड़ा था। लिच्छवियों के एक विश्रुत कुल की कन्या के कर का चन्द्रगुप्त प्रथम प्रार्थी हुआ। उनसे उसने विवाह सम्बन्ध स्थापित कर अपना गौरव बढ़ाया। इस घटना को उसने इतना महत्वपूर्ण समझा कि इसके स्मारक स्वरूप उसने अपना वह प्रख्यात सिक्का चलाया जिसमें एक ओर लिच्छवियों की कन्या कुमारदेवि को मुद्रिका प्रदान करती हुई उसकी आकृति खुदी और कुमारदेविं की आकृति के नीचे लिखवाया—'श्री कुमारदेवी', दूसरी ओर उसने लिखवाया 'लिच्छवैयः'। निःसन्देह उठते राजकुल का मेरे साथ यह संबन्ध युक्तिसंगत जान पड़ा वरना कौन स्वतन्त्र राष्ट्र दूसरे का नाम अपने सिक्के पर लिखकर उसे अपने राज्य में चलाता है? इतना ही नहीं

कि चन्द्रगुप्त ने ही अपनी पत्नी के कुल का यश गाया हो वरन् उसके साम्राज्य विजयी पुत्र समुद्रगुप्त ने भी अपने को लिच्छवियों के सम्पर्क से समाहृत और यशान्वित माना और उसने भी अपने सिक्कों पर इस सम्बन्ध के स्मारक स्वरूप विरुद लिखवाया—"लिच्छवि दौहित्रः।"

समुद्रगुप्त की दिग्विजय और अश्वमेध के बाद मैं भी उसके विजित का अंग बन गई और उसके बेटे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने तो जो संघों व गणों के विरुद्ध अपनी मारकनीति का प्रसार किया उसमें तो भला मेरी स्थिति ही क्या हो सकती थी ? पर इतना जरूर है कि मैं सर्वथा मर न सकी और यद्यपि मेरी जनसत्ताक प्रभुता धीरे धीरे नष्ट हो गई मैं फिर भी विक्रमादित्य के साम्राज्य का एक विशिष्ट शासन केन्द्र मानी जाती रही। मेरे ही आधार से इधर के प्रान्तों का चन्द्रगुप्त के द्वितीय पुत्र गोविन्द गुप्त ने सम्राट प्रतिनिधि के अधिकार से शासन किया।

परन्तु धीरे धीरे मेरा वह सुख भी जाता रहा और वस्तुतः मैं उस सुख से वंचित होकर ही अधिक सुखी हूँ। वैशाली और लिच्छवियों के नाम कभी प्रजासत्ताक स्वतन्त्रता के पर्याय थे; कभी गणतन्त्रों ने राज्यों से आक्रान्त होकर उनकी ओर देखा था, तब उन्होंने अपना अभय हस्त उनकी पीठ पर रखा। परन्तु जब वह शक्ति उनमें न रही तब अच्छा है वे भी न रहें। अब वे नहीं हैं न वैशाली न उसके लिच्छवि।

पाटलिपुत्र

मैंने क्या देखा, क्या न देखा ? कर्मठ की तलवार के रक्त, विन्दु और आर्त के आँसू दोनों मेरे वक्ष पर गिरे हैं। दोनों ने मुझे गीला किया है, और धरती की भाँति निष्काम मैंने उन्हें धारण किया है। मैंने जो देखा है वह उदात्त है, पावन है; भयानक है, घृणित है।

मेरी छाती पर विशाल साम्राज्यों के पाए रखे गए जिनके कँगूरों ने सूरज-चाँद के घोड़ों की गति रोक ली है, पर उनके भूमिसात होने पर मैंने उनकी धूल उड़ती और अन्तरिक्ष में विलीन होती भी .देखी है। दूर के विदेशी रिसालों की गर्विली-विजयिनी आवाज आज भी मेरी स्मृति में दरार डाल देती है। आज भी उनकी पैनी चोटों से कराहने वालों की आवाज कानों को छेद देती है।

अब सुनिए मेरी कहानी। गंगा और शोण का वह मनोरम कोण

जहाँ दोनों ही नदी की लहरें एक दूसरे से टकरा-टकरा कर टूटती थीं, जहाँ उनके उत्थान-पतन वायु में कुहासा उठा देते थे, झाग उठ उठ कर बिखर जाती थी, तट को उज्वल कर देती थी। वहीं पाटलि के लाल-लाल फूल दिगन्त तक फैले मेरे भावी लाल इतिहास की भूमिका लिखते थे, लाल कहानी का अंचल सजाते थे।

वहीं पाटलि गाँव अपने लाल कलेवर से माँझियों और धीवरों का गृह-परिवार लपेटे सदियों से खड़ा था। उसी गंगा शोण के कोण में पूर्व सागरगामी पोत लंगर डालते थे, वहीं लौटने वाले जहाज पनाह लेते थे। वहीं अपनी हिंस्रिकाएँ लिए जल-दस्यु भी इन आने-जाने वाले जहाजों पर आक्रमण करने के लिए दुबके रहते थे।

वहीं अनेक बार वज्जियों के देश से आते और राजगृह से जाते समय शाक्यसिंह बुद्ध ने गंगा पार किया था। अनेक बार इसी पाटलि ग्राम में वट की छाया में तथागत का राजगृह के श्रीमानों ने स्वागत किया था, उनके मर्मस्पर्शी प्रवचन मजलूमों के कन्धों से कन्धे मिलाकर सुने थे, फिर शाक्यसिंह को विदा किया था।

वैशाली के वज्जियों के उत्कर्ष ने मगध की नींद हराम कर दी थी। अजातशत्रु के उत्तर 'प्रसर' में वज्जी-लिच्छवियों का गणतंत्र असाधारण अवरोध था। मैं ईसा पूर्व की उस छठी सदी में चुपचाप मागधों और वज्जियों के पैंतरे देखता रहा। उनके दाँव-पेंच जब तब तलवारों की चोट में समाप्त होते थे।

मगध की प्रसरलिप्सा बढ़ चली पर वज्जियों ने अपनी ढालों से गंगा तट पर चट्टान खड़ी कर दी। उन्होंने विदेह जनक का एकतंत्री राजतंत्र उलट कर अपने गणतंत्र की नींव डाली थी। उसे उन्होंने अपने परिवार और जागरूक जन चेतना से विकसित और शक्तिमान किया था। मगध के राजतंत्र से उन्होंने सफल लोहा लिया था। मागध बिंबिसार

को मैंने अंग को आत्मसात करते देखा था पर वज्जियों को छेड़ना उनके लिए संभव न हो सका।

उनके बाँके जवान गंगापार से अपने व्यापक गीत गाते जिनकी गूँज जल राशि के शिखरों पर डग भरती राजगृह के भवन-कलशों से टकराती, राजा के मन में क्षोभ उत्पन्न करती। अनेक बार विदेह सैनिकों ने गंगा पार कर मागध स्कन्धावारों को लूट लिया था। बिंबिसार ने उनसे शत्रुता विघ्नजनक जानी और उनसे विवाह संबन्ध स्थापित कर लिया।

पर अजातशत्रु वज्जियों को लाँघ कर अपने राज्य की सीमा हिमालय की छाया तक ले जाना चाहता था। वज्जियों की गतिविधि देखते रहने के लिए उस प्राचीन पाटलि गाँव के अंचल में गंगा शोण के अर्जस्वित कोण में उसने मेरे दुर्ग की मटियाली प्राचीरें खड़ी कर दीं। उन्हीं मटियाली प्राचीरों में मेरी भावी महत्ता की आत्मा जगी।

उदायीभद्र को तलवार चमकाने की कुछ विशेष आकांक्षा न हुई। पर गंगा-शोण के कोण में विशाल नगर के निर्माण की उसकी इच्छा प्रबल बनी रही। धीरे धीरे मेरा आकार-प्रकार फैलने लगा। उदायी की आज्ञा की देर थी। राजगृह से सार्थवाह चल पड़े। कारवों की गति शीघ्र क्षिप्र हुई और देखते ही देखते राजगृह का पहाड़ी नगर वीरान हो गया। उसके राजमार्ग सूने हो गए।

सेठ-साहुकार राजा-मंत्री, सैनिक-सेवक सबने मेरी उठती प्राचीरों के पीछे डेरा डाला, पहले पट-मंडप और लकड़ी का फिर ईंट-चूना-पत्थर का।

शिल्पियों की खट-खट में गंगा-शोण की लहरों का नाद खो गया। पाटलि गाँव की धूमिल रेखा भी मिट चली। उसके आकार को आत्मसात कर मैं धीरे-धीरे अपना मस्तक उठा रहा था। राजगृह का वैभव, गिरिव्रज का ऐतिहासिक ऐश्वर्य लिए मगध का राजा मेरे द्वार आ खड़ा

हुआ—मेरे द्वार जिसके तोरण भी अभी अपूर्ण थे, नंगे, अपने नुकीले शिविरों से आकाश चूमते। अब मैं पाटलिपुत्र था, पाटलि पुष्पों से लाल कुसुमपुर।

धीरे-धीरे मेरे कलश-कँगूरे बादलों में छिप चले। समानान्तर राज-मार्ग और उन पर खड़ी भवन-पंक्तियों के बीच मगध-राज का वह महल खड़ा हुआ जिसने शूष और एकबताना के महलों को लजा दिया, जिनको देख विदेशी भ्रमक स्तब्ध रह गए।

उस राजमहल के निर्माण में मगध के राजाओं ने अतुल धन व्यय किया। अजातशत्रु ने पहले ही गंगा पार कर लिया था। वज्जियों का गणतंत्र नष्ट-भ्रष्ट हो चला। उनकी विपुल रत्नराशि अब मेरे चौखटों में आ गड़ी। वज्जि-नागरिकों ने अपनी अतुल धन-राशि की प्राण की भाँति रक्षा की थी। उनके लिए वह अभोग्य थी। उसका उपयोग वे वैयक्तिक विलास में न कर सकते थे। जनक-विदेह का धन अब केवल राष्ट्र की आवश्यकताओं में खर्च होता था। पर मगध-राज की पैनी तलवार ने उस प्राचीन गणतंत्र की नींव खोद दी। दुख के संचित धन-राशि मेरे देखते ही पहले मेरे निर्माण में फिर राज के गौरव के प्रदर्शन में स्वाहा होने लगी। मेरा सर्वांश उस अमानव निधि से सज रहा था। उसके स्पर्श से मैं पुलकित हो रहा था।

धीरे-धीरे काशी-अयोध्या का वैभव मैंने क्षीण कर दिया। मथुरा-अवन्तिका अवाक हो मुझे देखने लगीं। कौशाम्बी-इरद्वार मेरे ऐश्वर्य को न सह आत्मगत हो गए। द्वारका दूर पश्चिम में समुद्रतट पर कुढ़ती रही। मैं गंगा शोण के कोण में अपना विशाल-प्रलय शरीर फैलाता जा रहा था। भविष्य की कीर्ति के लिए मेरा संकल्प दृढ़ होता जा रहा था।

मगध पूर्व का पहला साम्राज्य था, मैं उसकी पहली विशाल राज-धानी। मेरी परिधि बढ़ी, शक्ति बढ़ी। पूर्वी जनपद अब मेरी रीढ़ की

हड्डियाँ बन रहे थे। उनको आत्मसात करते ही मैं उन राज्यों की ओर बढ़ा जिसकी स्थिति मेरी परिधि के विस्तार में अवरोध थी।

तीन राज्य—वत्स, कोसल, अवन्ती (मालवा)। मेरी और अवन्ती की चोटों से वत्स हिल गया। कोशाम्बी का उदयन विलास की मूर्ति था। फिर भी उसकी तलवार, उसकी वीणा की गूँज में भी चमक उठती थी पर उसके वंशधर कायर और प्रमादी हुए। मैंने उनकी दुर्बलता पर अट्टहास किया, उसे डकार बैठा। पहले उज्जैनी ने उसे आत्मसात किया फिर मैंने उज्जैनी को। कोसल से काशी मैंने पहले ही ले ली थी, अब उसकी राजधानी श्रावस्ती की बारी थी। जब उज्जैनी को मैंने कुचल डाला तब श्रावस्ती की क्या हस्ती थी!

इसी उज्जैनी के डर से कभी अजातशत्रु ने राजगृह की दक्षिण प्राचीरें सुदृढ़ कराई थीं और यद्यपि कोसल के प्रसेनजित ने उत्तर के सिंहद्वार पर दम तोड़ा था, उज्जैनी के चण्ड प्रद्योत महासेन ने उस कमजोरी पर मुस्करा दिया था। पर आज जब मैंने उज्जैनी को आत्मसात् किया तब न चण्ड था, न गोपाल। और अराजक गुण्डों की शक्ति कितने दिन मेरी विनीत सैन्य-शक्ति की टक्कर सह सकती थी? टूट गई, उसके टखने चूर-चूर हो गए।

कोसल को मैंने शाक्यों के विरुद्ध ललकार दिया था। तथागत बुद्ध के महान शाक्य कपिलवस्तु के संथागार में राजतन्त्र का उपहास करते थे। मेरे इशारे से प्रसेनजित के बेटे विड्डडभ ने कपिलवस्तु में इतना नर संहार किया कि यम के रोंगटे खड़े हो गए। शाक्यों से धूमकोसल ने कोलियों और मल्लों को कुचल डाला। मैंने स्वयं लिच्छवियों, वज्जियों को डकार लिया था। गण और संघ अपनी अराजकसत्ता खो बैठे। बंग से मथुरा तक, हिमालय से उज्जैनी तक का साम्राज्य मेरा था—यह भारत का पहला साम्राज्य जो पूर्व में

सूरज की भाँति उदित हुआ और अब आकाश की चोटी चूमने चढ़ चला था।

मैं उस साम्राज्य का केन्द्र था। संसार में तब दो बड़े साम्राज्य थे—पहला ईरानियों का, वक्षु तट से यूनान की सीमा तक; दूसरा मेरा, मगध का, यमुना से पूर्वी सागर तक। ईरानी दारा ने जब अपनी लम्बी भुजायें बढ़ा कर सिन्ध और पंजाब को अपने साम्राज्य का बीसवाँ प्रान्त बना लिया तब मैं अपने उदय के अनिश्चित स्वप्न देख रहा था।

माना, मुझे बढ़कर सिन्धु तट पर ईरानियों से लोहा लेना था। पर क्यों? भारत को अपने छत्र के नीचे लाए बिना यह सम्भव कैसे था? पंजाबियों के गण और संघ राज्य जो सीना ताने खड़े थे उनको साम्राज्यवाद से चिढ़ थी। मैं भी उनकी ओर से उदासीन था। पड़ोसी शाक्य कोलिय-मल्ल वज्जी मेरे लिए काफी थे, पंजाब के मालव क्षुद्र के आरट्ट-वृष्णी, यौधेय-कठ दूर के दुश्मन। विदेशी को तहस-नहस करते मैंने देख लिया।

मैंने फिर देखा जो कभी न देखा था—क्षत्रिय-शूद्र संघर्ष। भारत में ब्राह्मण-क्षत्रिय सदा से लड़ते आए थे, उनके संघर्ष मेरे पहले भी हुए थे, उनकी कहानी मैंने सुनी थी। मेरे सामने भी हुए, उन्हें मैंने स्वयं देखा, पर क्षत्रिय-शूद्रों का संघर्ष मैंने न सुना था न देखा पर अब शूद्र ब्राह्मणों की छाया में खड़े थे, ब्राह्मण उनकी पीठ पर थे।

शूद्रों के प्रबल प्रतिनिधि महापद्मनन्द ने इतिहास-प्रसिद्ध शैशुनागों का कुल मगध से उखाड़ फेंका। हर्यंक शैशुनागों का वह कुल जिसमें बिम्बि-सार और अजातशत्रु हुए थे, दर्शक और उदायीभद्र, नन्दिवर्धन और महानन्दी। नन्दिवर्धन की सेनाओं ने मगध पार कर सुवर्ण रेखा लाँघ कलिंग का राजमद चूर कर दिया था, विशाल जिनकी मूर्ति कलिंग की

राजधानी में प्रतिष्ठित थी। गर्भगृह के आधार से उखाड़ उसने उसे विजय-स्मारक के रूप में मेरी प्राचीरों के पीछे ला खड़ा किया।

महानन्दी की रानी को नाई के रूप का दास होते फिर मैंने देखा। नाई ने एक दिन मेरे देखते ही देखते मगध की रानी की सहायता से अपना छुरा राजा की गरदन पर फेर दिया। फिर तो उस मेरे राजकीय अवरोध में जिस विलास-ताण्डव का समारोह हुआ उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। कुलदर्प से मदे राजाओं का 'शुद्धान्त' अन्तःपुरीय अमर्यादा से नितान्त अपावन घृणित हो उठा। महल के देवी-देवताओं ने विलास के नंगे कृत्यों से आँखें चुरा लीं।

इसी विलास की देन थे महापद्मनन्द और उसके आठ पुत्र। मैंने उसे अपने बर्बर नाई पिता की संरक्षा में बढ़ते-पलते देखा। उसके बचपन में ही यूसुफ़ जई के शालातुर गाँव से वह पठान-ब्राह्मण आया जिसे पाणिनि कहते थे, जिसने अष्टाध्यायी के सूत्र रचे, इसी मेरे ही नगर में। मुझे याद है, जब वह पहले पहल अपने उदीच्य वेश में, कुर्ता, सलवार और द्रापी (वास्कट) पहने, गरदन तक कटे बालों पर उष्णीष बाँधे मेरे राजमार्ग पर उतरा तो दर्शकों की भीड़ लग गई थी। उसी पाणिनि के नए व्याकरण सूत्र शूद्र महापद्मनन्द ने रटे।

कात्यायन-वररुचि ने उसकी जवानी में उसे व्याकरण और शास्त्र में दीक्षित किया। महापद्मनन्द ब्राह्मण कात्यायन का अस्त्र बना। मैंने बहुत कुछ देखा सुना था। अब मैंने इस अनदेखे, अनसुने इतिहास के लिए नेत्र-श्रोत्र खोल लिए।

धनी जनता को लूट कर, छोटे राज्यों का तहस-नहस कर उसने अनन्त धनराशि इकट्ठी कर, अनन्त सेना एकत्र की। कोश और सैन्य बल एकत्र कर उसने अपना 'महापद्म' नाम सार्थक किया। मैं चुपचाप

सहमा-सहमा उसका चरित देखता रहा। कराह और चीत्कार हवा में थी, आवाजें आतंक से बोझिल थीं।

क्षत्रिय राज्यों को उसने समूल नष्ट कर 'सर्वक्षत्रान्तक' विरुद धारण किया। उनके विनष्ट परिवार से अर्जित कोपराशि से मेरे कोठे भर गए। नहीं कह सकता किस अभितृप्ति के साथ मैं धन के इस अनन्त आयात को देखता था। पर्सिपोलिस और रोम के गणकों का अंकज्ञान मेरे धन की अपारता सुन गूँगा हो गया। इन राजधानियों के वैभव पर मेरी नैवार्जित संपदा व्यंग करने लगी।

इसी काल ईसा पूर्व चौथी सदी में मगध में गृह-कलह का आरम्भ हुआ, गृह युद्ध का, जिसने मेरी राजनीति की काया पलट दी। धन और शक्ति मद से अन्धे महापद्मनन्द ने मन्त्री शकटार को सपरिवार बन्दी कर लिया, फिर उसके परिवार का अन्त भी कर दिया। अपनी उदासीन आँखों से मैंने वह नृशन्स हत्या व्यापार देखा।

इसी बीच एक और घटना घटी। शाक्यों में मोरियों का एक प्रख्यात कुल था। उसका एक मात्र वंशधर चन्द्र गुप्त मौर्य मगधराज के यहाँ नौकरी करने के लिए आया। मैंने देखा उसकाल लाट प्रशस्त था, उर्जस्वित उसका वक्ष, प्रलम्ब उसकी भुजायें। उसने अपने को अक्षत्रिय कहा और मगधराज लुभ गया। उसने न जाना, उसके कुन्तलकेश में नागों का डेरा था, उसके हृदय में महात्वाकांक्षा थी, उसकी भुजाओं में साम्राज्य निर्माण का बल था, उसके कन्धों में उस साम्राज्य का भार सहन करने की सामर्थ्य थी। पर मैंने जाना, न सही समस्त, पर कम से कम भावी की भूमिका निश्चय मैंने जान ली और मैं अनागत के स्वागत और सहन के लिए कटिबद्ध हो गया।

चन्द्रगुप्त महापद्मनन्द का प्रिय पात्र हो गया और नित्य सेना में उन्नति कर चला। फिर शीघ्र वह सेनापति के उस पद पर पहुँचा जहाँ

उसकी महत्वाकांक्षा का नन्द की महात्वाकांक्षा से टकरा जाना स्वाभाविक था। मैं यह पहले अस्पष्ट फिर स्पष्ट संघर्ष देखता रहा। पर चन्द्रगुप्त नन्द की धरातल तक न पहुँच सका। इसी समय उसके क्षत्रिय होने का भेद खुल गया और नन्द के कोपानल से बचने वह भागा, मगध की साम्राज्य सीमा के बाहर, दूर पंजाब और सीमा प्रान्त की ओर जहाँ नन्द का परम शत्रु ब्राह्मण चाणक्य नन्द वंश के उन्मूलन के साधन संचित कर रहा था।

चाणक्य! हाँ वह उच्चरित शब्द जिसकी ध्वनि में एक पूरी संस्कृति का संस्कार है, एक प्रतिष्ठित राजवंश का उन्मूलन, गण-राज्यों का सर्वनाश, साम्राज्य का विस्तार, उचित-अनुचित का उहापोह, क्रूर और कुटिल का निःशेष समावेश, आर्य का प्रतिशोध, ब्राह्मण का कोप, कर्मठता अश्रुतपूर्व एकता, औदार्य-वैराग्य की मानवी पराकाष्ठा!

कुटिल के कुल में यम की दिशा में मेरे नगर में जब उस ब्राह्मण का जन्म हुआ था तब का वातावरण मुझे याद है। दरिद्र ब्राह्मणी ने उसे प्रसव किया था। उस दिन प्रचण्ड आँधी चल रही थी। गंगा शोण की लहरें आसमान चूम रही थीं और नवजात आँखें फाड़-फाड़ उन्हें देख रहा था। पाँच वर्ष बीते और उसके पिता तथा ज्योतिषी ने उसका साहस देखा।

ज्योतिषी ने उसके दाँतों की वक्र पंक्ति देख कहा—दाँतों की वक्रता बालक को महान बनाएगी,—दाँतों की वक्रता! क्या सचमुच दातों की वक्रता? उसकी क्षुनता-दृढ़ता नहीं? पिता की जानु से वह कूद पड़ा सीधा चबूतरे के नीचे और उठा लिया उसने पास का पत्थर। 'ले गणक! देख यह दाँतों की वक्रता' यह रही। दाँत नीचे आ रहे, चाणक्य ऊँचा चढ़ता गया।

इसी चाणक्य का नन्द ने एक दिन श्राद्ध में शिखा पकड़ कर अप-

मान किया। खुली शिखा पकड़ कर उस ब्राह्मण ने जो भीषण प्रतिज्ञा की वह आज भी मुझे याद है। नन्द वंश का उन्मूलन करने वह मगध से बाहर निकल गया, पंजाब की ओर। वहीं चन्द्रगुप्त उससे जा मिला।

तभी प्रचण्ड आँधी की भाँति सिकन्दर की ग्रीकवाहिनी पंजाब पर बह गई। वहाँ के राष्ट्रों को उसने कुचल डाला। पर मेरे आतंक से उसे व्यास के पार आने का साहस न हुआ। चाणक्य-चन्द्रगुप्त चुप-चाप अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। सिकन्दर के लौटते ही उन्होंने उसकी बची सेना भारत से निकाल बाहर की और वे मेरी ओर मुड़े।

उनका आतंक बड़ा था। नन्द के लिए कुछ न हो सका। मैं देखता रहा वह काण्ड जो रक्त से रँगा था, जिसने मेरी धरती लाल कर दी! नन्द के कुल में एक न बचा। चन्द्रगुप्त मौर्य नन्दों की गद्दी पर बैठा। चाणक्य साम्राज्यवादी था। उसने पंजाब और मध्य देश के गण राज्यों को मेरे छत्र के नीचे ला खड़ा किया। मेरा ऐश्वर्य अब हिमालय की चोटी से ऊँचा था। मैं विस्तृत साम्राज्य का केन्द्र था।

जब सिकन्दर का सेनापति और सीरिया का सम्राट सेल्यूकस भारत के पश्चिमी तट पर फिर अधिकार करने हिन्दूकुश लाँघ कर बढ़ा तब चन्द्रगुप्त ने उसके टखने तोड़ दिए और अब मैं हिन्दूकुश तक के प्रान्तों पर शासन करने लगा। हिन्दूकुश से महिषमण्डल (मैसूर) तक मेरी तूती बोलने लगी।

नन्द का ब्राह्मण-मंत्री राक्षस फिर भी एक काल तक स्वामी के प्रति-शोध में लड़ता रहा। उसने षड्यन्त्रों की परम्परा बाँध दी पर चाणक्य के सामने उसकी एक न चली। उसने चन्द्रगुप्त को बालबाल बचा लिया। मेरे महलों में ये षड्यन्त्र चलते रहे। जैसे मैंने महापद्मनन्द की मा के षड्यन्त्र देखे थे, इनको भी देखता रहा।

चाणक्य ने भारत के दूरस्थ प्रान्तों को एक छत्र के नीचे ला खड़ा किया। चन्द्रगुप्त ने मेरा फिर से निर्माण किया। मेरे नगर का परकोटा असाधारण बना, लकड़ी का परन्तु सुदृढ़। अब तक मेरा आकार-प्रकार बढ़ गया था। मैं अब नौ मील लंबा और पौने दो मील चौड़ा था। ६ सौ फुट चौड़ी तीस हाथ गहरी शोण के जल से भरी खाई मेरी रक्षा करती थी। उसके पीछे मेरे चतुर्दिक मज़बूत काष्ठ का परकोटा दौड़ता था जिसमें पाँच सौ मीनारें थीं, चौसठ द्वार थे।

सुविस्तृत हरे मैदान में कृत्रिम मत्स्य-सरों से घिरा चन्द्रगुप्त का राजप्रासाद था जिसकी सुनहरी बेलों पर चाँदी और रत्नों के पक्षी बैठे थे। चन्द्रगुप्त प्रातःकाल उठते ही यवनीमुख पक्षों के दर्शन करता; यवनियाँ जो बचपन में ही अपने ग़रीब मा-बाप से खरीद ली जातीं और राजप्रासादों की शोभा बढ़ातीं। सम्राट की वे ही शरीर-रक्षिकाएँ थीं, वे ही उसके शस्त्र रखतीं। चाणक्य का यह विधान था।

उस राजसभा में मैंने चन्द्रगुप्त के साथ उस ग्रीक राजकुमारी को बैठे देखा, जिसे अपनी विजय के स्मारक स्वरूप सम्राट ने वरण किया था। सेल्यूकस का ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज़ भी वहीं आदर पाता। मेरे यहाँ निवास करने वाला वह पहला विदेशी राजदूत था।

राजप्रासाद के निचले प्रांगण में पशुधावन और युद्ध होते और मेरे नगर के श्रीमान पशुओं को वीभत्स युद्ध में गिरते देख प्रसन्न होते, उन पर दाँव लगाते। स्वयं चन्द्रगुप्त दाँव लगाने में न चूकता।

मैंने फिर उस विस्तृत साम्राज्य को अकर्मण्य बिन्दुसार के अधिकार में जाते देखा। पर उस साम्राज्य की सीमाएँ अशोक के समय और बढ़ीं। अशोक ने अपने राजप्रासाद में पत्थर का उपयोग किया। उसने कलिंग-विजय की। कलिंग-युद्ध की भीषणता ने उसे नया हृदय दिया।

मैं भी मारकाट की नित्य के संवादों से ऊब उठा था। मानवता की इस नई ऊँचाई अशोक को पा मैं पुलकित हो उठा।

अशोक ने राजनीति में एक नए सिद्धान्त की रचना की। प्रजा को सन्तान समझने का सिद्धान्त भारत में जाना हुआ तो निश्चय था, पर था वह धर्म शास्त्रों तक ही सीमित राजाओं ने प्रजा को सदा गाय समझ कर दुहा ही था। अब अशोक ने एलान किया कि जैसे वह अपने पुत्र-पौत्रों का इस लोक और परलोक में कल्याण चाहता है वैसे ही वह अपनी प्रजा का भी कल्याण चाहता है। उसके हित में उसने अनेक सुखद कार्य किए। चाणक्य के अर्थशास्त्र और प्रसर नीति को उसने उठा कर अलग रख दिया और मानवता के सिद्धान्तों से शासन करने लगा। अपने उपदेश उसने शिलाओं और स्तंभों पर खुदवाए। इन्हीं स्तंभों में से एक का मस्तक वह सिंह-शिखर है जिसकी प्रतिकृति आज भारत की राष्ट्रीय मुद्रा है।

सधर्म के प्रति अशोक की यह धारणा कुछ स्वाभाविक न थी क्योंकि मैंने उस महाकाय को भी रक्त के समुद्र में हलते देखा था और वह रक्त केवल राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों का ही न था वरन् सगे भाइयों का था। यह कुछ आसान न था कि सुसीम जो बड़ा भाई था, अपने हाथ से राजदण्ड आसानी से निकल जाते देख सकता यद्यपि उसकी शक्ति के ऊपर अशोक ने कुमारावस्था में ही कभी विजय पाई थी। तब अशोक उज्जैनी का शासक था, अपने पिता का प्रतिनिधि, और तभी सुसीम तक्षशिला में पश्मोत्तर सीमा का अन्तपाल था। यूसफजई और काफ़िरस्तान के पठानों ने जो सदा से अपने शासकों के विरुद्ध तलवार उठाते रहे हैं, बगावत कर दी थी और जब सुशीम उनको न सँभाल सका था, तब बिन्दुसार ने अशोक को ही उस सीमा-प्रान्त की शासन रज्जु सौंपी थी और अशोक ने यह सिद्ध कर दिया था कि

उसकी बाहुओं में उन प्रान्तों की रक्षा के अर्थ प्रचुर बल था, जिनको कभी उसके पितामह ने सीरियक सम्राट सैल्यूकस से छीन लिया था।

वही अशोक यह था जो अब पाटलीपुत्र की गद्दी पर था और जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, उसकी सारी धारणाएँ अपने पितामह की प्रसर नीति के अनुकूल थीं। उसने भी साम्राज्य वर्द्धन के स्वप्न देखे थे, हिन्दूकुश से कुमारी तक भारत का एकछत्र सम्राट बनने की उसकी भी प्रबल कामना हुई थी और उसने भी अभियान किया था। यह अभियान उत्तर भारत के उस अकेले स्वतंत्र प्रान्त के विरोध में था जिसे पहले नन्दराज ने लूटा खसोटा था, उस पूर्व समुद्रवर्ती कलिंग के विरुद्ध।

अशोक अनन्त सेना लेकर मेरे प्राचीरों के चौसठ द्वारों से बाहर निकला और उसकी विजयवाहिनी पूर्व समुद्र की ओर चल पड़ी थी। तब मुझे भयानक आशंका हुई थी। मैं मगध का केन्द्र था और प्रत्येक वाहिनी जो बाहर निकलती, मेरी शंका का कारण थी। मेरे प्रभु को धूल न लगे इस आशंका से मैं अक्सर उद्विग्न हो जाया करता था। आखिर मगध की राजधानी अब राजगृह न थी, उसकी प्राचीरें कबकी वीरान् हो चुकीं थीं और शक्ति अब मेरी प्राचीरों के पीछे मेरे अंग-अंग में सिमटी पड़ी थी। अशोक जब चला तब मैं एक बार काँपा क्योंकि कालिंगों का बल उसके हाथियों ने बढ़ा रखा था और स्वतंत्रता की मर्यादा ने मैदान में अशोक के विरुद्ध लाखों की संख्या में जनता फेंक दी थी। जब चन्द्रगुप्त ने देश के प्रान्त पर प्रान्त जीते थे तब कलिंग ने उत्कण्ठा और घबराहट से उसकी बढ़ती साम्राज्य-सीमाओं को देखा था, जिनमें धीरे-धीरे सभी उत्तर प्रान्त समा गये थे—काबुल कांधार से अंग बंग तक, सोह्म से गिरनार तक, हिमालय से मैसूर तक। कलिंग ने फिर भी निरंतर इस प्रकार की प्रसर नीति का विरोध किया

था। एक बार नंदों से विजित होकर वह फिर स्वतंत्र हो बैठा था। इधर बिन्दुसार के मरते ही दो भाइयों में युद्ध छिड़ा तो वह फिर एक बार तेवर बदल बैठा और अब स्वतंत्र था। अशोक अपनी विशाल सेना लिए स्वर्ण रेखा को लाँघ जब समुद्रवर्ती मैदानों में आ खड़ा हुआ तब लाखों की सेना ने उसका विरोध किया। हथियारबन्द निहत्थे सभी अपनी मान मर्यादा की रक्षा और साम्राज्य निर्माता के विरोध के लिये मैदान में उतर पड़े, परन्तु शिक्षित विनीत मागध सेना से लोहा लेना कुछ आसान न था। पर हाँ एक लाख के लगभग कालिंग मागध की नंगी तलवारों पर दौड़ गये और अशोक उनके नगरों में तभी प्रवेश कर सका जब डेढ़ लाख की बची आबादी भी मृत्यु के घाट उतर गई। ढाई लाख आदमियों का मृत्यु के घाट उतर जाना, लाखों नारियों का विधवा हो जाना, लाखों बच्चों का अनाथ हो जाना, अनन्त व्याधियों का घर कर लेना, अपाहिजों भिखमंगों का इतस्ततः बिखर जाना कुछ ऐसा न था जिसे मनुष्य बरदाश्त कर सकता। अशोक के रोयें खड़े हो गये, कातिल की तलवार म्यान को लौट पड़ी। निश्चय विजेता ने इतिहास में कभी अपनी मुँह की न खाई थी। कलिंग हारा पर वस्तुतः हार मगध की हुई। अशोक जो लौटा तो विमन सब कुछ खोये हुए सा। उसने राजनीति की काया पलट दी, उसने भेरीघोष के स्थान पर धर्मघोष का आरम्भ किया। देश विजय के स्थान पर धर्म विजय का।

परन्तु सब धर्मों के लिये जो उसकी उपासना जगी तो इतनी तीव्र थी कि उसे मात्राओं और सीमाओं का ज्ञान न रहा। सही उसने पशुवध अपने साम्राज्य में बन्द करवा दिया और यह घोषणा सबसे प्रथम उसने मेरे राजप्रासाद में अपने भोजनालय के सम्बन्ध में ही प्रचारित की। परन्तु बौद्ध धर्म के प्रति अपनी आसक्ति के फलस्वरूप उसने संघ

को इतना कुछ दे डाला कि उसका मन्त्रिमंडल सहसा घबरा उठा। मुझे आज भी याद है, राजप्रासाद के पिछले प्रमद बन में जब वह एक बार विमन बैठा था, तब उसके मन्त्रियों को मजबूर होकर उसकी शक्ति की सीमायें निर्धारित करनी पड़ी थीं। मन्त्रिमंडल को इसकी परवाह न थी कि राजा किस धर्म का उपासक है, किस दर्शन का जिज्ञासु, परन्तु प्रजा की गाढ़ी कमाई से अर्जित धन वह इस प्रकार जाया होते और फेंके जाते, न देख सकता था। प्रधान मंत्री युवराजगुप्त ने सम्प्रति की सहायता से वह विपुल धनराशि संघाराम के कोष्ठकों में दान कर दिया था। राधगुप्त जब प्रमद वन में पहुँचा तब खिन्न और लुब्ध मगधराज और स्वेच्छाचारी चन्द्रगुप्त का उदात्त पौत्र अशोक बैठा आँवला खा रहा था। राधगुप्त पर दृष्टि पड़ते ही उसने जो कहा वह आज भी मेरे कानों में गूँज रहा है—"राजगुप्त, राजा कौन है तुम या मैं?" "मैं साम्राज्य का तुच्छ सेवक हूँ, सम्राट, भला मैं उसका स्वामी कैसे हो सकता हूँ?" राजा का विवर्ण मुख और धूमिल हो गया था जब उसने कहा—"राजगुप्त मुझे यह आधा खाया हुआ आमलक तक किसी को देने का अधिकार नहीं फिर राज्य का स्वामित्व क्या मेरे ऊपर व्यंग का अट्टहास नहीं!" राधगुप्त जानता था कि संघाराम के प्रति दिये विपुल धनराशि का अवरोध ही राजा के इस क्षोभ का कारण है और वह चुपचाप पार्श्वद्वार से निकल गया था। वह सब मैंने देखा और सुना पर जो आगे घटा वह सदा अनदेखा था और मैंने उसे भी चुपचाप देखा और सहा।

अशोक के उपदेश जनता ने अनेकांशा में अंगीकार किये पर राजनीति उपदेश से रक्षित नहीं होती। राज्यलक्ष्मी को सबल बाहुओं का दोला चाहिए जो उसे उछाले और फिर निर्भीकता से अंकगत कर ले। साम्राज्य की चूलें हिल गईं। दूरवर्ती प्रान्त आन्तरिक शासन

में सर्वथा स्वतंत्र हो गये, अशोक के पोतों दशरथ और सम्प्रति ने चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के दो टुकड़े कर लिये। सम्प्रति ने पश्चिमी छोर सँभाला, दशरथ ने पूर्वी। सीमाप्रान्त पर विदेशी सेनाओं की धमक सुन पड़ने लगी थी। मैं केवल मगध का ही हृदय न था, बल्कि मेरी शिराओं में अखण्ड भारत का रक्त भी प्रवाहित होने लगा था जिसे, मैंने न पहले जाना था न पीछे। शक्ति न चाहता हुआ भी जब उसे पा जाता है तब रक्त का स्वाद पाये सिंह की भाँति वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। शक्ति का स्वाद मैंने चख लिया था, हिन्दूकुश की दीवारों और पामीर की छत से लगी मेरी सीमा थी। उस पार की राजनीति को मैं अत्यंत उत्कण्ठा से देखता था। उस पार की नीरवता मुझे कमर कसने को लालायित करती थी, सेनाओं की धमक भय का आभास कराती थी।

परन्तु अशोक की राजनीति ने तलवार के प्रति जिस उदासीनता का अंकुर रोपा था उसने रक्षा की छाया हिन्दूकुश के प्रान्तों से हटा ली और उसके हटते ही विदेशी दांचुओं ने भारत की ओर अपनी लालच भरी दृष्टि फेरी। जिस सीमा पर चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस के टखने तोड़ दिये थे, वहीं उस सीरियक सम्राट के प्रतिनिधि प्रपौत्र ने ग्रीकों का विजय झंडा गाड़ दिया। काबुल का रौंदता वह सिन्धु के मैदानों तक उतर आया और मेरी नसों का रक्त सूख चला। अगर वह बढ़ता चला आया होता तो कुछ अजब न था कि मगध का केन्द्र मैं पाटलिपुत्र सर्वथा उसका हो गया होता और हो भी गया, यद्यपि उसका नहीं, उसके दामाद का।

सम्प्रति गुजरात काठियावाड़ में जैन धर्म में प्रजा को जबरदस्ती जब दीक्षित कर रहा था तब वाहलीक (बैक्ट्रिया—बाख्त्री—बलख—बदखशाँ) के राजमंच पर एक नया नाटक खेला जा रहा था। सीरिया

के साम्राज्य से पार्थव और वाख्त्री के दोनों बड़े प्रान्त स्वतंत्र हो गये थे और वाख्त्री के राजसिंहासन का शीघ्र ही सामरिक पर्यटक यूथिदेमों ने स्वायत्त कर लिया था। सीरियक सम्राट ने उस पर अनेक आक्रमण किये परन्तु उसके पुत्र दिमीत्रिय के रणशूरता के कारण उसे हारना पड़ा था। इसी दिमीत्रिय को जिसे ग्रीक दैमित्रियस और भारतीय दिमित कहते थे उसने अपनी बेटी ब्याही और अपना अपमान भुलाने के लिये वह हिन्दूकुश पार कर उद्यान की उपत्यकाओं में उतर आया था। सीरियक सम्राट तो अपने आधार से दूर शत्रु के देश में कुछ कर न सका और उसे शीघ्र स्वदेश लौटना पड़ा परन्तु अपने दामाद के लिये उसने विजय का मार्ग अनावर्त्त कर दिया। दिमित्रिय हिन्दूकुश को लाँघ भारत की विजय के लिये तब चला, जब पश्चिमी भारत की प्रजा सम्प्रति की धार्मिक तलवार की पैनी चोटों से कराह रही थी। कुछ आश्चर्य नहीं कि उसने विदेशी दिमित्रिय को दैव प्रेषित 'धर्म मोत' कहा जिस संज्ञा से गार्गी-संहिता के युग पुराणकार ने उस विदेशी विजेता का चरित्र लिखा।

अब तक सम्प्रति और दशरथ मिट चुके थे। मौर्य साम्राज्य के प्रान्त बिखर चुके थे और मगध का हिलता साम्राज्य सँभालने की शक्ति मुझमें न रह गयी थी और न मेरे अभिभावक शोमशर्मा में ही जो अपने पूर्वजों के शक्तिमान विजिगीषा पर उत्कट व्यंग था। नारी और द्यूत सेवन ही उसके व्यसन थे और पुरोहित से छीना झपटी उसकी निष्ठा थी। दिमित्रिय ने पश्चिमी पंजाब में अपनी सेना के दो भाग किये। एक को अपने दामाद मेनामदर के नैतृत्व में उसने पूर्व की राह से मेरी ओर भेजा, दूसरा भाग स्वयं लेकर सिन्ध देश और गुजरात जीतता वह नगरी (मध्यामिका) में आ धमका। पतंजलि ने दोनों भयानक पदध्वनियों की अपने 'महाभाष्य' में प्रतिध्वनि की—अरुणाद्

यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम् ! दोनों ओर से चिमटे की गति से ग्रीक विजयवाहिनियों ने मेरे प्राचीरों में प्रवेश किया। तभी सोमशर्मा ने राजगिर की पार्वतीय प्राचीरें लाँघ गया के महा-कान्तार में शरण ली और पुरोहित सेनापति पुष्यमित्र' ने अपने पैत्रिक विदिशा की राह ली। मैं असहाय अरक्षित मुँह के बल गिरा और मेरी सड़कों पर मृत्यु की विभीषिका नग्न हो नाच उठी।

विदेशी सचमुच 'धर्म मीत' होकर न आया था और जो कुछ उसने किया, वह मेरे कहने की बात नहीं युग पुराण के पृष्ठों की बात है। अब तक मौर्यों के प्रशस्त मगध साम्राज्य की रीढ़ टूट गई थी और अंग प्रत्यंग बिखर चुके थे और यदि कहीं कुछ जान बाकी थी तो उसी कलिंग में जिसे पहले नन्दराज ने, फिर चन्द्रगुप्त ने, और फिर अशोक ने कुचला था। कलिंग के ब्राह्मण चेदि वंश ने उस देश की सीमायें नये सिरे से सुदृढ़ की थी और जैन खारवेल ने एक ओर सातवाहनों से और दूसरी ओर मगध से सफल लोहा लिया था, परन्तु उसने अपने हाथीगुम्फा के अभिलेख में जो यह खुदवाया कि उसके मगध की राजधानी की ओर बढ़ते ही 'योनराज दिमित' मथुरा भाग गया लगो है नितान्त मिथ्या। मुझे यह कहते आज दुख होता है कि भारतीय साम्राटों ने जो अपनी प्रशस्तियाँ खुदवायीं उनका केवल निष्कर्ष सत्य था अधिकतर झूठ प्रशन्सात्मक। भुक्त भोगी होने के कारण यह मुझे भली भाँति याद है कि दिमित के स्वदेश लौट जाने का कारण महामेघबाहन खारवेल का अभियान न था वरन् युक्रेतिद की दुरभिसन्धी थी। बाख्त्री का सिंहासन सूना पा युक्रेतिद ने उसे हड़प लिया था और पश्चिमी पंजाब में दिमित की राह रोके उसकी प्रतीक्षा में अब वह खड़ा था। दिमित स्वदेश न लौट सका और बाख्त्री की गद्दी मय अपनी पत्नी के उसने खो दी।

परन्तु 'भारत के राजा' इस दिमित ने जो-कुछ स्वदेश में खोया, उससे

कहीं बढ़कर इस विदेश में पाया। यद्यपि मैं उसके हाथ से सहसा और शीघ्र निकल गया तथापि सिन्ध और पंजाब में उसके अनेक शासन केन्द्र ग्रीकसत्ता में सदियों पनपते रहे। शाकल में जिस ग्रीक राजकुल का उसके जामाता मेनामदार ने प्रारम्भ किया था वह यद्यपि पुष्यमित्र की क्रोधाग्नि में स्वाहा हो गया परन्तु उसने निश्चय भारतीय संस्कृति पर अपनी गहरी छाप छोड़ी।

और यह पुष्यमित्र कौन था? पुष्यमित्र शुंग, ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष का एक मात्र पुरातन प्रतीक। अभी मैं विदेशी मारकाट के फलस्वरूप रक्त से रंगा ही था, मेरे शरीर से, सड़कों गलियों से चिरांयद की गंध आ रही थी कि एकाएक स्वदेशी तलवारें ही नंगी हो एक दूसरे से लिपट पड़ीं। मौर्यों का अंतिम वृहद्रथ साम्राज्य का वह वंशधर था जो अक्सर उनकी रीढ़ टूट जाने पर व्यंग हुआ करता। परन्तु उससे बढ़कर वह उस शृंखला की अंतिम कड़ी थी जिसकी परम्परा को बनते बिगड़ते मैंने अपने आँखों देखा था जो अनेकांश में घटना के रूप में मेरी छाती पर ही घटा था। ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष आज का नहीं पुराना है, तब का जब मेरा जन्म भी न हुआ था, जब आर्यों ने अभी यमुना भी न लाँघी थी और जब वे अभी सप्त सिन्धु से सरस्वती तक मैदानों में जूझ रहे थे। वशिष्ठ और विश्वामित्र के चिरव्यापी संघर्ष को परशुराम और कार्तवीर्यार्जुन ने बढ़ाया था, उसकी कथा पुरानी है, मेरी अनदेखी, केवल सुनी और मैं उसे न कहूँगा परन्तु निपट ऐतिहासिक काल में महाभारत के जनमेजय और तुरकावषेय के भी बाद जो उस संघर्ष की एक नव व्यापी शृंखला चली उसकी कड़ियाँ मेरे ही वक्ष पर निर्मित हुई, यह मैंने अपनी आँखों देखा।

बुद्ध और महावीर ने मेरे ही आस पास मेरे उठते प्राचीरों से पूर्व अनेक बार उस ब्राह्मण शक्ति को चुनौती दी थी जिसमें ईश्वर, वेद, संस्कृति और पौरोहित्य प्रबल थे। यज्ञ और पौरोहित्य को उन्होंने अनुचित बता

अहिंसा का प्रतिपालन कर ब्रह्म द्वेष किया था, वर्णाश्रम धर्म की उन्होंने इतिश्री कर डाली थी, वह कुछ बहुत पुरानी बात नहीं, मेरे जन्म के कुछ ही पूर्व की है। शूद्र नन्दों को क्षत्रियों के विरुद्ध ब्राह्मणों ने खड़ाकर जो अपने नीति के जुए में जोता था वह अपूर्व साहस और विलक्षण मेधा का काम था। परन्तु शीघ्र ही उस उठते हुए मेघ ने जब क्षत्रिय को कुचल कर ब्राह्मण की आदि शक्ति पर भी अपना वार किया तब ब्राह्मण ने क्षत्रिय के साथ सिरकत की, साझा, पर ऐसा साझा, जिसमें क्षत्रीय मुर्छित हो ब्राह्मण के छाए में गिरा था। समर्थ चाणक्य की छाया में खड़े होने वाले विपन्न चन्द्रगुप्त की यही मर्यादा थी जिसको नित्य-प्रति शंकित और कवलित होते उसके राजप्रासाद के प्रकोष्ठों में मैंने दिन दिन सुना।

सीमाप्रान्त से आकर मेरी नगरी में चाणक्य ने जो डेरा डाला था उसका कुछ अर्थ था, वह व्यर्थ हरगिज न था। संघर्ष देशव्यापी हो गया था और सीमाप्रान्त के पठान ब्राह्मणों ने अनेक बार मेरी शरण ली थी। चाणक्य ने जब क्षत्रिय को विपन्न सर्वथा आहत कर लिया तब उसने अपनी कुटिल नीति की विख्यात कौटलीय अर्थशास्त्र में बृहद व्याख्या की। ब्राह्मण तेजस्वी हुआ, क्षत्रीय को उस शास्त्र में यथोचित स्थान मिला, ब्राह्मण की छत्र छाया में, परन्तु इतरवर्ग, विशेषतः निम्न-वर्ग कुचल गए। चाणक्य ने उनकी कपाल क्रिया कर दी, क्योंकि उसने समझा कि जिस शूद्र वर्ग की शक्ति ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के विरुद्ध मगध में प्रतिष्ठित की है उसकी आँधी उठकर विशिष्ट वर्ग को निगल जायगी और उसका अन्त आवश्यक है।

उधर यद्यपि चन्द्रगुप्त तो अस्त हो गया परन्तु चाणक्य का सूर्य भी तिरोहित होने से शेष न रहा। पुरोहित-मन्त्री की पकड़ ढीली पड़ते ही क्षत्रीय राजा स्वतन्त्र हो गया और अशोक ने तो राजनीति की काया

पलट ही कर दी, फिर तो निःशंक राजश्रंखला ने मगध की सीमाओं के भीतर और मेरे वक्ष पर अग्निभाँड ही उलट दिया। धीरे धीरे जो आग सुलग रही थी, वह एकाएक दिमित के लौटने पर भड़क उठी। मौर्यों का अंतिम वंशधर वृहद्रथ ब्राह्मण षड्यंत्र का शिकार हुआ। कुछ दिनों पहिले षड्यंत्र की श्रृंखला को बढ़ाने के लिए अप्रतिम प्रतिभावान ब्राह्मण पतंजलि गोनर्द—गौंडा से पाटलिपुत्र आ बैठा था, पाणिनि और चाणक्य की तरह। वही इस षड्यंत्र का प्राण था जिसका केन्द्र उसने बृहद्रथ के पुरोहित सेनापति पुष्यमित्र शुंग को बनाया। पंतजलि निरा दार्शनिक या व्याकरण भाष्यकार न था वरन् वह बीती हुई ब्राह्मण शक्ति और अश्वमेध का पुनरावर्तक भी था। अपने महाभाष्य में उसने विदेशी सेनाओं की धमक की प्रतिध्वनि ही नहीं उठाई थी उसने उनको गुना भी था, और बाद में होने वाले पुष्यमित्र शुंग के अश्वमेध का वह ऋत्विज् भी शग था। महाभारत के जनमेजय और तुरकावषेय के यजमान पुरोहित के संघर्ष की बात मैंने केवल सुनी थी, अब बृहद्रथ और पुष्यमित्र शुंग के यजमान पुरोहित संघर्ष को मैंने अपनी आँखों अपने ही मैदानों में घटते देखा। प्रातःकाल जब बाल रवि क्षितिज से लाल उठ रहा था तभी जब बृहद्रथ सशंक मन से आ प्राचीर के फैले मैदानों में अपनी सेना का निरीक्षण कर रहा था तभी खुले आम सेना के सामने ही सेनापति पुष्यमित्र ने बाण द्वारा स्वामी का रुधिर पी लिया। फिर एक बार ब्राह्मण पुरोहित ने क्षत्रिय राजा पर विजय पाई और यह कुछ आश्चर्य नहीं कि जब शुंग ब्राह्मणों ने मगध का राजदण्ड सौंपा तो कण्व-ब्राह्मणों को और कण्व ब्राह्मणों ने जो दूसरों को सौंपा तो दाक्षिणात्य सातवाहन ब्राह्मणों को। इसका अर्थ है, प्रचुर रहस्य कि एक समय में भारत की आसमुद्र पृथ्वी सर्वथा ब्राह्मण सम्राटों के शासन में आ गई। विंध्य श्रृंखला के दक्षिण आंध्रवाहनों के हाथ में, पूर्व का कलिंग चेदी-

वंशीय ब्राह्मण खारवेल के हाथ में, और समस्त उत्तर भारत नर्मदा से सिंधु नद तक शुंगों के हाथ में आ गया।

ऊर्जस्वित वक्ष वाले पुष्यमित्र को स्वामी के ऊष्ण रक्त से अपने प्रशस्त ललाट पर राजतिलक लगाते मैंने देखा, मौर्य साम्राज्य को विनष्ट हो ब्राह्मण की चक्रधुरी के नीचे पिसते मैंने देखा, और देखा मैंने उसके भग्न स्तूप पर पुष्यमित्र का विशाल साम्राज्य खड़ा होते। स्वामी को मार कर पुष्यमित्र ने अश्वमेध किया, देववाणी संस्कृत को राजपद दिया, यज्ञ को सम्मानित कर उसने पौरोहित्य को पुनः प्रतिष्ठा की और विधान की नई सृष्टि कर उसने उसे धर्मशास्त्र की संज्ञा प्रदान की। उसे पीछे आने वाली भारतीय संतति ने मानव धर्मशास्त्र कहा परन्तु न तो वह मानव था न धर्मशास्त्र। मनु की मेधा ऋगुवैदिक स्तरों में ही कबकी विलुप्त हो चुकी थी। परन्तु ब्राह्मण की ही दी हुई उसकी आनवृतिक परम्परा थी, वह पहला मानव नृपति था और उसकी परम्परा स्मृतिकार ने फिर भी कायम रखनी चाही, कुछ उसी सतर्क कुटिलता से जिससे चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को अपनी छाया में लिया था। चाणक्य को चन्द्रगुप्त से आशंका हो सकती थी, जब तब हुई भी और उसने उसे 'वृषल' कहकर पुकारा भी परन्तु पुष्यमित्र और पतंजलि को—अशरीरी मनु-प्रतिनिधि को—उस कृत्रिम मनु-क्षत्रीय का भी डर न था! और मनु की स्मृति में आवाज किसकी गूंजी? भृगु ब्राह्मण की जिसने गुरु मनु के शब्दों का पुर्नउद्गार करने का प्रयत्न किया! यह जैसे मैकियानैली का असंगत भाष्य फ्रेडरिक महान् लिखने चला हो!

निश्चय वह धर्म शास्त्र मानव न था, भार्गव था, ब्राह्मण था और जो सोचता हूँ वह धर्म शास्त्र था, तो अपनी आँखें मैं आप मीच लेता हूँ, हृदय की गति रुक जाती है। वह वाक्, परम्परा, वागाडम्बर मूर्तिमान हो सामने खड़ा हो जाता है, जैसे उसे सदेह देख रहा हूँ, उसकी वाणी सुन

रहा हूँ। धर्मशास्त्र ? उस धर्मशास्त्र में जन संख्या के चतुर्थांश के पक्ष में अपना निर्णय दिया, दाय-शास्त्र बनाया। तिगुनी जनसंख्या के अधिकारों पर उसने स्याही पोत दी, श्रीमानों और सवर्णों के पाप के मूर्तिमान स्कंध के रूप में अनेक अनेक जातियाँ उठ खड़ी हुई थीं, जिनको अनौरस कह कर उस धर्मशास्त्र ने अपने पिछले अध्यायों में गिनाया और भारती का मुख काला किया। यह सब इसी मेरे ही नगर में हुआ। मेरी ही छाती पर, मेरी ही आँखों के सामने। अनुचित, अनन्त मात्रा में अनुचित होते मैंने देखा और सुना है, परन्तु उस प्रकर्ष अनुचित को धर्म की साक्ष कहते मैंने अब सुना। सुनकर काँप गया। परन्तु मेरा काँपना निर्जीव का काँपना था, मिट्टी का जो भूत है, गत है, निष्प्राण है अचेतन है—उसके काँपने की हकीकत क्या ? पर वह न काँपा जो चेतन था, जिसमें प्राण थे, जो प्राणियों के लिये संविधान रच रहा था और जिसकी भावुकता को मानव-आर्दता का मानदण्ड होना था !

अश्वमेध हो चुका था। ब्राह्मण धर्म और देव भाषा की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, धर्मशास्त्र की मर्यादा देश के एक भाग से दूसरे तक सुरक्षित हो चुकी थी, परन्तु आहत् क्षत्रीय और मर्माहत संघ अभी अवसर की प्रतीक्षा में दुबके पड़े थे। मेरे नगर के विशाल संघाराम के निभृत कोष्ठों में स्थविरों के छिपे प्रवचनों में ब्राह्मण-दस्यु के विरुद्ध जल्पना होती जो धीरे धीरे आदेश बन गई। नागसेन ने शाकल के ग्रीक मेनामदर को अपने असाधारण तर्क से निरुत्तर और मुग्ध कर बौद्ध धर्म में दीक्षित कर लिया और उसे प्रेरित कर वह मगध पर चढ़ा लाया परन्तु मेरे नगर पर इस काल शोमशर्मा अथवा बृहद्रथ का शासन न था जिन्हें मैदान काटता था, तलवार से डर लगता था वरन् पुष्यमित्र का शासन था तलवार जिसके गले का हार थी और रक्ततांडव जिसके नित्य का व्यसन था और जिसे सेना के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध के कारण अपने को

सदा 'सेनापति' कहा, अभिलेखों तक में, कभी उस सम्राट शब्द से संबोधित न होने दिया जिसकी मर्यादा शोमशर्मा और बृहद्रथ से अपने संपर्क से कलंकित कर दी थी। अयोध्या से उठकर गंगा की घाटी में शाकलपति मेनामद्र से पुष्यमित्र जो जा टकराया तो दिमित के जामाता और बौद्ध धर्म के अभिभावक उस ग्रीक महान नृपति केशव ने जमीन चाट ली। फिर प्रतिशोध की तलवार चमकी और मगध राज ने मेरे नगर से जलन्धर तक के सारे बिहारों को अग्नि को समर्पित कर दिया। देश-द्रोह के अनन्त पीठों की इस प्रकार भस्माहुति हुई और विजेता ने शाकल (स्यालकोट) में घोषणा की—यो में श्रवणशिरम दास्यति तस्याहं दीनार-शतम् दास्यानु—जो मुझे श्रमणों का एक सिर देगा उसे मैं सोने के सौ दीनार दूँगा। इसके बाद बचे हुए शत्रु को देश से वहिर्गत करने के लिये दूसरा अश्वमेध हुआ, जिसके अश्व को लिये 'सेनापति' का पौत्र वसुमित्र सिंधु नद तक जा पहुँचा और सैल्यूकस की सीमायें फिर एक बार अपने आधार से उचक कर, मैंने दूर पश्चिम में देखीं। मेरे गौरव का यह नया वितान तन रहा था। पुरोहित राजा शोणित से रंगे खड्ग से अपनी कीर्ति कथा भारत वसुंधरा पर लिख रहा था।

इसके बाद जो घटा वह अमानुषिक है, उसने दिमित के अश्वारोहियों की याद दिला दी, उनकी याद वस्तुतः इस नयी अनुभूति में खो गई। चीन के कान्सु प्रान्त से हूणों की आँधी उठी थी जिनके टकरा जाने से ऋषी पश्चिम भागे थे और दजला-फरात के किनारे खड़े शकों के साम्राज्य उन्होंने चूर चूर कर दिये थे। शक जो भागे तो बाख्त्री और मर्व को रौंदते हिन्दूकुश की ऊँची दीवार को लाँघते सिंधु देश में उतर आये थे। उन्होंने ही पिछले काल में सिन्ध, तक्षशिला, मथुरा, उज्जैनी और महाराष्ट्र में अपने पाँच राजकुल खड़े किये, उन्हीं में से पहला विजेता आमलात था। अपनी लाल लाल आँखों के कारण वह लोहिताक्ष कहलाता था।

पंजाब, मध्यदेश लाँघता मगध के दूरवर्ती अंतपालों को अपने रथ के पहियों से बांधता मेरे नगर में पहुँचा और जिस रक्त ताण्डव का उसने मेरी छाती पर अभ्यास किया वह मैं न कह सकूंगा, उसकी याद मेरे रौंगटे खड़े कर देती है। जिस युग पुराणकार ने दिमित के रणचक्र का इतिवृत लिखा था उसी ने इस नरसंहार की कथा भी कही—राजा बिखर गये, प्रान्त बिखर गये, वर्णाश्रम धर्म नष्ट भ्रष्ट हो गया, शूद्र आचार्य बने, ब्राह्मण दास। बहुत पहले इरानियों और ग्रीकों के स्पर्श और शासन से अपावन होकर ब्राह्मण शास्त्रकारों ने समाज की नई व्यवस्था की थी। संस्कारों ने मनुष्य का आदि-अंत बांध दिया था और उनके विधान उन्होंने सूत्रबद्ध किये थे। भारतीय नन्द-शूद्रों और अभारतीय ग्रीक-यवनों ने उसे छिन्न-भिन्न कर दिया था। चाणक्य, पतंजलि और पुष्यमित्र ने शूद्रों को अपनी प्रवृत्ति से यथास्थान कर फिर धर्मशास्त्र रचे थे और पाँचवे अध्याय में मनु की व्याख्या सहित आचार की व्यवस्था की थी, प्रायश्चित का विधान किया था। उसके सारे पन्ने शकों की इस नई आँधी के सामने उड़ गये। उसके पन्नों से अपने जूतों को सुखाते मेरे ही नगर में मैंने शकों को स्वयं देखा। मेरे नगर की सड़कों पर मागध नागरी अब देखने को भी न मिलते थे। चारों ओर स्त्रियों का ही राज्य हो गया, मैंने पागल झुण्ड के झुण्ड मुक्ता और परित्यक्ता नारियों को घूमते देखा। बीस बीस नारियों को एक एक पुरुष चुनते देखा और वह पुरुष भी क्या था सोलह वर्ष का बालक! नारियाँ ही हल जोततीं, बाहर इधर-उधर रक्षा का प्रबन्ध करतीं। देश विपन्न था, नागरिक भयान्वित थे। शकों ने जिस कठोरता से मध्यदेश को रौंदा और मेरी सड़कों पर मृत्यु का नृत्य किया, वह मुझे कभी न भूलेगी।

लोहिताक्ष अमलात का हमला वास्तव में अपना बुलाया हुआ हमला था। इसमें संदेह नहीं कि मध्य एशिया के क्षुब्ध वातावरण में

प्रलय की एक लहर हिन्दुस्तान पर तोड़ दी थी परन्तु उसको फिर भी भारत सँभाल सकता था यदि उसकी अपनी स्थिति स्वयं चिंताजनक न होती। शुङ्गों का पिछला काल कुछ बहुत ओजस्वी न था। अग्निमित्र और वसुमित्र ने तो किसी प्रकार साम्राज्य की सीमाएँ यथावत रखीं और भागभद्र के शासन काल में तक्षशिला के ग्रीक नृपति अन्तलिखिद ने अपने राजदूत 'तेलिओदोर के द्वारा मागध शुंग सम्राट की मैत्री भी माँगी परन्तु सच तो यह है कि तब तक शक्ति का आभास मात्र बच रहा था और मगध की सीमायें धीरे धीरे 'मूल' की ओर संकुचित होती आ रही थीं। एक बार फिर मुझे अपनी काया समेटनी पड़ी। शुङ्गों के अंतिम क्षीण वंश धर देवभूति को उसके ब्राह्मण मन्त्री कण्व वासुदेव ने व्यसनकाल में दासी द्वारा मरवा डाला। फिर स्वयं उसने मेरी गद्दी पर अधिकार कर लिया। परन्तु यदि बृहद्रथ 'प्रतिज्ञादुर्बल' था तो कण्व भी किसी कदर उदात्त न थे और जो घटना शुङ्गों के साथ घटी थी वही उनके साथ घटी। आंध्र सातवाहन सिमुकशातकर्णी ने राजदंड उसके हाथ से छीन लिया और उत्तरापथ शीघ्र दक्षिणापथ का भिखारी हुआ। दूर की तलवार उत्तर की कहाँ तक रक्षा कर सकती थी जब दुर्दान्त कनैले सातरिक मध्य एशिया से उछलकर हिन्दू कुश के पास उद्यान में आ खड़े हुए थे? उत्तर भारत की सामाजिक स्थिति अत्यन्त भयावह हो उठी थी, ब्राह्मण क्षत्रियों का पारस्परिक वैमनस्य देश के प्रति उदासीन होता जा रहा था और प्रजा जितनी क्षत्रिय राजा की क्रूरता से पिसी जा रही थी, उतनी ही ब्राह्मण शास्त्रकार के विधानों से। जनबल अब जनबल न रह गया था। विदेशी शत्रु का सामना करना वर्गविशेष का काम रह गया था। बात भी सही थी, शासन चाहे ब्राह्मण का हो चाहे क्षत्रिय का, चाहे विदेशी म्लेच्छ का, निम्न वर्ग विशेषकर शूद्र व अन्त्यजों को तो उस विधान की घूटी में पिसना ही था, इसलिये उनके

लिए शासक क्या स्वदेशी क्या विदेशी ? स्वाभाविक था कि जब शक आमलात आया तो प्रान्त प्रान्त के निम्न वर्गीय और निम्न वर्णीय जनता सिर झुकाती गयी, सिर झुकाती ही न गई बल्कि उसने खुल्लम-खुल्ला उनका स्वागत किया। उनकी ओर से वे स्वदेश के विरुद्ध लड़े भी। भारत के इतिहास में यह कुछ अजब बात भी न थी। मुझे याद है जब ग्रीक सिकन्दर ने पञ्जाब में बवण्डर उठा दिया था और जनपद के जनपद उसे आत्मसमर्पण करते जा रहे थे, तभी पंजाब में अनेक गणतंत्रों ने पद रोप कर उसकी गति रोकी थी और रोकते रोकते वे विपन्न तक हो गये थे। परन्तु प्राची का विशाल मागध साम्राज्य आँखें मीचे उसे दूसरों का भय समझ चुपचाप पड़ा था। ऐसा भी नहीं कि वह सोता था। नितान्त जागरूक था वह, परन्तु उसने इसे अपनी विपद न समझी। उसने सोचा, जब सिंकन्दर सतलज के पार उतरे तब कहीं वह राजधानी से कुलांच भरे। और इसी बीच जब कठोपनिषद् के प्रवर्तक कठों का गणतन्त्र सिकन्दर से जूझ रहा था और ग्रीकों के जान के लाले पड़ गये थे, तब पश्चिमी पञ्जाब का एक विराट सैनिक सिकन्दर की ओर से अपने भाइयों के विरुद्ध लड़ रहा था। निःसन्देह यदि उसने देशद्रोहिता के योग से सिकन्दर की पीठ पर हाथ न रखा होता तो पता नहीं बाबुल की समाधि उस ग्रीक विजेता की कठों के देश में होती या मालवों की ? वह सैनिक भारतीय इतिहास के उन्नत बिन्दुओं में गिना जाता है। उसका नाम पौरव था—ग्रीकों का पोरस जिसका नाम इतिहास में स्वतन्त्रता के नाम पर व्यंग है। अस्तु !

आमलात लौट गया, परन्तु जिस सामाजिक व्यवस्था को उसने छिन्न भिन्न कर दिया था उसकी साख एक जमाने तक न लौटी। महाभारत के ओजस्वी सर्गों के पाठ देश में होते रहे। गीता के प्रवचन कतिपय केन्द्रों में सीमित उत्साह का वर्द्धन करते रहे। रामायण

का नव सामाजिक विधान जहाँ तहाँ नये सिद्धान्तों का प्रचार करता रहा। नवीन आचरण को मोह और उत्कण्ठा से लोग देखते रहे परन्तु विपन्न आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति ने जो पुरानी व्यवस्था के तन्तु तोड़ दिये थे तो वह स्थिति फिर नहीं लौटी, नहीं लौटी। ग्रीकों के बाद शक आये। शकों के बाद कुषाण और फिर शक, फिर हूण। यह विदेशी ताँता लगा रहा। भारतीय प्रजा कुचली पिसी जाती रही थी। बीच बीच में नागों, वाकाटकों व गुप्तों के साम्राज्य खड़े होते रहे परन्तु सामाजिक शक्ति और जनबल नष्ट हो जाने के कारण उनकी ऊँचाइयाँ आने वाले हमलों में खो गईं।

ग्रीक, शक और कुषाण। ग्रीकों का लोहा किस तरह बजा यह मैं कह चुका हूँ, शकों का प्रचण्ड आगमन कितना भयानक था, यह भी मैं कह चुका हूँ। अब कुषाणों का सुनिये। कुषाणों की प्रशस्त जाति का नाम ऋषीक था, ऋषीक जिनको हूणों ने पश्चिमी चीन से शकों पर फेंका था जिससे टूट कर शक धाराएँ हिन्दुस्तान पर बिखर पड़ीं। उन्हीं ऋषीकों की पाँच जातियों ने बाख्त्री में अपने खूनी डेरे डाले थे। इन पाँचों में प्रबलतम जाति किदार कुषणों की थी। कुजुल और वीम बारी बारी से उसके नेता हुए और उन्होंने एक ओर ईरानियों से लोहा लिया, दूसरी ओर हिन्दुस्तान की देशी विदेशी फौजों पर अपनी तलवारें बरसायीं। जब कनिष्क पुरुषपुर की गद्दी पर बैठा तब हिन्दुस्तान से उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों की ग्रीक और शक सरगर्मी भी काफूर हो गई। काश्मीर और खुत्तन पर अपनी विजय के हाथ फेरता हुआ मथुरा की ओर पूर्वी पंजाब, पश्चिमी संयुक्त प्रान्त तथा उसके पूर्वी इलाके एक के बाद एक आत्मसमर्पण करते गये। मगध के बाहरी स्कंधावार टूट कर बिखर गये। अयोध्या और काशी के अन्तपालों ने मेरे नगर में शरण ली। मैंने भी भयातुर हो मस्तक उठाया। शायद अनागत भय आगत

भयों की परम्परा से विशेष हो पर सन्तोष है, कि लोहिताक्ष अमलात की घटना फिर मेरी सड़कों पर न घटी। निश्चय आक्रमण का संघर्ष जिस खूनी वातावरण को विजित राजधानी में प्रस्तुत कर देता है, उसकी चोट से मैं उद्विग्न हुआ, निश्चय मेरी सड़क पर रुधिर की धाराएँ बहीं, निश्चय नृशंसता के प्रमाण विदेशी सेना ने जहाँ तहाँ दिये, परन्तु अधिकतर वे विजेता के जाने न थे। कुषाणों का अग्रणी कनिष्क यद्यपि खड्ग की मूठ से अपनी कीर्ति कथा लिखता था, यद्यपि उसने काबुल और काश्मीर की घाटियों में अपने अवरोध का प्रतिकार विजित के रक्तस्नान से किया था, यद्यपि उसने वक्षु और यारकन्द की चीनी सीमा के राज्यों में अग्नि भांड उलट दिया था परन्तु निःसन्देह मेरे प्रति उसका आचरण सर्वथा सांस्कृतिक था। उस दुर्धर्ष सामरिक के अन्तर में एक नये धर्म के मोह ने जिज्ञासा उत्पन्न कर दी थी। मध्य एशिया के अनेक चीनी, तुर्की और ईरानी धर्मों का प्रशंसक होकर भी और तलवार की मूठ जकड़े रहने पर भी उसने बुद्ध के उपदेश मनोनीत किये थे। बौद्ध धर्म का असामान्य दार्शनिक कवि और भिक्षु अश्वघोष मेरे नगर में निवास करता था। अश्वघोष जो दार्शनिक प्रवचन में, काव्य वस्तु कथा में, नाट्य में अप्रतिम था, वही कनिष्क के आगमन का कारण हुआ। वही उसके प्रयास का आकर्षण था। और हमारे नगर की तो वह सर्वथा श्री था। क्या बौद्ध, क्या ब्राह्मण, क्या जैन, सारी संस्कृतियों का वह निचोड़ था। उनका एक मात्र ज्ञानविन्दु और उसको कनिष्क उठा ले गया।

अनेक बार मैं श्री विहीन हो गया था, अनेक बार मेरी लक्ष्मी छिन गयी थी, अनेक बार मेरे वाह्य और अंतर मलिन हो गये थे, अनेक बार अमानुषिक नृशंसता से मैं काँप उठा था परन्तु कभी इस प्रकार मैंने अपने को आहत न समझा। कभी इतना कंगाल नहीं, जितना मैं

अपने मुकुट मणि अश्वघोष के छिन जाने से हुआ। 'बुद्ध चरित' के उदात्त, अवतरण सहसा मेरी आँखों में नाचने लगे, 'सौन्दरनन्द' में नन्द द्वारा सुन्दरी के कपोलांकन बार बार मेरी स्मृति में उठने लगे, 'सूत्रालंकार' के अनेक स्थल बरबस मुझे अपनी ओर खींचने लगे। अश्वघोष के अपहरण से निश्चय मेरा सांस्कृतिक निधन हो गया और बहुत काल तक मैं अपनी वह खोई हुई निधि न पा सका।

इस सांस्कृतिक क्षति के सामने मैं उस राजनीतिक हानि को सर्वथा भूल गया जो विदेशी पदचाप ने मेरे उन्नत भाल पर लिख दिया था। काशी में कनिष्क का शासक वनस्फर बैठा और वहीं से वह निरन्तर पूर्वात्य प्रदेशों पर हुकूमत करने लगा। फिर भी कुषाणों की अभिरुचि अधिकतर पश्चिम में रही। उनका पूर्वी केन्द्र मैं न हुआ, मथुरा हुई और पश्चिमी पुरुषपुर।

कनिष्क के बाद हुविष्क आया, फिर वझिष्क और फिर वासुदेव। धीरे-धीरे उनकी सीमाएँ संकीर्ण होती गईं और अन्ततः वासुदेव सामाजिक रूप से भी सर्वथा हिन्दू हो गया। इधर भारतीय प्राङ्गण में एक नये नाटक के पात्र उठ रहे थे। मध्य भारत में विदिशा के आधार से उठकर वाकाटक ब्राह्मणों ने अपनी शक्ति की प्राचीरें खड़ी की थीं उधर उनके उत्तर पूर्वी पड़ोस में पद्मावती के नागों ने भारतीय राजनीति में अपना साका चलाया मेरी स्थिति इस काल नगण्य हो गयी थी परन्तु फिर भी मैं अपने भोले वैभव के स्तर अतीत की स्मृति में उलट-उलट सहेज रहा था। पड़ोस में ही काशी और कान्तिपुर में क्रमशः कुषाणों और नागों की छावनियाँ थीं। कान्ति के आधार से उठकर नाग कुषाणों पर धावे करते और अनेक बार उनकी सीमाएँ पश्चिम मथुरा तक घसीट ले जाते। नागराज वीरसेन ने मथुरा की कुषाण राजधानी पर भी अनेक हमले किये। उसने उन अश्वमेधों की परम्परा

डाली जो विदेशियों के पराजय के फल स्वरूप किये जाते थे और जिनकी बार-बार अनुष्ठित परम्परा में काशी में गंगा तट पर दशास्वमेध घाट की संज्ञा दी। वाकाटकों और नागों का वैभवनया था और बार-बार वह मुझ निष्क्रिय पाटलिपुत्र को एक बार फिर अपने नेतृत्व का भार ढोने को निमंत्रित करने लगा। बार-बार चन्द्रगुप्त और पुष्यमित्र की परम्परा चेतना में जमी, बार-बार शक्ति की कमी से मेरा प्रयास कुण्ठित हुआ। परन्तु शीघ्र चन्द्रगुप्त की प्रतिमूर्ति सा चन्द्र फिर मेरी धरा पर अवतरित हुआ, चन्द्र जो आदि गुप्तों में प्रबल था और जिसने मगध में फिर शक्ति की प्रतिष्ठा थी। गुप्तों के प्रारम्भिक नृपति श्रीगुप्त और घटोत्कच नाम मात्र को नृपति थे, उनकी शक्ति अन्तर्वेद से कभी बाहर न निकली परन्तु चन्द्रगुप्त ने मेरी नगरी को भी शीघ्र स्वायत्त कर उस प्रतिष्ठा का आरम्भ किया जिसे भारतीय इतिहास ने कभी न जाना था। किस प्रकार उसने अपनी अभिभावकता के पीछे से उछल कर मगध की गद्दी पर अमानुषिक अधिकार किया यह शर्म की बात है और उस शर्म के कारनामे 'कौमुदी-महोत्सव' में ग्रथित है परन्तु उस आचरण की व्यापक सत्ता उसने अपने अधिकार के औदार्य से शीघ्र प्रमाणित कर दी। चन्द्र जानता था कि मगध और साकेत और गंगा जमुना के दोआब में प्रतिष्ठित शक्ति ही भारतीय राजनीति में अग्रणी होती आई है और उनका आधार अब उसे उपलब्ध था परन्तु वह यह भी जानता था कि केवल इतने से ही साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा की इति श्री न होगी। सफल नीति एक चीज है और अभियान दूसरी। अभियान की सत्ता नीति की सफलता में है और चन्द्र शीघ्र मगध पर अधिकार कर उसके दुधर्ष पड़ोसियों की ओर झुका। पूर्व और दक्षिण मृतप्राय थे और पश्चिम स्वायत्त परन्तु उत्तर की गणतान्त्रिक शक्ति अब भी कुंठित न हुई थी। उपनिषदों के विचार दर्शन के अग्रणी जनक विदेह के

एकतन्त्री शासन को जिन वज्जी, लिच्छवियों ने उलट कर गणतन्त्रीय कर दिया था वे अजातशत्रु की मारक चोट से विह्वल होकर भी अभी जीवित थे और पूर्वी राजनीति के क्षेत्र में अब भी उनका साका चलता था। चन्द्र ने देखा कि यद्यपि लिच्छवि उसे सेना की सहायता नहीं दे सकते परन्तु उनकी मान-मर्यादा निश्चय उनके गौरव को अग्रसर करेगी। उसने लिच्छवियों के विशिष्ट परिवार में विवाह किया और हिमालय तक के उत्तरी जन सब उसके मित्र हो गये। चन्द्रगुप्त की महत्त्वाकांक्षा पर्याप्त थी परन्तु जितना वह कर सका वह एक जीवन काल के लिये कुछ कम न था। उसकी महत्त्वाकांक्षा अब उसके वश की बात न थी और वह उसके कर्मठ पुत्र समुद्रगुप्त के हिस्से पड़ी।

समुद्रगुप्त भारतीय आकाश में राहु की तरह उदय हुआ। वाकाटकों और नागों का सूर्य उसके प्रताप से कवलित हो गया। उसने दिग्विजय के लिये एक महान अभियान किया। नीतिशास्त्र का वह विशारद था, नृपमण्डल का वह केन्द्र होना चाहता था। उसने शुक्र और कौटिल्य के विध्वसंक अर्थशास्त्र पर अपनी महत्त्वाकांक्षा के पाये रखे और मुझे राजधानी बना उचक कर खेल-खेल में अनेक राजकुलों को विनष्ट कर दिया। आर्यावर्त के राजा पड़ोसी थे और साम्राज्य के निर्माण में पड़ोसी सबसे बड़ा शत्रु होता है इससे उसने आर्यावर्त्त के नौ राजाओं में से किसी को जीता न छोड़ा। सारे राजकुलों को समूल उखाड़ फेंका। आरविक राज्यों को कुचल कर वह दक्षिण पथ की ओर बढ़ा और वहाँ से राजाओं को भी परास्त कर उन्हें उसने उनकी गद्दी बख्श दी। अन्तों प्रत्यन्तों ने डर कर उसकी शक्ति को शिरोधार्य किया। स्वतंत्र दीपों ने सिंहल तक उसकी मैत्री का दम भरा। भारत में अब भी अनेक गणतन्त्र थे परन्तु समुद्रगुप्त ने अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाग्नि में सबकी समाहुति कर दी। मालव और यौधेय, आभीर और सनकानीक सभी उसकी

बढ़ती सीमाओं में खो गये । तत्कालीन समर्थ इतिहासकार ने फिर भी उस स्वातंत्र्य विरोधी धारा के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की—"यह राज्य का प्रसर क्यों ? उसका विस्तार क्यों ? गणतन्त्रों के अधिकार की इस प्रकार अवहेलना क्यों ? निश्चय यशः शरीर के निर्माण के लिये । यशः शरीर का निर्माण साम्राज्य खड़े कर रघु और राम ने भी किये परन्तु क्या उनके साम्राज्य भी काल के उदर में न समा गये ? आज जो जीवित हैं ,उनको रघु और राम की कीर्तियों में सन्देह हो चला है । क्या समुन्द्रगुप्त की यह यशः काया सर्वदा अक्षुण्ण बनी रहेगी । निश्चय उसका भी लोप हो जायेगा । साम्राज्य को धिक्कार ! ऐश्वर्य को धिक्कार ! पुराणकार के यह बचन सत्य हुए और उनकी सत्यता का प्रमाण मेरा साक्षात्कार है ।

इसमें सन्देह नहीं कि मेरे प्राचीरों के पीछे फैले प्राङ्गण में जब असंख्य मागध सेना की पदचाप ध्वनित होती तो मेरा उन्नत ललाट सहसा चमक उठता । पुराना खोया वैभव फिर लौट लौट याद आने लगता । नगर से निकलती और दिगन्त में फैल जाती । चन्द्रगुप्त मौर्य को सेनाओं की बार-बार याद आती है । वैभव एक बार फिर मेरा परिचारक बन गया था और उसकी पराकाष्ठा तब हुई जब समुद्रगुप्त के तनय चन्द्रगुप्त ने शकों को मालवा से बहिर्गत कर बंग के सम्मिलित शत्रुओं का संघ तोड़ सिन्धु के सातों मुखों को लाँघ बाह्लीक में वक्षु तट के केसर के खेतों में अपने पड़ाव डाले, जब दुनिया की छत पामीर के मस्तक पर उसके घोड़ों ने अपने खुरों की चोट की, जब अपने यश से उसने चारों समुद्रों के जल को सुवासित किया । एक बार फिर न केवल मेरी तलवार मेरे नगर से उठकर कमजोरों के कंधों पर पड़ी वरन् भारती भी एक बार फिर मेरे कानों में मधुर ध्वनि बरसाने लगी । चन्द्रगुप्त की राजसभा के नवरत्न मेधावी थे, असाधारण मेधावी यद्यपि

उनकी लेखनी चन्द्रगुप्त की रक्त रञ्जित तलवार की प्रशास्ति ही लिखती थी। कालीदास, विशाखदत्त, वत्सभट्टी सबने गुप्तों की ही अपने ग्रन्थो में की.तें गाई। केवल एक मनस्वी दार्शनिक ब्राह्मण धर्म और इन कायर लूट खसोट के विरोधी दिङ्नाग ने उनके विरुद्ध आवाज उठाई। दिङ्नाग की याद सचमुच मेरे भाल पर विजय का तिलक लगाती, कभी अश्वघोष ने मेरी कोख से उठकर भारतीय दर्शन परम्परा को समुचित समृद्ध किया था, कभी-कभी नागार्जुन ने अपनी वाक्परम्परा से मेधा की शक्ति प्रसारित की थी। अब दिङ्नाग ने दर्बार सेवी कवियों के विरुद्ध अपनी शक्ति लगा दी यद्यपि कालीदास ने अपने 'वक्रग्रन्थ' में कोई अन्तर न डाला और उसका रसिक मित्र मिचुल दिङ्नाग से लड़ता रहा फिर भी उसने उस बौद्ध दार्शनिक की औचित्य चर्चा भुलाई नहीं।

मालवा के मेरे साम्राज्य का प्रान्त बन जाने से मेरे धन और समृद्धि में अत्यधिक प्रवृद्धि हुई। पश्चिम समुद्रतट पर मिश्र, ग्रीस, रोम, बाबुल, अरब आदि देशों से वाणिज्य के फलस्वरूप धारासार धन बरसता था और सूरपारक तथा मरुकच्छ से आने वाले धनसार के राजमार्ग में उज्जैनी एक विशाल केन्द्र थी और वह उज्जैनी मेरी परिचारिका चेरी थी। उसके धन का भी मैं ही धनी था। मेरे प्रासाद में अब दूर-दूर की अनन्त वस्तुएँ भरने लगीं। एथेन्स और रोम की सुघड़ फेनधवल दासियाँ मध्यएशिया के वामन और क्लीब (बौने और खोजे), दूर देश की मदिरा और रत्न सब मेरी सेवा में प्रासाद में बिखरे रहते। अन्तःपुर की परिचारकायें किसी भी नरेश के अवरोध की शोभा बढ़ा सकती थीं और उनकी संख्या मेरे यहाँ सैकड़ों में नहीं हजारों में थी!

कला का शिखर अब सूरज के घोड़ों की गति रोकने लगा था। विलास की मादकता अब मेरे श्रीमानों को अंधी करने लगी थी। कुमार-

गुप्त की असाधुता ने सीधे गृहस्थों को शंकित कर दिया और यद्यपि विचलित कुललक्ष्मी को पुनः स्तम्भित करने के लिए स्कन्दगुप्त ने नंगी जमीन पर रण के मैदानों में रातें बिता-बिताकर तप किया। गुप्तों की विगत लक्ष्मी, न लौटी। प्राणों की आहुति लिये स्वदेश का वह मनस्वी सहचर उत्तरापथ के एक स्कंधावार से दूसरे स्कंधावार को दौड़ता रहा परन्तु विलास की जिस धारा ने साम्राज्य की नींव में अपनी सीढ़ जमा दी थी उसने उस अट्टालिका को एकदम बैठा दिया। मध्य-एशिया में पश्चिमी चीन से जो हूणों की आँधी चली थी उसकी बाग निश्चय स्कन्द ने कुछ क्षण सिन्धु नद पर रोकी पर वह उसे फेर न सका और गुप्त साम्राज्य की कमर उसकी चोटों से टूट कर लड़खड़ा पड़ी। वस्तुतः चोट इतनी हूणों की नहीं जितनी आत्मसंचित विलास की थी।

मुझे फिर एक बार शकों कुषाणों की याद आई जब हूणों ने अपनी शक्ति की छाप मगध और पश्चिमी मध्यदेश के जलते नगरों और गाँवों पर डाली। उनकी प्रगति की कथा उठती हुई धूल के बादल और आग की लपटें कहती थीं और यद्यपि मैं उनकी नृशंसता से बहुत कुछ बचा रहा, उस प्रकार आहत न हुआ जिस प्रकार यवनों और शकों के आक्रमण से हुआ था, फिर भी उनकी चोट ने अनेक बार मेरी काया में भी गढ़े कर दिये।

जब सारा देश हूणों की इस चोट से कराह रहा था तब मैंने जो कुछ देखा सुना वह स्वयं कुछ कम न था। जैसे शकों के आक्रमण के समय निम्न वर्णीय जनता ने विदेशियों का स्वागत किया था वैसे ही उन्होंने अब हूणों का किया और हूणों को शूद्रों और ब्राह्मणों में कोई अन्तर तो जान पड़ सकता था न जान पड़ा। दोनों को उन्होंने समान रूप से समझा। परन्तु मुझे जो बात विचित्र जान पड़ी, वह थी उस

काल के ब्राह्मणों की विचित्र नीति। उनको शक्ति छिन जाने की इतनी परवाह न थी जितनी समाज की व्यवस्था भंग हो जाने की थी। उन्होंने मेरे नगर के अनेक निभृत कुंजों में अपनी गोष्ठियाँ की और बार बार सोचा कि समाज का फिर से संगठन किस प्रकार करें। फलस्वरूप जो उन्होंने किया वह निश्चय अद्भुत् था नितान्त साहसपूर्ण और अपूर्व श्रुत। क्षत्रियों से संघर्ष अभी उनका बना था। बहुत काल पूर्व मेरे ही नगर में उन्होंने शूद्र को हथियार बना कर राजनीति में एक नया प्रयोग किया था। अब उस महान् नीति को उन्होंने इस नये आक्रमण के अवसर पर फिर दोहराया। हूण विजेता थे। ब्राह्मणों के मलेच्छ कहने मात्र से मलेच्छ होना उन्हें स्वीकार न था। वे रण मैदान और भूमि दोनों के स्वामी थे, सामाजिक व्यवस्था को तो वे छिन्न-भिन्न कर ही चुके थे। उन्हें शूद्र बनाने की ब्राह्मणों में शक्ति न थी और उन्हें ब्राह्मण बनाना उनको अभीष्ट न था। इसलिए एक ही स्तरसमाज का ऐसा बच रहा था जहाँ गुर्जर, आभीर, हूण और अन्य विदेशी जातियाँ समाज में गूँथी जा सकती थीं। वह स्तर था क्षत्रिय। इससे पुराने बैर का निर्वाह भी हो जाता और नये आयुध से प्राचीन शत्रु का दमन भी। आबू के पर्वत पर काल्पनिक अग्निकुण्ड से प्रायश्चित रूप से विदेशी निरन्तर क्षत्रिय होने लगे। चौहान, परमार धीरे धीरे उस आधार से उठ खड़े हुए और ब्राह्मणों का उपकार मान उनके चिर सेवी हुए! इस विदेशी पुट ने समाज में एक नयी शक्ति भरी और भारत में उससे उस अद्भुत् शौर्य का आरम्भ हुआ जो राजपूत वीरता के नाम से प्रसिद्ध है परन्तु राजपूत कार्यक्षेत्र मेरे नगर से मेरे, आधार से बहुत दूर था। मैं उस कारण बन बिगड़ न सकी परन्तु हाँ उसकी पारस्परिक चोटें जब तब मेरे आधार को भी छू लेतीं।

अब मेरा वैभव सूर्य अस्त हो चुका था। वास्तव में उसका अंत

तभी हो चला था जब हूणों ने देश में पदार्पण किया और गुप्तों का साम्राज्य बिखर गया। अब मेरे नगर की लक्ष्मी पश्चिम के कन्नौज में जा बसी थी, महोदय में जो कन्नौज की तत्कालीन सार्थक संज्ञा थी। कन्नौज के भाग्य का तब निश्चय महोदय हुआ जब मौखरियों ने उसे अपनी राजधानी बनायी और जब हर्ष ने उनके नाश के बाद अपना राजनैतिक केन्द्र थानेश्वर से उठा कर वहाँ रखा। कन्नौज के उठते हुए गौरव के सामने मैं लांछित पड़ा था और यद्यपि पड़ोस का यह वैभव स्वीकार न होने के कारण कुछ काल तक मगध गुप्तों की छाया में मैं उससे टक्कर लेता रहा वस्तुतः मेरा विलुप्त गौरव फिर न लौटा। हाँ जैसा इधर कह चुका हूँ शक्तियों के संघर्ष में जब तब निश्चय चोट के छींटे मुझ पर भी जा पड़ते। कन्नौज के लिये पाँचों राष्ट्रकूटों और गुर्जर-प्रतिहारों का त्रिवर्जिक संघर्ष चल रहा था और अनेक बार मेरे आस पास पालों और प्रतिहारों की टक्करें हुईं। धर्म पाल ने जब कन्नौज की गद्दी से एक राजा को उतार कर दूसरे को बिठाया तब उसकी विजयवाहिनी मेरी ही राह पश्चिम गई थी और जब राष्ट्रकूट नृपति ने गंगा-यमुना के दोआब में उसे परास्त कर उसके छत्र-चमर छीन लिये थे तब भी वह भागा पूर्व की ओर मेरी ही राह से था। इस प्रकार यद्यपि मैं उन संघर्षों में प्रमुख दल न था फिर भी अन्यमनस्क सा मैं उनकी गतिविधि देखता निश्चय रहा।

सदियाँ गुजर गईं। राजनीति के प्रबल केन्द्र एक स्थान से दूसरे स्थान को बदलते रहे पर मैं चुपचाप गंगा और सोन के संगम पर खोया सा पड़ा रहा। और गंगा और सोन का वह संगम भी अब मुझे छोड़ चला। समुद्रगुप्त के शासन में मैत्री का दम भरने जब शाही शाहानुशाही शक मुण्डों और द्वीप वासियों द्वारा भेजे रत्न भेंटों और सिंहल के उपहारों की बात जब मैं सोचता हूँ तब मुझे बड़ी ग्लानि होती है

परन्तु यह सोचकर कि किसी की स्थिति सदा समान नहीं रहती मैं संयत हूँ। काशी और कौशल को मैंने विलीन होते देखा है। तक्षशिला और शाकल को निष्प्राण होते मैंने सुना है इससे मुझे उस ग्लानि में फिर भी बल मिला है।

मेरा पिछला इतिहास शक्ति का नहीं करुणा का है। जब भारत के सिंहद्वार पर इस्लाम की नई सेनाओं ने अपनी चोटें शुरू की तब मैंने कहा 'भगवान अब क्या होना है?' परन्तु विशेष उद्विग्न मैं न हुआ क्योंकि मैं जानता था कि चोट शिखर पर पड़ती है और मैं अब शिखर न था। हाँ इस्लाम के रिसालों की पदध्वनि हमने भी सुनी, उनकी ललकार से मैं भी मर्माहत हुआ परन्तु निर्जीव निःशक्त मैं कर ही क्या सकता था। बख्तियार मुट्ठी भर जवानों के साथ मेरे ही बाजारों से गुजरा तब मुझे मेगस्थनीज की आवाज याद आई और अपने नगर से निकलने वाले उन सेनाओं की पहचान की जिन्होंने हिन्दूकुश तक के प्रान्तों को उसके स्वामी से छीन उसे निरस्त्र कर दिया था। परन्तु अतीत की याद किसी को कर्मण्य नहीं बना देती और मैं भी चुपचाप मिट्टी सूँघता अपनी पीठ पर से उस बख्तियार को गुजर जाने दिया जिसने पास के विद्यापीठ नालन्द को अग्नि के समर्पण कर दिया। नालन्द मेरे ही औदार्य से बढ़ा था। मगध के इस विद्याकेन्द्र को दूर दूर के मेधावियों ने अपनी मेधा से समुज्ज्वल किया था परन्तु मैंने उसकी अट्टालिकाओं को अपनी आँखों धूल से मिलते जाते देखा। बख्तियार आखिरी न था जिसने इस राजमार्ग से पूर्व की ओर धावा किया था। अनन्त सेनाएँ अनेक बार दिल्ली के आधार से उठीं और उन्होंने मुझे नाचीज़ समझ रौंदते हुए पूरब की राह ली। बलबन के भयानक प्रतिशोध की कथा मुझे आज भी याद है जो मेरे ही पास से बंगाल के नवाब को कुचलने के लिये गुज़रा था। बलबन के तेवर जिनके सामने मंगोलों और हूणों की नृशंसता पानी

भरती थी आज भी मुझे याद है। परन्तु मैं उदासीन दर्शक मात्र था जैसे गुजरती हुई सदियों ने मुझे अकर्मण्य देखा था। बलबन के रिसालों ने भी मुझे वैसा ही मूक देखा। जमाना गुजरा। गुलामों के बाद पठान आये, खिल्जी और तुगलक और उन्होंने भी मेरा बचा गौरव लूटा। एक बार कुछ काल बाद फिर मेरी स्थिति गतिमति हुई जब सासाराम के अफगान सैनिक भोजपुरी शेरशाह ने अपनी सेना का केन्द्र मुझे बनाया। अनदेखे राजपूतों की कीर्तिकथा मैं सुनता आया था। जयपाल और पृथ्वीराज की शक्ति की गाथा मैंने सुनी थी। चन्द और जगमल के 'रास्ते' और 'आल्हा' की भनक अब भी मेरे कानों में गूंजती थी परन्तु जब इस भोजपुरी पठान ने मेरे आधार और पड़ोस में उठकर राजपूताने की उस वीर प्रसवा भूमि को रौंद डाला तब मैंने अपने भोजपुरियों की शक्ति पहिचानी। इसी प्रकाण्ड और यशस्वी विजेता ने अकबर को अपने शासन विधान दिये और भारत को राजपथ। कुछ ही काल बाद हेमू ने राजा विक्रमाजीत की उपाधि लेकर बाबर के बंशधर अकबर को पानीपत के मैदान में मेरी सेना लेकर ललकारा था तब एक बार मुझे ऐसा जान पड़ा मेरी विगत कीर्ति फिर लौटेगी और यदि सचमुच हेमू का तोपखाना अफगानों की गलती से बैरम खाँ के हाथ न पड़ गया होता तब निःसन्देह आगरे की विभूति शायद मेरी होती। चुनार से बढ़ती हुई हुमायूँ की सेनाओं की राह मेरे ही ऊपर से होकर राजमहल की पहाड़ियों में खो गई थी। मेरी ही ओर से होकर अस्करी गौड़ से मिथिला लौटा था जहाँ उसने मुगल साम्राज्य का ताज अपने सिर पर रखा और भाई की शक्ति को कुंठित होते स्वयं देखा। शेरशाह के पैतरे अपने पास ही चौसा में मैंने देखे थे जिनकी चोट से भाग कर हुमायूँ फिर भारत की भूमि पर न टिक सका। वह अब पुरानी बात है और उन बातों में मेरी

साख साक्षी मात्र ही है। मैं उन बीती सदियों का उन, बीती घटनाओं का गवाह मात्र हूँ स्वयं उनमें भाग लेने वाला कर्मठ नहीं।

मुगलों के बाद विदेशियों ने देश पर आक्रमण किया जो योरप से आये थे। अँगरेज फिरंगी कलकत्ते के आधार से छापे मारने लगे और धीरे-धीरे बँगाल के नवाब को अपना बन्दी बना लिया। थोड़ी ही दूर पर बक्सर के पास दिल्ली के शाहआलम और अवध के शुजाउद्दौला की सम्मिलित सेनाओं को कम्पनी की फौजों की मार से बिखरते देखा। बंगाल की दीवानी अंगरेजों के हाथ आ गई। गुरुगोविंदसिंह जिन्होंने मेरे ही नगर में उत्पन्न होकर मुझे पावन किया था, जिन्होंने मुगल सल्तनत के पिछले दिनों में सिक्खों को सैनिक का बना दिया था वे शिवाजी की भाँति कब के मिट चुके थे और मैं कभी बंगाल, कभी अवध, कभी दिल्ली के बीच बाँट बँटाव में इधर-उधर होता, रहा कभी शत्रु के हिस्से पड़ता रहा कभी मित्र के। अलीवर्दी खाँ का लाड़ला सिराजुद्दौला जब सल्तनत और जान दोनों खोकर विनष्ट हो गया, जब मीरजाफर सब कुछ क्लाइव को देकर भी कंपनी का न हो सका, जब मीरकासिम इमानदारी के कौल पर सुलग सुलग कर अंगरेजों से पेच खाता पटने आया तब अकाल के दिनों में एक बार मेरी नसों में स्फूर्ति जागी। वह विशाल 'गोलघर' जो आज भी मेरे मस्तक की भाँति ऊँचा खड़ा है उस मानवता का प्रतीक है जो मीरकासिम का प्राण थी। समरू बेगम और फिरंगियों का हत्या-काण्ड उन्हीं दिनों मेरे नगर में हुआ था। मैंने उससे पहले भी घोर षड्यन्त्र देखे थे, अमानुषिक कृत्य देखे थे परन्तु इस हत्याकाण्ड का राज कुछ और था मैं उसे भुला न सका।

कंपनी का वातावरण धीरे-धीरे इतना, अपावन इतना भयानक होता गया कि मैं भी कराह उठा। मैं जिसने सदियों के दौरान में क्या नहीं देखा था? क्या नहीं सुना था? आखिर संयुक्तप्रान्त और बिहार की

जनता ने विद्रोह किया जो सन् ५७ के गदर के नाम से विख्यात है जिस विद्रोह का नेतृत्व लक्ष्मीबाई, नाना साहब और तात्या टोपे ने किया था। उसका पूर्वी प्रबन्ध मेरे ही इलाके के एक जवाँमर्द के हाथ था जिसने ८० वर्ष की पक्की आयु में भी तलवार अपनी मूठ में पकड़ी। आरा का कुँवरसिंह वही बाँका लड़ाका था जिसके आतंक से संयुक्तप्रान्त के पूर्वी इलाके और बिहार के पश्चिमी जनपद त्राहि त्राहि कर उठे। इलाकों के रहने वाले नहीं, उनके विदेशी शासक और उन विदेशी शासक के देशी हिमायती। आरा और मेरा नगर कुछ काल के लिये पूर्व के मेरठ और दिल्ली हो गये थे और कम से कम कुछ दिनों के लिये तो उन्होंने विदेशी शृंखला निश्चय तोड़ ही दी थी और यदि कहीं पंजाब और देशी रियासतों ने हमारी राह में रोड़े न अटकाये होते, हमारे साथ दगा न होती तो डेढ़ सौ वर्षों का वह इतिहास जो फिरंगी कलम से लिखा गया दूसरे प्रकार से लिखा गया होता।

अब मैं अपनी कथा के अंतिम भाग के बहुत निकट आ गया हूँ परन्तु यह निकट-पास स्वयं कुछ साधारण नहीं। ५७ का गदर विनष्ट हो गया। कम्पनी के हाथ से शक्ति निकलकर अंग्रेजी पार्लियामेन्ट के हाथ में गई और भारत समुद्र पार से शासित होने लगा। अनेक प्रकार से भारतीय सुविधा की बात कही गई परन्तु भारतीयों को अब वह शृंखला पसन्द न थी जिसके वे कुछ काल में शिकार थे। उसे तोड़ फेंकने का उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया। सन् १९२० में कलकत्ते की कांग्रेस में मोहनदास कर्मचन्द गांधी ने जिस सत्याग्रह और असहयोग की बात चलाई थी उसका पहला रूप उस महात्मा ने मेरे ही प्रान्त के विदेशी जमींदारों के विरुद्ध प्रकट किया था। गवर्नर के बाद गवर्नर आते गये थे और उन्होंने अपने अनुचित गौरव की शक्ति मेरे ही वक्ष पर प्रदर्शित की और जैसे मैंने स्वदेशी सत्ता स्वीकार की थी वैसे ही विदेशी सत्ता भी

स्वीकार करता गया परन्तु आग भीतर ही भीतर सुलगती गई थी और समय पाकर भड़क उठी।

असहयोग आन्दोलन के साथ-साथ देश में एक नये संघर्ष की बुनियाद पड़ी और उस संघर्ष के अनेक मोर्चे मेरे ही मैदान पर लड़े गये। आजादी की यह दूसरी लड़ाई थी और स्वतंत्रता के उस बाँके लड़ाके गांधी के नेतृत्व में देश ने अपने इतिहास का एक नया अध्याय लिखना शुरू किया। सैकड़ों हजारों की संख्या में नर-नारी, युवा-वृद्ध मेरी सड़कों पर ब्रिटिश नादिरशाही के शिकार होने लगे। हजारों-लाखों की संख्या में आजादी के लड़ाकों ने जेल अपनाए। मेरा पुराना जेल आजादी के कैदियों से भर गया। एक नया कैम्प जेल बना, वह भी भर गया और निरन्तर मेरी सड़कों पर लोग आजादी के नारे लगाते रहे, नित्य लोग गिरफ्तार और कैद होते रहे।

मैंने सदियों की दौरान में बहुत कुछ देखा था। एक से एक विजेता आए, खूँरेजी की। लाशों से उन्होंने मेरे नगर की सड़क पाट दीं। उनके ज़ुल्म से आसमान और जमीन हैरत में आ गए। पुरानी दुनियाँ ही जैसे उन्होंने मिटा दी। पर जो मैंने अब देखा वह कभी न देखा था। निर्भीक, निहत्ये नौजवान अहिंसा और सत्य के नारे लगाते सामने आते और पुलिस की गोलियों के शिकार हो जाते। दुनिया हैरत में थी। संसार की सबसे बड़ी शक्ति बृटिश सरकार अपने हथियारों में लासानी थी पर वह उनके बावजूद भी इन निहत्थों को सर न कर सकी। बैरिस्टर और वकील, प्रोफेसर और मुदर्रिस, किसान और अहल्कार झंडे ले ले उस आजादी की लड़ाई में कूद पड़े। लंबे अरसे के संघर्ष के बाद सरकार को झुकना पड़ा।

सन् ३७ में कांग्रेस ने अनेक प्रान्तों में अपने मंत्रिमण्डल बनाए।

बिहार में भी कांग्रेस मंत्रमंडल बना। पर कुछ ही दिनों बाद उसे मजबूर होकर इस्तीफा देना पड़ा, फिर लड़ाई छिड़ी। फिर स्वतंत्रता के लड़ाकों को लाठियाँ और कैद झेलनी पड़ी। पाँच वर्ष बाद एक भयंकर तूफान आया। सरकार ने एकाएक कांग्रेस के नेताओं को पकड़ लिया फिर तो जनता ने सर्वत्र बगावत कर दी। जेल टूट गए, कचहरियाँ लुट गईं, थाने जला दिए गए, रेलें उखड़ गईं।

मेरी सड़कों पर तब सरकार ने बदले की तैयारी की। ट्रैंक दौड़ने लगे। हवाई जहाज ऊपर उड़ने और लोगों में आतंक जमाने लगे, फिरंगी फौजें चारों ओर फिरने लगीं। गाँव जला डाले गए। मेरी सड़कों पर जगह-जगह लोगों को पकड़-पकड़ कोड़े लगाए जाने लगे। अंग्रेज अफसर फिरंगी फ़ौज की टोलियाँ लिए आते और निहत्थे निरपराध नौजवानों पर गोली दाग देते। कितने पिताओं के देखते उनके बच्चे भून दिए गए। कितनी माताओं के सामने उनकी जिन्दगी के अरमान सदा के लिए सुला दिए गए, कितनी नारियों के सुहाग धूल में मिला दिये गए।

पर जनता अपने कौल से न हिली। आजादी की लड़ाई में नित्य जीवन का बलिदान करती गई। फिर तो जमाना बदला और अपना अधिकार भारत ने विदेशियों से छीन लिया। देश स्वतंत्र हुआ। अंग्रेज भारत छोड़ स्वदेश लौटे। आजादी मिली पर भारत बँट गया। बहुतों की उम्मीदों पर पानी फिर गया।

कांग्रेस ने फिर अपना मंत्रिमंडल बनाया। मेरे प्रान्त में भी मंत्रिमंडल बना। आजाद हिन्द ने हुकूमत हाथ में ली। पर मैंने देखा अभी जिंदगी डावाँडोल है। लोगों में शर्म और ईमानदारी की कमी है, जिम्मेदारी का अभाव है। लालच से डिग जाते हैं, स्वार्थ से

उनकी दयानत बिगड़ जाती है। चोरबाजारी का दरिया रवाँ है, ईमानदार बे आबरू हैं।

मैं आज अपने ढ़ाई हज़ार वर्षों के इतिहास को लौट-लौट कर देखता हूँ। आज को देखकर कुछ ग्लानि भी होती है। कुछ ढाढस भी बँधता है। पर संतुष्ट नहीं हूँ। आशा है जो है वह भी बदलेगा और नया सूरज निकलेगा जिसकी रोशनी मेरे नगर को प्रकाशित करेगा, मेरी सड़कों पर अपनी किरणों से समृद्धि बिखेरेगा।

कन्नौज

मेरा प्राचीन नाम कान्यकुब्ज और महोदय है। आज मैं कन्नौज कहलाता हूँ। वर्द्धनों, गुर्जर-प्रतिहारों और गहडवालों के तीन-तीन साम्राज्य मेरे नगर में खड़े हुए और गिरे। गुप्त सम्राटों के पतन के बाद मगध की राजधानी पाटलिपुत्र का भी अवसान हुआ और तब मैं कान्तिमान हुआ। पाटलिपुत्र की लक्ष्मी मुझे प्राप्त हुई और मेरी महोदय श्री देश के नगरों की ईर्ष्या का कारण बनी। महोदयश्री को स्वायत्त करने के लिए भारत के राजकुल परस्पर संघर्ष करने लगे। मैं तब भारत का प्रमुख नगर हुआ और जो मेरा स्वामी होता वही उत्तर भारत का भी स्वामी होता।

मेरा आरम्भ प्राचीन है परन्तु महाभारत और उपनिषद् काल में

पंचाल के काम्पिल्य और अहिच्छत्र ने मुझे अधिकतर ढक लिया था। जब उनका ह्रास हुआ तब मैं धीरे-धीरे उत्कर्ष के मार्ग पर चढ़ा और तबसे सदियों निरन्तर मेरी सत्ता देश पर व्याप्त रही। जब वत्सों ने कौशाम्बी के चतुर्दिक अपना राज्य स्थापित किया तब मैं उनके प्रमुख नगरों में से था और अनेक बार मैंने अहिच्छत्र और काम्पिल्य की मर्यादा छीन ली। धीरे धीरे वे अतीत की स्मृति में खो गए; कौशाम्बी स्वयं नष्ट भ्रष्ट हो गई परन्तु मैं दिनोंदिन उन्नति करता गया।

ऐतिहासिक काल में जब उदयन की विलासिता ने वत्सों को निर्वीर्य कर दिया और नन्दों ने शैधुनागों का अन्त कर मगध में अपना साम्राज्य कायम किया तब मैं उनके शासन में आया। फिर जब नन्दों के हाथ से लक्ष्मी सरक कर मौर्यों के हाथ चली गई तब स्वाभाविकतः मैं उस महासाम्राज्य का नागरिक हुआ जिसकी सीमाएँ हिन्दुकुश से महिषमण्डल (मैसूर) तक फैलीं। अशोक के महामात्र जब कौशाम्बी के केन्द्र से इधर के प्रान्त पर शासन करने लगे तब मैं भी उस प्रान्त का एक विशिष्ट अंग बना और जब मौर्यों का साम्राज्य शुंगों के हाथ में आया तब मैंने कौशाम्बी के साथ ही उनका शासन स्वीकार किया। शुंगों का अधिकार बहुत दिनों मेरी भूमि पर न रह पाया और शीघ्र मैं कौशाम्बी के साथ ही स्वतंत्र हो गया। तब मुझ पर 'मित्रों' का अधिकार हुआ और उनके शासन में मगध से स्वतंत्र हो मैं अपने भावी उत्कर्ष के स्वप्न देखने लगा यद्यपि मेरा अपना और एकाकी उत्कर्ष अभी दूर भविष्य की बात थी।

इस बीच भारत में विशेष उथल-पुथल देखी और चूँकि मैं उत्तर-पश्चिम की ओर से पूर्व जानेवाली सेनाओं के प्रशस्त मार्ग पर बसा था, मुझे अनेक बार विदेशी सेनाओं का सामना करना पड़ा। विदेशी सेनाएँ जो उस काल आईं नृशंसता में लासानी थीं। पहले ग्रीक आये

फिर शक और फिर कुषाण। विदेशी इस दिशा में बहुत काल न ठहरे, यद्यपि उनका एक राज्य पूर्वी पंजाब के शाकल में स्थापित हो गया था और मैं उनके प्रभाव में कम और मगध के प्रभाव में अधिक रहा और जब जब उनका अधिकार सीमित होता रहा तब तब मैं भी स्वतंत्र होता रहा यद्यपि मेरे पास अपनी कोई विशेष शक्ति नहीं थी। शक भी मध्य देश में बहुत काल तो न ठहरे परन्तु मथुरा के केन्द्र से उन्होंने अनेक बार मुझे लूटा। उनका एक दूसरा राजकुल उज्जयिनी में प्रतिष्ठित हो गया था और मथुरा और उज्जयिनी के राजदूत अक्सर मेरी और कौशाम्बी की राह आते और जाते रहे। परन्तु विदेशी राजकुलों में सबसे लम्बा और गहरा अधिकार मुझपर कुषाणों का रहा। कनिष्क ने मेरी ही राह जाकर पाटलिपुत्र से अश्वघोष को छीना था और उसकी सीमाएँ मगध तक होने के कारण मैं भी कुषाणकाल के प्रायः अन्त तक कनिष्क के वंशधरों के अधिकार में बना रहा।

धीरे धीरे वाकाटकों और नागों की चोटों से जब कुषाणों के प्रान्त बिखर गए तब मैं पहले वाकाटकों फिर नागों के अधिकार में आया यद्यपि वाकाटकों का अधिकार शासन के रूप में नहीं परन्तु जब तब उनके धावों के रूप में मुझ पर हुआ। वस्तुतः शासन मुझ पर नागों का हुआ जिन्होंने कुषाणों के अन्तिम राजा को भगा कर मथुरा पर अधिकार कर लिया था। नागों का पश्चिमी केन्द्र मथुरा और पूर्वी मिर्जापुर के जिले में कान्तिपुर (कन्तित) और काशी हुए। और इनके बीच की भूमि पर कुछ काल तक बराबर नागों का प्रखर तेज बरसता रहा। धीरे धीरे उनके कई राजकुल अन्तर्वेद में स्थापित हुए और समय के अनुकूल मैं कभी एक के कभी दूसरे के अधिकार में जाता रहा। धीरे-धीरे मगध में गुप्तों का उदय हुआ और उनकी बढ़ती सीमाएँ मध्य देश को सर्वथा निगल गईं। समुद्रगुप्त ने दिग्विजय और अश्वमेध किए और उसी क्रम

में आर्यावर्त्त के राजाओं को उखाड़ फेंका। तब कौशाम्बी में नाग राजाओं ने एक साथ उसका सामना किया और उसकी चोट से विनष्ट हो गए। उनकी पराजय का परिणाम मुझे भुगतना पड़ा और मैं समुद्र-गुप्त के शासन में आया।

गुप्तों के साम्राज्य को हूणों ने तोड़ दिया और तब पाँचवीं सदी के अन्त में पाटलिपुत्र की सीमाएँ नितान्त संकुचित हो चलीं। मगध में तब भी एक गुप्त राजकुल प्रतिष्ठित था पर उसकी शक्ति कुछ विशेष न थी। जब गुप्तों का छठीं सदी के शुरू में प्रायः सर्वथा अन्त हो गया और इस पिछले गुप्तकुल ने आसपास के प्रदेशों पर अधिकार किया तभी मेरा उत्कर्ष भी शुरू हुआ। अब मेरे लिए यह सम्भव न था कि मैं चुपचाप मगध का जुआ अपने कंधों पर ले लूँ और मैं बराबर इस काल पाटलिपुत्र के स्वामियों से उलझ पड़ने का अवसर ढूँढने लगा।

अवसर मिलते ही मैं, अवसर जिनका मैंने पूर्णतः सदुपयोग किया। मेरे नगर में एक महान् राजकुल प्रतिष्ठित हो चुका था और उसने नए सिरे से अन्तर्वेद में अपनी शक्ति बढ़ानी शुरू की। यह राजकुल मौखरियों का था, मौखरी क्षत्रियों का जो छठीं सदी ईस्वी के आरम्भ में ही अपनी शक्ति का स्वप्न देखने लगे थे। उनका प्रारम्भ नए मागध गुप्त कुल के प्रायः समकालीन ही था और इसी कारण दोनों राजकुलों में टक्करें हो जानी स्वाभाविक थीं। टक्करें क्या उन्होंने आमरण संघर्ष का रूप धारण किया और निरन्तर पाटलिपुत्र और मुझमें लोहे से लोहा बजने लगा। कभी मेरे मौखरी विजयी होते कभी मागध गुप्त, परन्तु एक विजय ही दूसरे युद्ध का कारण बन जाती और आग की लपटें सदा आसमान चूमती रहतीं।

परन्तु मेरा उत्कर्ष वास्तव में छठीं सदी के मध्य हुआ जब ईशान-वर्मन् ने अपने विजयों का ताँता बाँध दिया। मौखरियों की शक्ति के

साथ मैं पहली बार स्वतंत्र हुआ था और पहली बार मैंने तब शक्ति का स्वाद पाया। मैं एक उदीयमान राजकुल की अब राजधानी था। और मैं अपने उस शक्तिम प्रगति पर आरूढ़ हुआ जो भावी ने मेरे भाग्य में लिख दिया था।

ईशानवर्मन् मौखरियों में सबसे शक्तिमान हुआ यद्यपि उसकी शक्ति बहुत काल तक कायम न रह सकी। गुप्तों से संघर्ष चल रहा था। कुमार गुप्त तृतीय और ईशानवर्मन् में जो अन्तिम युद्ध हुआ उसमें मेरे स्वामी को हार खानी पड़ी। कुमारगुप्त ने प्रयाग पर भी अधिकार कर लिया और मरने पर उसका श्राद्धकर्म त्रिवेणी पर ही हुआ। सर्ववर्मन् ने दामोदर गुप्त को परास्त कर पिता की हार का बदला लिया और एक बार फिर मैं गर्व के साथ पाटलिपुत्र की ओर देखने लगा। सर्व ने हूणों का भी पराभव किया और मेरी सीमाएँ फिर एक बार बढ़ चलीं। पर मेरे उत्कर्ष को भी दम लेना पड़ा जब ग्रहवर्मन का भाग्य मेरे भाग्य से बँधा। ऐसा नहीं कि ग्रहवर्मन वीर न हो, महत्वाकांक्षी न हो। था वह दोनों परन्तु यह उस राजनीतिक दुरभिसन्धि को सही सही न समझ सका जिसने उसकी शक्ति के साथ ही उसके जीवन का भी अन्त कर दिया।

ग्रहवर्मन के शासनकाल तक मेरी प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गई थी कि थानेश्वर के उस समुन्नत और यशस्वी प्रभाकरवर्द्धन ने भी मेरे मौखरी राजकुल के साथ विवाह सम्बन्ध की प्रार्थना की जो हूणों और गुर्जरों के स्वप्न का दैत्य हो गया था। उसने अपनी कन्या राज्य श्री ग्रहवर्मन को ब्याह दी थी। कुछ पहले मगध के महासेन गुप्त ने मालवा में एक नए गुप्तकुल की स्थापना की थी। उस कुल के देवगुप्त ने बड़ी शक्ति अर्जित की और एक बार तो वह अपनी सेनाएँ लिए आसाम तक जा पहुँचा था। कामरूप के भास्करवर्मा के शत्रु गौड़राज शशांक के साथ उसने मैत्री की और मौखरियों से वंशगत वैर निभाने के लिए नए मित्र के

साथ वह मुझ पर चढ़ आया। ऐसा करने की विशेषकर उसकी हिम्मत तब हुई जब उसने सुना कि प्रभाकर वर्द्धन की थानेश्वर में मृत्यु हो गई है।

मेरे स्वामी गृहवर्मन को युद्ध में मार उसने मुझ पर अधिकार कर लिया और मेरी रानी राज्यश्री को कारागार में डाल दिया। प्रभाकरवर्द्धन का पुत्र और राज्यश्री का भाई राज्यवर्द्धन तब तक थानेश्वर की गद्दी पर बैठ चुका था और अब वह अपने सम्बन्धी के हन्ता देवगुप्त के विरुद्ध बढ़ा परन्तु इस औदार्य का मूल्य उसे अपने प्राणों से चुकाना पड़ा। देवगुप्त और शशांक ने जिस राजनीतिक दुरभिसन्धि के जाल बुने थे इसी में वह भी आ फँसा और उसकी हत्या हो गई। मौखरियों का ब्राह्मण सम्मत शासन मेरी धरा से उठ गया।

राज्यवर्द्धन का अनुज हर्षवर्द्धन तब थानेश्वर का राजा हुआ और शीघ्र वह भाई और बहनोई की हत्या का बदला लेने शत्रुओं की ओर बढ़ा। देवगुप्त तो सम्भवतः उसकी चोट से विनष्ट हो गया परन्तु नीति-कुशल गौड़राज शशांक राज्यश्री को मुक्त कर स्वदेश लौट पड़ा और हर्ष की प्रतिज्ञा के बावजूद भी वह उसके हाथ न लगा। मौखरियों के नाश का मुझे दुख निश्चय था परन्तु जो भावी सम्पदा मुझे थानेश्वर के संयोग से मिली उसका मैं बयान नहीं कर सकता। अब भी अर्थात् हर्ष के मेरे राजा होने के पहले भी मैं स्वतंत्र राजकुल की राजधानी था परन्तु प्राचीन पाटलिपुत्र की प्रतिष्ठा से मैं तभी लोहा ले सका जब मेरे प्रासादों में हर्ष का निवास हुआ। हर्ष ने राज्यश्री को ढूँढ़ कर पाया परन्तु बहिन की शासन सम्बन्धी उदासीनता के कारण स्वयं उसकी भी मुझमें विशेष रति न हुई परन्तु मंत्रियों के आमन्त्रण से उसे मौखरियों का सिंहासन भी थानेश्वर के साथ ही स्वीकार करना पड़ा।

अब मेरा उत्कर्ष दिनों दिन बढ़ चला। हर्ष यद्यपि बौद्ध मत की

ओर कन्नका झुक चला था। उसे अन्य बौद्ध राजाओं की ही भाँति रक्त-पात से घृणा न थी। हिंसा उसकी दीक्षित अहिंसा का हृदय थी और वह अपने साठ हजार हाथियों, एक लाख घुड़सवारों और अनन्त संख्यक पैदल सेना लेकर उत्तर भारत की विजय के लिए निकल पड़ा। गौड़ के विरुद्ध उसने कामरूप से सन्धि की और उत्तरापथ पर हल चला दिया। फिर वह दक्षिण सौराष्ट्र की ओर मुड़ा। उसके आक्रमण से वलभी का राजा ध्रुवसेन द्वितीय राजधानी छोड़ भड़ौंच के दद्द द्वितीय की शरण चला गया यद्यपि उसकी मदद से वह फिर लौटा और उसने अपनी गद्दी पर अधिकार कर लिया। हर्ष ने उससे मित्रता कर उसे अपनी कन्या ब्याह दी।

सारे उत्तरापथ के स्वामी हो जाने पर मेरी तृष्णा बढ़ी। शक्ति की तृष्णा भी काम की ही तृष्णा की भाँति है जो विषयों की आहुति से घटती नहीं निरन्तर बढ़ती ही जाती है। हर्ष अब दक्षिणापथ के शक्तिमान् चालुक्य पुलकेशिन द्वितीय से जा भिड़ा। पुलकेशिन अप्रतिम योद्धा था और उसने हर्ष को न केवल परास्त किया वरन् उसके हाथियों को मार कर उसने मैदान पाट दिया और भय विगलित हर्ष मैदान छोड़ पीछे लौटा। पुलकेशिन ने ईरान के बादशाह खुसरो द्वितीय से मैत्री की और हर्ष ने उत्तर में चीन के सम्राट से। हर्ष के दिग्विजय ने मुझे समस्त संयुक्तप्रान्त, मगध, उड़ीसा, बंगाल, कुरुक्षेत्र, पूर्वी राजपूताना और पूर्वी पंजाब का स्वामी बना दिया। सिन्ध और हिमालय के अनेक राजाओं से भी कर ग्रहण किया था और मैं इस विशाल साम्राज्य की राजधानी था।

जितना गौरव मुझे हर्ष ने इस काल दिया उतना मुझे कभी न मिला, न पहले, न पीछे। चीनी यात्री ह्वेनच्वाँग इस समय देश में भ्रमण कर रहा था। नालन्द के उस विश्वविद्यालय में जो अधिकतर

मेरे हर्ष के दान सम्मान से ही बढ़ा था और जो संसार के विद्यापीठों में कपालमणि था। चीनी श्रमक ने अपनी बुद्धि का परिचय दिया था। उसका सम्मान और महायान का प्रचार करने के लिए हर्ष ने मेरे नगर में एक बड़ा समरोह किया। कुमारराज, भास्कर वर्मा और अपने अतिथि के साथ मंजिलें सर करता गंगा के दक्षिण किनारे नब्बे दिन चल वह राजधानी पहुँचा। मेरे नगर में तब तक अट्ठारह माण्डलिक राजा और हजारों निमन्त्रित विविध सम्प्रदायों के आचार्य आ पहुँचे थे। हजार हजार श्रोताओं के बैठने लायक दो विशाल मण्डप और आदमकद बुद्ध की स्वर्ण मूर्ति, प्रतिष्ठित ऊँचा स्तम्भ पहले से ही प्रस्तुत हो चुके थे। परिषद की कार्यवाही उस जलूस के बाद आरम्भ हुई जिसमें हर्ष ने बुद्ध मूर्ति की परिचर्या में शक्र का स्थान ग्रहण किया था और कामरूप के भास्कर वर्मा ने ब्रह्मा का।

पाँच दिनों तक ह्वेनत्वांग महायान-सिद्धान्तों का निरूपण करता रहा और अन्त में उसने अन्य साम्प्रदायिकों को अपनी युक्तियाँ काटने की चुनौती दी परन्तु ब्राह्मण दार्शनिक जब उससे तर्क में कुछ भारी पड़ने लगे तब हर्ष को वह असह्य हो उठा और उसने जो घोषणा की उसका अन्याय मैंने साक्षात् देखा। उसने ऐलान किया कि यात्री का विरोध करने वालों की जबान काट ली जायगी और उसका नतीजा यह हुआ कि परिषद् समाप्त हो गई परन्तु इसका परिणाम हर्ष को स्वयं भुगतना पड़ा। ब्राह्मण उसकी इस अनीति को बर्दाश्त न कर सके और उन्होंने उस पर आक्रमण किया। पाँच सौ ब्राह्मण तब देश से बाहर निकाल दिए गए और यात्री का अधिकाधिक आतिथ्य हुआ।

मैं अपनी शान की बात अपने मुह क्या कहूँ। उसका बयान खुद उस चीनी यात्री ने किया है। वह लिखता है कि इस नगर में जो छः मील लम्बा और सवा मील चौड़ा है सौ बौद्ध बिहार हैं जिनमें दस हजार

भिक्षु निवास करते हैं, और दो सौ देवालय। नगर विस्तृत, सुन्दर और स्वच्छ है, उसके भवन चूने से पुते सादे और स्वास्थकर हैं। राजधानी वस्तुतः भारतीय संस्कृति की राजधानी है जहाँ रेशम के सुन्दर दर्पण सदृश स्वच्छ वस्त्र पहने नागरिक देवताओं को भी लजा देने वाली शुद्ध वाणी में वार्तालाप करते हैं। उनका उच्चारण स्पष्ट और सार्थक होता है और उनकी भाषा देश के भाषा भाषियों के लिए प्रमाण है।

निश्चय विदेशी द्वारा प्रस्तुत मेरी यह प्रशस्ति तनिक भी श्लाघात्मक नहीं। मेरे वैभव और समृद्धि का अन्दाज उस अनन्त दान से लगाया जा सकता है जो मेरे स्वामी ने महामोक्षपरिषद् के अवसर पर प्रयाग में त्रिवेणी के संगम पर यात्री के सामने ही किया था और जैसा वह हर पाँचवें वर्ष किया करता था। हर पाचवें वर्ष मेरे खजाने का धन इसी प्रकार स्वाहा होता था। परन्तु फिर प्रान्तों की आय से वह भर जाता था। प्रान्तों की आय कैसे आती थी, किस तरह मेरे राजपुरुष का धन, उसके पसीने की गाढ़ी कमाई छीन लाते थे, इससे न मुझे कोई गरज थी और न मेरे स्वामी हर्ष को। जब तक उसके हाथ धन की कमी से न रुकते थे, जब तक इस दान क्रिया से स्वर्ग में बनते उसके प्रासाद का काम न रुकता तब तक उस आय-कर्षण के तरीकों को जानने की उसे जरूरत न थी। छः छः बार यह दान समारोह चला और धन पानी की तरह बहा। यद्यपि यात्री सड़कों पर लुटते रहे, स्वयं हर्ष का मित्र चीनी यात्री दो दो बार उसके राजमार्गों पर लुट गया।

हर्ष का शासन इतना अस्थिर था, उसकी बुनियाद इतने कमजोर पायों पर खड़ी थी कि उसका टिक सकना असम्भव था और वह टिक नहीं सका। हर्ष के मरते ही उसके मन्त्री अर्जुन ने उसके सिंहासन पर अधिकार कर लिया। इस काल मेरे नगर में काफी रक्तपात हुआ जिसमें अनेक दलों ने खून की होली खेली। हर्ष ने चीन के तांग सम्राट् को

अपने दूत भेजे थे जिसके उत्तर में उसने अपने दूत भेजे और वह दूत मण्डल मेरे नगर में तब पहुँचा जब अर्जुन राज्य पर अधिकार कर चुका था। उसने चीनी दूतों को मरवा डाला परन्तु उसका नेता निकल भागा और तिब्बती-नैपाली सेनाओं की मदद से उसने अर्जुन को परास्त कर चीन भेज दिया। हर्ष के साम्राज्य के प्रान्त बिखर गए और मैं फिर शंकित दृष्टि से अपने भावी स्वामी की राह देखने लगी।

सातवीं सदी के मध्य में मेरे नगर में यह राजनीतिक क्रान्ति हुई थी। उसके कुछ ही काल बाद सहसा एक नया राजकुल मेरे आँगन में उतरा। उसके पिछले राजा तो अत्यन्त कमजोर हुए परन्तु उनमें पहला यशोवर्मन् विशेष प्रभावशाली हुआ। मैं उनके कुल को नहीं जानता पर कहते हैं वह मौखरियों का ही वंशधर था। उसने मेरे नगर और अन्तर्वेद की डाँवाडोल स्थिति स्थिर कर दी। जीवितगुप्त द्वितीय को उसने परास्त कर मागधों को अपनी सीमा में रहने को मजबूर किया। और अनेक कार्यों से उसने मेरी निर्बलता का मार्जन किया। काश्मीर के ललितादित्य मुक्तापीढ़ ने तब उस पर आक्रमण कर उसे परास्त कर दिया। उसके दर्बार में साहित्य के दो विशिष्ट कवि प्रसिद्ध हो गए हैं, एक भवभूति दूसरा वाक्पति। यशोवर्मन् की पिछली पराजय ने मेरा सिर झुका दिया था और उसका परिणाम यह हुआ कि उसके उत्तराधिकारियों को बार बार अपने मुँह की खानी पड़ी।

इसके बाद मेरे नगर में आयुधों का राजकुल शासन करने लगा जिसके तीनों राजा वज्रायुध, इन्द्रायुध और चक्रायुध अपनी दुर्बलता के लिए देश में प्रसिद्ध हो गए हैं। वज्रायुध पर काश्मीर के जयापीढ़ ने सफल आक्रमण किया; इन्द्रायुध के समय राष्ट्रकूट नृपति ध्रुव ने गंगा-यमुना के दोआब पर हमला कर गंगा-यमुना को अपना राजचिह्न बनाया। इन्द्रायुध पर बंगाल के धर्मपाल ने भी आक्रमण किया और उसे सिंहासन

च्युत कर गद्दी चक्रायुध को दे दी तब मेरी राजनीति इतनी कमजोर हो गई थी कि हर कोई मुझ पर आक्रमण करने लगा। राष्ट्रकूट तो प्रायः अपने दक्षिण आधार से उठकर मेरे हँसते खेतों को उखाड़ फेंकते। इसी प्रकार पाल और प्रतिहार भी अक्सर मुझ पर छापे मारते। वस्तुतः इसी काल गंगा जमुना के दोआब और मध्यदेश के लिए राष्ट्रकूटों, पालों और प्रतिहारों में त्रिवर्गीय संघर्ष शुरू हुआ। धर्मपाल ने जब इन्द्रायुध की जगह चक्रायुध को मेरे सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया तब और नृपति तो चुप रहे पर राष्ट्रकूटों को पालों का यह विधान मान्य न हो सका और ध्रुव के पुत्र गोविन्द तृतीय ने सहसा दोआब पर आक्रमण कर दिया। चक्रायुध और धर्मपाल दोनों को उसने बुरी तरह परास्त किया और गौड़ के नृपति को अपने छत्र चँवर छोड़कर भागना पड़ा। धर्मपाल हार चुका था और गोविन्द तृतीय की मृत्यु हो गई तब अवसर पाकर प्रतिहार नृपति नागभट्ट द्वितीय ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया। गुर्जर-प्रतिहार, मारवाड़ और उज्जयिनी में प्रतिष्ठित थे यद्यपि नागभट्ट के पिता वत्सराज को राष्ट्रकूटों ने उज्जयिनी से निकाल मरुभूमि में शरण लेने को बाध्य किया था। और जब उसके पुत्र ने कुल की मालवा में खोई सम्पति पर फिर से अधिकार करना चाहा तब गोविन्द तृतीय ने उसे मार भगाया था। नागभट्ट ने उधर से हाथ खींच मुझ पर डाला और मुझे उसने प्रतिहारों की राजधानी बनाया। अपने संरक्षित चक्रायुध को इस प्रकार हटते देख धर्मपाल ने नागभट्ट के विरुद्ध युद्ध यात्रा की पर मुंगेर में नागभट्ट ने उसे इस बुरी तरह परास्त किया कि उसे उलटे पाँव लौटना पड़ा।

नागभट्ट की विजय और सम्राटपदीय प्रतिहारों के मेरे नगर में प्रतिष्ठित होने पर मेरा लुटा हुआ गौरव फिर लौटा। आयुधों की दुर्बलता ने मुझे बार बार विजेताओं के सामने सिर झुकाने को मजबूर किया था,

बार बार विदेशी राजकुलों द्वारा अपनी राजनीति सँभालने से मैं अपमानित हुआ था। अब मुझे शक्ति और मान दोनों मिले। नागभट्ट ने वत्स, मालवा और काठियावाड़ को जीतकर मुझे गौरवान्वित किया। पूर्वी राजपूताना के मत्स्यों और सिंध के तुरुष्कों को भी उसने धूल चटा दी। आन्ध्र, कलिंग, विदर्भ, आदि के राजा मुझ से मैत्री और सहायता माँगने लगे।

नागभट्ट का पुत्र रामभद्र कमजोर और विलासी निकला पर उसके पुत्र मिहिरभोज ने मेरी शक्ति बुदेलखण्ड, मारवाड़ और हिमालय की तराई तक कायम रखी। वह बड़ा सुलझा हुआ नृपति था। उसने जब पूर्व की ओर हाथ बढ़ाया और धर्मपाल के यशस्वी पुत्र देवपाल ने उसे परास्त कर दिया तब वह उधर से हाथ खींच दक्षिण राजपूताना की ओर मुड़ा और उसे कुचलता नर्मदा तट तक की उज्जयिनी की चतुर्दिक भूमि रौंद डाली तब गुजरात के नृपति ध्रुवधारावर्ष को उसकी अनीति असह्य हो उठी और उसने उसे परास्त कर दिया। इस पर वह सौराष्ट्र में पिल पड़ा और कर्नाल पर अधिकार कर लिया। सुलेमान लिखता है कि वह मुसलमानों का सबसे बड़ा शत्रु था।

मेरा प्रताप दिन दूना रात चौगुना बढ़ चला था। महेन्द्रपाल ने भी मेरी शक्ति कुछ कम न बढ़ाई। दसवीं सदी का आरम्भ था। नई शक्तियाँ इधर उधर उभड़ रही थीं परन्तु महेन्द्रपाल चुपचाप विजय पर विजय मेरे आँगन में बिखेरे जा रहा था। मगध और उत्तर बंगाल उसने जीत लिया और सौराष्ट्र में उसके प्रतिनिधि माण्लिक उसकी ओर से शासन करते थे। हाँ, पश्चिम और दक्षिण में अपना आधार छोड़ निरन्तर व्यस्त रहने का एक दुष्परिणाम भी हुआ। महेन्द्रपाल ने कुछ काल पहले पंजाब में काश्मीर नृपति से कुछ प्रदेश छीन लिये थे। अब उसकी व्यस्तता से अवसर पाकर शंकरवर्मन ने अपने प्रदेश सहसा आक्र-

मण कर वापस ले लिए। परन्तु महेन्द्रपाल उनको फिर से जीतने के लिए जीवित न रह सका।

महेन्द्रपाल के आश्रय में मेरे नगर में एक प्रख्यात साहित्यिक ने आश्रय पाया—राजशेखर ने। राजशेखर अलंकार शास्त्र का महापण्डित था और उसने मेरे ही दर्बार में अपने विख्यात 'काव्यमीमांसा' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। उसके बालरामायण, बालभारत और कर्पूर-मंजरी भी मेरे ही नगर में रचे गए।

महेन्द्रपाल की मृत्यु के बाद मेरी राजनीति जो कमजोर पड़ी तो प्रतिहारों में गृहयुद्ध छिड़ गया। भोज द्वितीय और महीपाल दोनों वैमात्र भाई थे और उनको लड़ाने वाले पड़ोसियों की कमी न हुई। कोकल्ल चेदि ने भोज की सहायता की पर श्री हर्ष चन्देल ने महीपाल को मेरी गद्दी पर बिठा दिया। महीपाल जमकर बैठा और उसने भोज और चेदियों को कहीं पनपने नहीं दिया। परन्तु महीपाल स्वयं को राष्ट्रकूटों का आक्रमण बरदाश्त करना पड़ा। इन्द्र तृतीय ने मेरे नगर तक के भू प्रदेश को उजाड़ डाला और प्रयाग तक लूटमार की। पालों ने अपने अनेक भू खण्ड सोन के पूर्व तक फिर से जीत लिए। महीपाल ने अपनी स्थान की पूर्ति मध्यभारत के अनेक भागों को जीतकर की। यद्यपि उसके पिछले दिन सुख से न बीत सके और राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय ने फिर मेरे प्रदेशों को लूटा खसोटा।

महेन्द्रपाल द्वितीय ने निश्चय काफी काल तक प्रतिहारों की शक्ति और राज्य पूर्ववत् सँभाल रखा परन्तु दिन दिन प्रतिहारों की शक्ति कमजोर होती गई और उनके प्रान्त बिखरते गए। उन प्रान्तों में नई शक्तियों की प्रतिष्ठा हुई—महोबा में चन्देलों की, ग्वालियर में कच्छ-पघातों की, डाहल में चेदियों की, मालवा में परमारों की, अन्हिलवाड़

में चालुक्यों की, दक्षिण राजपूताना में गुहिलों की और अजमेर साँभर में चाहमानों की।

परन्तु प्रतिहारों का सर्वथा विनाश ही न हो गया और मेरे नगर तक में कुछ काल तक उनका अधिकार बना रहा। राज्यपाल दसवीं सदी के अन्त में मेरा राजा था जिसने सुबुक्तगीन के विरुद्ध जयपाल की मदद के लिए सेना भेजी और हार खाई। सुबुक्तगीन के पुत्र महमूद गजनवी को रोकने के लिए आनन्दपाल ने जब हिन्दू राजाओं को सहायता के लिए आमन्त्रित किया तब राज्यपाल ने फिर अपनी मदद भेजी और फिर उसे हारना पड़ा। १०१८ ईस्वी में उसे स्वयं अपने नगर से महमूद के सामने भागना पड़ा। महमूद उत्तर भारत के मुकुटमणि मुझ कन्नौज के वैभव और समृद्धि का संवाद पा चुका था और अब वह मुझे लूटने चल पड़ा था। रज्यपाल ने जब उसके आने की खबर सुनी तब वह सहसा भागकर गंगा पार के जंगलों में जा छिपा। महमूद ने मुझे बुरी तरह लूटा और मेरे मन्दिर भूमिसात कर दिए। अनन्त अनन्त धन रत्न अपने ऊँटों पर लाद वह गज़नी ले गया। सदियों से मेरे मन्दिरों में अगाध सम्पति संचित हो गई थी। हिन्दू राजा एक दूसरे से लड़ते जरूर थे मगर जहाँ तक मन्दिरों का सम्बन्ध था वे उन्हें छूते तक नहीं थे और उन पर धन भी चढ़ाते थे। सदियों की वह सारी संचित सम्पति महमूद उठा ले गया।

अब जो उसके लौटने पर राज्यपाल लौटा तब पड़ोसी हिन्दू राजाओं को उससे बड़ी शिकायत हुई और चन्देल नृपति गण्ड ने अपने युवराज विद्याधर देव को सेना के साथ भेज राज्यपाल का बध करा दिया और उसकी गद्दी उसके बेटे त्रिलोचन पाल को दे दी। परन्तु मैं चन्देलों की यह नीति समझ न सका जब कि महमूद के हमले के समय वे स्वयं अलग रहे थे। अब जो महमूद ने यह सुना तब वह

लौटा। उसने त्रिलोचन पाल को उखाड़ फेंका और मेरे नगर को उसने फिर लूटा। परन्तु स्वयं चन्देल भी उसकी चोट से बच न सके। प्रतिहारों में किसी प्रकार यशपाल फिर भी बच रहा जो इस कुल का अन्तिम राजा था। प्रतिहारों के बाद मेरी राजनीति फिर छिन्न भिन्न हो गई। फिर मुझ पर मत्स्य-न्याय का दुराचरण होने लगा और मैं मजबूतों की छीना झपटी से ऊब उठी।

बनारस की ओर जाने वाले नियाल्तिगीन ने मुझे बुरी तरह लूटा, चेदि गाँगेय देव और उसके बेटे कर्ण ने भी मुझ पर अपने आक्रमणों के अनुग्रह किए और मालवा के परमार भोज ने भी मुझे अपनी शक्ति और लूट-लिप्सा का मजा चखाया। इस प्रकार जब मैं इस निरन्तर छीना-झपटी और अनवरत आक्रमणों से व्याकुल थी तभी एक असामान्य सामरिक चन्द्रदेव ने सहसा मुझ पर अधिकार कर मेरी रक्षा की। उसी ने प्रसिद्ध गहड़वाल राजकुल की मेरे नगर में प्रतिष्ठा की और मैं फिर एक बार गौरव और उत्कर्ष के लम्बे डग भरने लगा।

चन्द्रदेव ने शीघ्र सारे संयुक्त प्रान्त पर अपना अधिकार कर लिया। दिल्ली भी उसके कब्जे में आ गई और अपने अभिलेख में उसने उचित ही अपने आप को काशी, अयोध्या, कन्नौज और इन्द्रस्थान (दिल्ली) का रक्षक लिखवाया। परन्तु वस्तुतः गहडवालों के शासन में गोविन्द-चन्द्र ने मुझे विशेष गौरव दिया। जब वह केवल युवराज था तभी उसने ग़ज़नी के सुल्तान मसूद तृतीय के भेजे हाज़िब तुगातिगन को बुरी तरह परास्त कर दिया। इसके अतिरिक्त उसने मगध का भी एक भाग जीत लिया और पटने तथा मुँगेर के जिलों में ब्राह्मणों को गाँव दान दिए। फिर कुछ तो अपने राज्य की सँभाल के लिए और कुछ सेनाओं के आक्रमण को रोकने के लिए उसने काशी को अपनी पूर्वी दूसरी राजधानी बनाया। पूर्वी मालवा को भी उसने जीता जिससे न केवल मेरी समृद्धि

बढ़ी वरन् मैं उस समय के संसार के सबसे प्रसिद्ध नगरों में गिना जाने लगा। गोविन्दचन्द्र गहडवाल कुल का सबसे प्रतापी नृपति था और उसकी मैत्री दूर दूर के राजाओं से थी। काश्मीर का जयसिंह, गुजरात का सिद्धराज जयसिंह और दूर के चोल तक मेरी मैत्री का दम भरते थे। गोविन्द चन्द्र के मन्त्री लक्ष्मीधर ने इसी काल मेरे नगर में अपना प्रसिद्ध 'कल्पतरु' लिखा जो कानून के साहित्य में लासानी ग्रन्थ है।

जहाँ तक विदेशी शक्ति के मुकाबले की बात है विजयचन्द्र भी कुछ कम सफल न हुआ। गजनी से निकाले जाने पर अमीर खुसरो ने लाहौर पर कब्जा कर लिया था, और अब वह कन्नौज की तरफ बढ़ा परन्तु विजयचन्द्र ने उसे हरा कर उल्टे पाँव लौटा दिया। विजयचन्द्र के शासन काल में यद्यपि मेरे दूसरे प्रान्त मेरे अधिकार में बने रहे, दिल्ली मेरे हाथ से निकल गई। शाकम्बरी के चाहमानों का सूर्य उदय हो रहा था और उनके वत्सराज चतुर्थ वीसल देव ने दिल्ली मुझसे छीन ली।

इस कुल का मेरा अन्तिम राजा जयचन्द्र हुआ। मैं पहले कह चुका हूँ कि मेरी महत्ता राजनीतिक दृष्टि से इन दिनों वही थी जो कभी पाटलिपुत्र की रह चुकी थी या जो पीछे दिल्ली की हुई। और यद्यपि जयचन्द्र तक पहुँचते पहुँचते गहडवालों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी परन्तु अपने शौर्य से उस नृपति ने उसे प्रतिष्ठित रखा। अनेक राजा उसका लोहा मानते थे और एक बार तो वह चौहानों की नाक के नीचे से गुजरात की ओर बढ़ गया था और उधर उसने मारकाट मचा दी थी। पिछले दिनों में वही एक राजा था जिसने अश्वमेध किया। उसके अश्वमेध में अनेक राजाओं ने परिचर्या की; स्वयं चौहान नरेश पृथ्वीराज के लिए द्वारपाल का स्थान नियत किया गया था इस अर्थ में कि दिल्ली मेरा पूर्वी द्वार थी और वह उसका रक्षक था। परन्तु पृथ्वी-राज स्वयं कुछ साधारण राजा या योद्धा न था। उसने देश के भीतर

अनेक प्रदेश जीते थे और यद्यपि वह प्रगट विलासी था उसने अपनी वीरता के भी अनेक परिचय दिए। और वह तत्कालीन ललित कथाओं का उदयन की भाँति नायक हो गया। परन्तु उसकी अधिकतर लड़ाइयाँ नारियों के लिए ही हुई थीं। स्वयं जयचन्द्र के साथ उसने उसकी लड़की भगाकर उससे शत्रुता पाली और उसका नतीजा यह हुआ कि जिस जयचन्द्र की मदद से पहली बार उसने शहाबुद्दीन गोरी को हरा दिया था, दूसरी बार उसी के अभाव से उससे वह हार कर मारा गया।

दूसरे साल वही शहाबुद्दीन फिर लौटा और उत्तर भारत के राजनीतिक केन्द्र मुझको सर किए बगैर उसे कल न पड़ी। शक्तियाँ असमान थीं पर जयचन्द्र चन्दावर के मैदान में अपनी सेना लेकर पठान सुल्तान के सामने आ डटा। लड़ाई जम कर हुई और अपनी सेना के साथ अस्सी वर्ष का वह वृद्ध भी खेत रहा। इस सम्बन्ध में मैं यह स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि इतिहास ने पृथ्वीराज के दर्बारी कवि चन्द के 'पृथ्वीराज रासो' पर विश्वास कर अनर्थ कर डाला है; जब उसने जयचन्द को कायर और देशद्रोही कहा है। मैंने तलावड़ी के मैदान के युद्ध का वर्णन सुना है और जयचन्द की बहादुरी खुद देखी है और मैं कह सकता हूँ कि उस वीर ने चन्दावर के मैदान में प्राण देकर मेरा मुख उज्ज्वल किया।

अब मुझे अपने इतिहास के सम्बन्ध में सिवाय इसके कुछ कहना शेष न रहा कि मेरी स्थिति अब बिगड़ कर एक मामूली कस्बे की हो गई जो आज तक बनी है। दिल्ली जो कभी मेरी चेरी थी दिनोंदिन उन्नति करती गई और आज वह भारत की सिरमौर है। परन्तु मुझे इस बात की तनिक भी ग्लानि नहीं क्योंकि जीवन किसी का सदा एक सा नहीं रह पाता और जो कभी चढ़ा कुछ अजब नहीं कि नीचे भी उतर आए और इसी उसूल पर मैं जिन्दा हूँ। हाँ, पिछले दिनों में मेरी

अपनी हकीकत गो कुछ खास नहीं रही मैंने अपना मुँह छिपा लिया। मुझे याद है बिहारी अफगान शेरशाह की राजनीति और तलवार दोनों की टक्कर खाकर हुमायूँ जब भागा तब उसे राह न मिली थी परन्तु दुनिया को अपनी ताकत और बादशाहत का यक़ीन कराने जब वह बाबर का विलासी वंशधर एक लाख सेना लेकर मेरे मैदानों में शेरशाह के विरुद्ध आ उतरा तब मैंने सोचा शायद पानीपत मेरे मैदानों में उतर पड़ा है। पर वास्तव में देखा मैंने वह जो शायद कभी किसी ने न देखा। तोप का अभी एक गोला न छूटने पाया था, सिपाही ने अपनी बन्दूक न दागी थी कि एकाएक मुगल सेना भाग चली। शेरशाह अपने जवानों को लिए देखता रह गया। उसकी भुजाएँ दो हाथ चलाने को बेताब होती रहीं पर उन्हें मौका न मिला और मैदान साफ हो गया। फिर हुमायूँ जो भागा तो मारवाड़ और सिंध के रेगिस्तान की खाक छानता तेहरान में ही जाकर रुका। उसके बाप बाबर ने बारह हजार घुड़सवारों के साथ इब्राहीम लोदी की एक लाख सेना के पैर उखाड़ दिए थे और यहाँ हुमायूँ की एक लाख सेना शेरशाह के नाम से काँप कर भाग गई। इब्राहीम ने तो राजधानी की रक्षा के लिए अपने प्राण तक खो दिए थे पर हुमायूँ ने युद्ध क्षेत्र में एक नया तेवर दिया!

उस लड़ाई में पहले की ही भाँति मेरा कुछ अपना न था। वास्तव में मेरे नागरिक सदा से लड़ाइयों से उदासीन रहते आए थे। राजनीति में भाग लेना उन्होंने कभी मुनासिब न समझा। राजनीति केवल क्षत्रियों की समझी जाती थी और हारना जीतना उनका ही काम था। नागरिक अपने काम में सदा चुपचाप लगे रहते आए थे। विजेता चाहे देशी हो चाहे विदेशी, युद्ध का परिणाम चाहे हार हो चाहे जीत उनको उससे कोई दिलचस्पी न थी यद्यपि उनके घरद्वार, उनकी जमीन रियासत अक्सर छिन जाया करती।
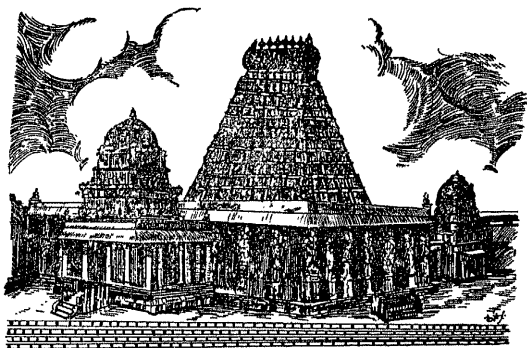
कांची

मेरी गणना भारत के प्राचीन सात नगरों में है और मैं संसार की उन नगरियों में से एक हूँ जिन्होंने अपनी भूमि पर साम्राज्यों का उत्थान-पतन देखा है और फिर भी जीवित रही हैं। मैं आज भी जीवित हूँ यद्यपि मेरा प्राचीन गौरव अब न रहा। पल्लवों और चोलों के साम्राज्य मेरी ही धरा पर उठे और गिरे हैं और मैंने पाण्ड्यों तथा चालुक्यों से संघर्ष किया है।

मैंने धर्म और संस्कृति का भी दक्षिण में नेतृत्व किया है और मैं बराबर पुरानी परम्परा की समर्थिका रही हूँ। अन्ध विश्वास, धार्मिक कट्टरपन और सामाजिक कठोरता ने अनेक बार मुझे अपना गढ़ बनाया है। मेरी प्राचीरों के पीछे मनुष्य मनुष्य में देव दानव का सा अन्तर रहा

है और मैंने अपने प्रसिद्ध मन्दिरों के द्वार निम्नवर्णीय श्रद्धालुओं के सामने बन्द कर दिए हैं। मेरा इतिहास शक्ति, गौरव और कूपमंडूकता का है। फिर भी मैं जीवित हूँ उसी प्रकार जैसे काशी, प्रयाग और मथुरा। दक्षिण की तो मैं काशी कही ही जाती हूँ।

मेरी बस्ती भी काफी प्राचीन है। यद्यपि मैं उस प्राचीनता का दावा नहीं कर सकती जो उन नगरों को प्राप्त है। फिर भी दक्षिण में मेरा जन्म काफी प्राचीन काल में हुआ था यद्यपि उत्तर के आर्यों ने मुझे बहुत पीछे जाना, तब जब मेरी समृद्धि वैभव और कंचन उनके हाथ लग चुका था। कनकवर्ण और स्वर्ण संचिता होने के कारण ही संभवतः उत्तर वालों ने मेरा नाम काँची रखा है परन्तु आज तो मुझे यह भी याद नहीं कि वास्तव में मेरा नाम इससे पहले क्या था।

मेरा उल्लेख पहले पहल महर्षि पतञ्जलि ने अपने 'महाभाष्य' में किया फिर तो मेरा निर्देश उत्तर की कथाओं और अभिलेखों में निरन्तर होने लगा। मेरी राजनीति सुदूर अतीत में खोई हुई है और उसके प्रारम्भ के चरण में अपनी धुंधली दृष्टि से स्पष्ट नहीं देख पाती। पर पल्लवों का उत्कर्ष और उनकी कीर्ति मेरी स्मृति में घूम रहे हैं, मेरे नेत्रों के सामने मूर्तिमान हैं।

पल्लव कौन थे? यह सही सही कोई नहीं जानता। मैं स्वयं नहीं जानती। इतना मुझे याद है कि ये संभवतः ब्राह्मण थे और वाकाटक ब्राह्मण वंश की ही किसी शाखा से समुद्‌भूत हुए। भारत के अनेक राजकुल ब्राह्मण रहे हैं जिन्होंने शस्त्र की उपासना के कारण क्षत्रिय संज्ञा प्राप्त की है। वाकाटक स्वयं ब्राह्मण थे। पल्लव अपने को द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा के वंशज बताते थे और मैं नहीं समझती कि उनकी उस धारणा में क्यों सन्देह किया जाय। इतना निश्चय है कि कालान्तर में उनका ब्राह्मण होना लोगों को भूल गया और तभी, स्वयं पल्लव

ही, उन्हें केवल क्षत्रिय मानने लगे। चौथी सदी ईसवी के मध्य ब्राह्मण कदम्ब राजकुल की नींव डालने वाले मयूर शर्मा का जब मेरी नगरी में अपमान हुआ तब उसने पल्लवों को क्षत्रिय कह कर ही धिक्कारा। मतलब यह कि मेरी नगरी में वेदाध्ययन करने वाले विचक्षण मयूर शर्मा तक को यह पता न था कि जिन पल्लवों को वह क्षत्रिय कह रहा है वस्तुतः वे ब्राह्मण थे। और अपने क्षात्र कर्म के कारण क्षत्रिय माने गए।

पल्लवों ने प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओं की संरक्षा की। अनेक मेधावी दार्शनिक और साहित्यिक उनकी संरक्षा में और मेरी नगरी में समित्प्राणी होकर आए और विधिवत् विदग्ध हुए। पल्लवों ने अपने अभिलेख प्राकृत और संस्कृत में लिखवाए और इन्हीं अभिलेखों से उनके प्रारम्भिक राजाओं की कीर्ति फैली।

मेरी धरा पर उनकी कीर्ति का आरंभ बप्पदेव ने किया—बप्पदेव जिसने राजकुल का तो प्रारम्भ न किया पर उसकी प्रतिष्ठा निश्चय बढ़ाई। पल्लवों का गौरव वास्तव में मेरे नगर में उसके पुत्र शिवस्कन्धवर्मा ने स्थापित किया। पिता ने ही तैलगू आन्ध्रपथ और तमिल तोण्ड-मण्डल पर अधिकार कर लिया था। इसी तमिल तोण्डमण्डल की मैं राजनीतिक केन्द्र थी और शिवस्कन्ध वर्मा ने पाण्ड्यों आदि की विजय कर मेरी प्रतिष्ठा बढ़ाई। उसने विजयों का ऐसा ताँता बाँधा कि उस उठते हुए राजकुल से आस पास के राजा आतंकित हो उठे। सातवाहनों की बिखरी शक्ति के ऊपर पल्लवों का पहला वितान तना था और बप्पदेव ने अपने उत्तरी प्रान्त आन्ध्रपथ को उन्हीं से झपट कर छीन लिया था। सातवाहनों का पतन और पल्लवों का उत्थान प्रायः एक ही सदी का है; तीसरी का—तभी का जब उत्तर के मगध में एक और शक्ति—गुप्तों की—अपना मस्तक उठा रही थी।

शिवस्कन्ध वर्मा ने यज्ञों की परम्परा बाँध दी। अश्वमेध, वाजपेय, अग्निष्टोम उसने सभी किए और इस प्रकार अपने ब्रह्म क्षत्रियत्व का उसने परिचय दिया। शिव के परम भक्त उस नृपति ने पड़ोसी राजाओं के हृदय में आतंक जमा लिया। उसने अपने अभिलेख उत्तरी प्राकृत में लिखवाए। उसके बाद ही वह प्रसिद्ध विष्णुगोप नाम का नरेश मेरी गद्दी पर बैठा जिसका नाम अशोक द्वारा स्थापित स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में खुदा। समुद्रगुप्त मागध गुप्तों का साम्राज्य निर्माता था। आर्यावर्त्त के पड़ोसी राज्यों का उन्मूलन कर आटविक राज्यों को संत्रस्त कर वह पूर्वी समुद्र के तट से पहाड़ और नदियाँ लाँघता मेरे नगर में आ पहुँचा। जीत पर जीत उसके कदम चूमती गई और मेरे स्वामी विष्णुगोप को भी कुछ करते न बना। दक्षिणापथ के सभी राजा धीरे-धीरे उसके रथ चक्र द्वारा कुचल गए थे। विष्णुगोप भी उन्हीं की भाँति अपनी स्वतंत्रता और साथ ही मेरी भी खो बैठा।

समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय के अवसर पर ऐसी जातियों तक की आजादी छीन ली थी जिन्होंने शत्रु को सिर न झुकाया था। मैंने स्वयं अपने प्राचीरों के पीछे पहले कभी शत्रु को दहाड़ते न सुना था। परन्तु चन्द्रगुप्त ने मेरे उस गौरव में दाग लगा दिया। अपनी प्रशस्ति में उसने दर्प के साथ लिखवाया कि धर्मविजय नृपति की भाँति उसने दक्षिणापथ के राजाओं की 'श्री' तो छीन ली पर 'मेदनी' उनकी उसने लौटा दी। यह धर्म-विजय की नई परिभाषा थी, ईमानदारी की विडम्बना। मेदिनी जिसकी वैदेशिक नीति उसकी जनता या राजा के अधिकार में न हो वरन् उसका संचालन विदेशी सम्राट करता हो, कैसे स्वतन्त्र कही जा सकती है?

परन्तु दूर की सत्ता चाहे वह कितनी भी शक्तिमती क्यों न हो उन प्राचीन सदियों में विशेष सफल न हो पाती थी। दूरी और यातायात

के साधन की कमी के कारण दूर से अधिपति का अपने मंडलों के ऊपर दृष्टि रखना सम्भव न हो पाता था। समुद्रगुप्त की ही पकड़ दक्षिणापथ के राज्यों पर कमजोर पड़ गई और मैंने झट अपनी स्वतन्त्रता फिर स्वायत्त कर ली।

कालान्तर में वीर कुर्च ने अगली सदियों में मेरे लिए प्रायः वही प्रताप अर्जित किया जो कभी शिवस्कन्ध वर्मा ने किया था। और मैं फिर एक बार दक्षिण के आकाश में बाल रवि की भाँति उठ चली। परन्तु मेरे साम्राज्य और गौरव का आरम्भ वस्तुतः छठी सदी ईस्वी में हुआ। उसके मध्य के बाद जब सिंहविष्णु ने आस-पास के राज्यों को अपनी शक्ति से हिला दिया उसने पाण्ड्यों, कलभ्रों और अन्य राजशक्तियों को अपनी चोट से क्षत-विक्षत कर दिया। वह परम भागवत था, विष्णु का अनन्य भक्त और उसने अनेक मन्दिरों से मेरा मंडन किया। मेरे पल्लव स्वामी साहित्य के अप्रतिम प्रेमी थे और सिंहविष्णु ने भी उस क्षेत्र में अपना भाग अमित मात्रा में पाया था। उत्तर भारत के तत्कालीन साहित्यिक जगत में उस महाकवि भारवि का उदय हुआ था जो पिछली सदियों में अपने काव्य के 'गौरव अर्थ' के लिए प्रसिद्ध हुआ। किरातार्जुनीय के असाधारण काव्यकार भारवि को सिंहविष्णु ने अपने आतिथ्य के लिए आमन्त्रित किया। भारवि आया और उसने अपनी भारती से मेरा वातावरण मुखरित किया।

सातवी सदी के आरम्भ में सिंहविष्णु के पुत्र महेन्द्रवर्मन् के हाथ में मेरा, राजदण्ड आया। महेन्द्रवर्मन् प्रथम कुछ कम यशस्वी न था। आरम्भ से ही उसे वातापी के प्रबल चालुक्यों में जो भयानक कशमकश हुई उसका आरम्भ महेन्द्रवर्मन् के शासन काल से ही हुआ था। उत्तरापथ के राजा निरन्तर अपनी राजनीति में बराबर 'प्रसर' से सिद्धान्ततः प्रेरित रहते थे। कन्नौज के ऊर्जस्वित हर्षवर्द्धन का काल था वह। और

वह प्रभाकर वर्द्धन का तनय 'सकलोत्तरापथ' का स्वामी था। उत्तरापथ के आजाद राजकुलों की आजादी छीन दक्षिण के चालुक्यों से वह टकरा गया था। परन्तु पुलकेशिन् द्वितीय भी कमजोर हाथों तलवार नहीं पकड़ता था और उसने हर्ष को परास्त कर अयहोल के अपने अभिलेख में लिखवा या

युधि पतित गजेन्द्रानी कवीभत्स भूती
भय विगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः।

वही पुलकेशिन द्वितीय उत्तरापथ के हर्ष को पराजित कर अपनी प्रसर लिप्सा से प्रेरित दक्षिणापथ के महेन्द्रवर्मन् के साथ तलवार नापने चला। पुलकेशिन् बढ़ता हुआ मेरी प्राचीरों तक सहसा आ पहुँचा और जैसा वह गर्व के साथ अपनी प्रशस्ति में लिखवाता है—"पल्लव नृपति को अपनी ही सेनाओं द्वारा उठाई धूल से आवृत काँची की प्राचीरों के पीछे शरण लेनी पड़ी।" मैं अभिलेख के इस वक्तव्य की सत्यता का प्रतिवाद नहीं करना चाहती। परन्तु यह भी असत्य नहीं कि महीनों घेरा डाले रहने और मेरे द्वारों पर निरन्तर चोटें करते रहने पर भी पुलकेशिन् उनकी अर्गला न तोड़ सका और अपनी क्लान्त दूर कर नई कुमुक की मदद पा मेरी सेना जब प्राचीरों से बाहर निकली तब चालुक्य राज की सेना भी वातापी की ओर भागती अपनी ही उठाई धूल से आवृत हो गई।

महेन्द्रवर्मन् पहले जैन मतावलम्बी था। यद्यपि मैं नहीं समझ सकी कि जैन धर्म में दीक्षित होकर भी निग्रन्थ महावीर द्वारा प्रसरित अहिंसा का व्रत लेकर भी राजा किस प्रकार अपने को उस धर्म का वृती समझते थे। उनके दुर्मद रणों का रक्त रंजन किस प्रकार उनकी दीक्षा को सार्थक करता था यह आज तक मेरी समझ में न आया। मौर्य साम्राज्य का वह अप्रतिम निर्माता वह चन्द्रगुप्त भी अपने को जैन कहता था और उसने हिन्दूकुश से श्रावणबेलगोल तक की भूमि तलवार से नाप दी थी।

महेन्द्रवर्मन् भी जैन था। यद्यपि वह भी अन्य जैन नृपतियों की भाँति

रक्ताचरण को अपनी धार्मिक दीक्षा के प्रति असंगत न मानता था। मुझे सन्तोष है कि शीघ्र उसने वैषम्य का रहस्य जान लिया और खुल्लम-खुल्ला वह शैव धर्म में दीक्षित होकर उस राजधर्म का प्रतिपालन करने लगा जिसमें राज्यानुशासन धर्म का एक अनुलंघनीय अध्याय है। शैव धर्म में उसे सन्त अप्पर ने दीक्षित किया था। मेरी नगरी में यह धर्म अनजाना न था, परन्तु उसका विशेष विस्तार इस दीक्षा के बाद ही हुआ।

यह पल्लव नृपति न केवल शासक और योद्धा था वरन् वह निर्माता भी था और शिव के अनेक मन्दिर जो उसने अपने राज्य में बनवाए वे, आज भी अपनी प्राचीन शक्ति से खड़े हैं। दक्षिण भारत में पर्वतों में काटकर मन्दिर बनवाने की परम्परा का आरम्भ महेन्द्रवर्मन् ने ही किया और इसी के फलस्वरूप उसने अपना 'चैत्यकारि' विरुद धारण किया। वह ललित कलाओं का भी असाधारण पोषक था। चित्रण, नर्तन और गायन की कलाएँ मेरी नगरी में उसकी संरक्षा में खूब फली फूलीं। संगीत का तो वह स्वयं आचार्य था और उदुकोट्टा की रियासत में कुडमियमलै की चट्टान पर जो संगीत संबंधी शास्त्र खुदा है वह उसी के आदेश से खुदा। वह स्वयं सफल नाटककार था और उसने ही प्रख्यात मत्रविलास-प्रहसन की रचना की जिसमें विविध सम्प्रदाय के परिव्राजकों का प्रहसन है।

महेन्द्रवर्मन् के बाद उसका यशस्वी पुत्र नरसिंहवर्मन् प्रथम मेरा स्वामी हुआ। पल्लवों के राजकुल में उसका सा प्रतापी नृपति दूसरा न हुआ। चालुक्यों के साथ संघर्ष चल रहा था और पुलकेशिन अब भी निष्क्रिय न था परन्तु नरसिंह ने उससे अन्ततः निपट लेने का विचार दृढ़ कर लिया। चालुक्यराज यद्यपि संसार प्रसिद्ध था। ईरान के सम्राट खुसरू द्वितीय के साथ तक उसने दूत-विनिमय किए थे और अजन्ता की चित्र-शाला में उस दौत्य का अंकन भी हो चुका था। परन्तु नरसिंह ने उसे इतना नगण्य समझा कि उसके विरुद्ध वह स्वयं मैदान लेने तक को तैयार

न हुआ। उसने केवल एक विशाल सेना अपने पराक्रमी सेनापति परन्जोति की अध्यक्षता में चालुक्यों की राजधानी वातापी भेजा। परन्जोति का आक्रमण पुलकेशिन के लिए सर्वथा अचूक सिद्ध हुआ यद्यपि उसने उसके सामने पीठ न दिखाई। हर्ष का विजेता पुलकेशिन अपनी राजधानी की रक्षा करता हुआ जूझ मरा। तेरह वर्षों तक चालुक्यों की दक्षिणी भूमि और उनकी राजधानी पर मेरा अधिकार रहा। मेरे नृपति नरसिंहवर्मन् ने उस विजय के स्मारक स्वरूप 'वातापिकोण्ड' नया विरुद् धारण किया।

नरसिंहवर्मन् भी अपने पिता की ही भाँति शैव था और उसने भी महाबलिपुरम में अनेक मन्दिर बनवाए। महाबलिपुरम उसी का बसाया हुआ था और वहीं से उसने सिंहल के विरुद्ध दो दो बार अपनी नौ सेना के साथ आक्रमण किया। उसके दरबार में मानवर्मा नामक सिंहल के राजकुमार ने आश्रय लिया था। उसी की सहायता के लिए नरसिंह ने सिंहल पर आक्रमण किया। पहला आक्रमण तो निष्फल गया परन्तु दूसरे ने मानवर्मा को वहाँ का सिंहासन जीत दिया और पल्लवों का प्रताप उस द्वीप पर छा गया। वह आक्रमण राम के आक्रमण के भाँति बहुत काल तक सिंहलवासियों को न भूला। मेरा गौरव आसमान चूमने लगा था।

नरसिंहवर्मन् ने दक्षिणापथ के प्रायः सभी राजाओं को जीता था और उसकी शक्ति सर्वत्र सम्मान्य हो गई थी तभी उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन् द्वितीय पल्लव सिंहासन पर बैठा। परन्तु उसकी विलासिता असमय में ही उसे खा गई। मेरा उससे पिण्ड छूटा और मैं उस परमेश्वरवर्मन् प्रथम की ओर विशेष आशा से देखने लगी जो अब मेरा तरुण स्वामी हुआ। परन्तु मेरी आशा शीघ्र ही भग्न हो गई। मेरे उत्तरी प्रान्त मेरे हाथ से निकल गए। कारण यह था कि वातापी राजकुल ने तेरह वर्ष

बाद फिर प्रतिष्ठा पाई थी। पुलकेशिन द्वितीय का पुत्र विक्रमादित्य प्रथम असाधारण योद्धा और कर्मठ व्यक्ति था। उसने वेंगी के चालुक्य राज से मदद ली और दोनों ने मिलकर वातापी तथा उसके दक्षिणी प्रान्त मुझ से छीन लिए। वेंगी वास्तव में कभी मेरा ही प्रान्त था जिसे पुलकेशिन द्वितीय ने महेन्द्रवर्मन् प्रथम से छीनकर अपने अनुज को दे दिया था जिसने पूर्वी चालुक्यों की शाखा वहाँ जमाई थी। विक्रमादित्य अपने खोए प्रान्तों को लौटा कर ही न रुका वरन् उसने नई शक्ति अर्जित कर मेरे नगर पर भी धावे आरम्भ किए। एक बार तो उसने मुझे प्रायः जीत ही लिया था कि सहसा परमेश्वरवर्मन् की युद्धनीति ने पाँसा पलट दिया और आक्रमक को अपने पहने वस्त्रों मात्र को लेकर सपद भागना पड़ा। उसके राज्य लांछन, छत्र, चँवर आदि सब पीछे छूट गए। परन्तु विक्रमादित्य ने अपने दक्षिणी प्रान्तो पर अपनी पकड़ मजबूत बनाए रखी।

महेन्द्रवर्मन् द्वितीय का पुत्र नरसिंहवर्मन् द्वितीय हुआ। उसके शासन काल में भी चालुक्यों के साथ हमारा संघर्ष चलता रहा। विजय कभी मेरे हाथ, कभी वातापी के हाथ आती रही और युद्ध समाप्त न हो सका। इतना अवश्य था कि चालुक्यों की चोटों से मेरी शक्ति दिन दिन क्षीण होती जा रही थी। नरसिंहवर्मन द्वितीय गिरती हुई स्थिति को विशेष न सँभाल सका। फिर भी विक्रमादित्य द्वितीय के आक्रमणों के सामने उसने कभी सिर न झुकाया और अनेक बार तो चालुक्य नृपति को अपनी मुँह की खानी पड़ी।

नरसिंहवर्मन् द्वितीय का शासन काल अपनी साहित्यिक रचनाओं के लिए भी कुछ कम प्रसिद्ध नहीं। संस्कृत के अलंकार शास्त्र का प्रकाण्ड पंडित और सूत्रकार दण्डी नरसिंह वर्मन् की ही संरक्षा में फला-फूला। अपने विख्यात अलंकार ग्रन्थ और 'दशकुमारचरित' की उसने मेरे ही नगर में रचना की।

नरसिंहवर्मन् द्वितीय स्वयं कुछ विशेष कर्मठ न था। परन्तु उनके पुत्र परमेश्वरवर्मन् द्वितीय ने तो पतन की पराकाष्ठा ही कर दी। अब तक जो मैंने केवल समृद्धि और शक्ति जानी थी, अपने मरण की साँस गिनने लगी। परमेश्वर का अल्पायु जीवन समाप्त होते ही मेरे नगर में रक्त की होली खेली जाने लगी। राजकुल के विविध व्यक्ति मेरी सत्ता को स्वायत्त करने का प्रयत्न करने लगे और दिन-रात उनमें राजनीतिक कतर व्योंत होने लगे। महीनों के लहूलुहान के बाद नन्दिवर्मन् राजा हुआ। वह राजा हुआ क्या वह राजा चुना गया और मुझे इसे कहते सन्तोष होता है कि मेरी जनता ने राय की राजकुलीय स्वाभाविक परंपरा को तोड़ औचित्य को अपना साधन बनाया और उस समर्थ व्यक्ति को मेरा स्वामी चुना जो अपनी कर्मठता और योग्यता का पिछले गृहयुद्धों में प्रमाण दे चुका था। नन्दिवर्मन् सिंहविष्णु के अनुज के वंशधर हिरण्यवर्मन् का पुत्र था और उसने विषम शक्तियों को पराभूत कर मेरी नगरी में फिर से शक्ति की प्रतिष्ठा की। चालुक्यों की चोटें मुझ पर निरन्तर पड़ रही थीं और इस महीनों की उथल-पुथल के कारण तो मौका पा वे दुगुनी हो गई थीं। परन्तु नन्दिवर्मन् ने उनका सफल प्रतिकार किया। अनेक राजाओं को चालुक्यों के अतिरिक्त उसने परास्त भी किया और दक्षिणापथ पर फिर एक बार मेरा प्रभुत्व छा गया। प्रताप का जीवन बितानेवाली मैं अपने गृहयुद्धों से ही परेशान होकर जीवन से ऊब चली थी क्योंकि बाहर वालों की दी हुई प्रतिष्ठा स्वतंत्रता के बदले मुझे कभी संमत न हुई।

इतना मैं कहूँगी कि नरसिंहवर्मन् का शौर्य भी मेरे उस राजनीतिक स्खलन को सर्वथा रोक न सका जो शीघ्र ही मेरे भाग्य की रेखाएँ लिखने लगा था। उसने केवल उस स्खलन को अपने कन्धे द्वारा टेक दे दी। फिर भी बुझती आग की उस चिनगारी ने मेरे मुख की आभा कुछ काल के लिए निःसन्देह प्रकाशित कर दी।

उत्तर में इसी काल एक क्रान्ति हुई और वातापी का चालुक्य राजवंश भी काल की विकट गति से वंचित न रह सका। वह भी उसके प्रहार से अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिनने लगा था और शीघ्र राष्ट्रकूटों ने उनके हाथ से शक्ति छीन ली। नवीं सदी में राष्ट्रकूटों के उस राजकुल में अपनी राजधानी मान्यखेट में विशेष ख्याति पाई। उत्तर की राजनीति में तो उन्होंने कीर्ति अर्जित की ही, उनके राजाओं ने उज्जयिनी, कन्नौज और प्रयाग तक तो धावे मारे ही, दक्षिण की ओर भी उन्होंने अपनी दृष्टि फेरी। दन्तिदुर्ग जिसने एलोरा के प्रसिद्ध कैलाश मन्दिर का निर्माण आरंभ किया था, मेरी ओर फिरा और मेरे राजा को परास्त कर दिया। उससे अपनी आजादी, धन के मोल ले जैसे ही मैं सँभली वैसे ही उस संघर्ष के प्रति मुझे आकृष्ट होना पड़ा जो अब चालुक्यों के स्थानापन्न राष्ट्रकूटों ने प्रारंभ किया था। दन्तिदुर्ग ने विजयी होकर भी पल्लव राज को अपनी कन्या ब्याह दी थी जिससे दन्तिग या दन्तिवर्मन् हुआ। परन्तु यह वैवाहिक संबंध क्षण भर के लिए भी उस प्रसर लिप्सा का प्रतिबन्ध न हो सका जिसका ध्रुव और गोविन्द तृतीय ने फिर से प्रारंभ किया। गोविन्द ने तो कुछ समय के लिए मुझ पर पूरा अधिकार ही कर लिया यद्यपि शीघ्र उसके चंगुल से निकल आजाद हो गई। कृष्ण तृतीय ने भी मुझ पर कुछ कम छापे न मारे परन्तु फिर मैं अपनी काया घसीटती ही गई।

इसे मैं काया घसीटना ही कहूँगी क्योंकि मेरा जीवन अब गौरवमय न रह गया था। अब अपने इष्ट देवता से यही मनाती कि मुझ पर विदेशी चोटें न हों और हों तो कम हों। परन्तु मुझमें अब इतनी शक्ति न रह गई थी कि मैं अपने खोए हुए प्रान्तों को लौटा लूँ। फिर अपराजित वर्मन् के शासन काल में तो मेरी स्वतंत्र स्थिति की इतिश्री ही हो गई। चोल नृपति उसी प्रकार दक्षिण की ओर से मुझ पर आक्रमण कर

रहे थे जिस प्रकार राष्ट्रकूट उत्तर की ओर से। और आदित्य प्रथम ने तो पल्लव कुल का सर्वथा नाश करके मुझको सदा के लिए अपने अधिकार में कर लिया। मुझे अब भी याद है कि अकर्मण्य पौरुषहीन पल्लव वंशधर किस प्रकार तब निरस्त्र और विपन्न हो गए थे।

मैं पल्लवों की समृद्धि से फूली-फली थी। उनकी अर्जित शक्ति का केन्द्र होकर मैं जगत में गौरवान्वित हुई थी और निश्चय अपने संरक्षकों का पराभव और सर्वनाश मुझे अप्रिय-लगा। परन्तु राजधानी आखिर कब किसकी हुई है? सदा वह राजनीति में पलटते हाथों में आती जाती रही है। सर्वदा दुर्बल की ओर पीठ कर उसने विजेता स्वामी की ओर रुख किया है। वसुन्धरा वीर भोग्या होती है। जिस वीर में उसे औरों से छीन लेने और अपने अधिकार में रखने की सामर्थ्य होती है उसी की वह सदा से होती आई है। मुझे अपने विपन्न प्रभुओं के क्रोड़ से उठ कर चोलों के अंक में जाते न देरी लगी, न दुःख हुआ। और चोलों ने मुझे कुछ कम गौरव न दिया। उन्होंने भी अपना तोण्डकोण्ड का विरुद धारण कर मुझे उस प्रदेश की राजधानी बनाई। अनेक बार उन्होंने अपनी विजयों से मुझे समृद्ध किया, अनेक बार अपनी पराजयों से भागकर मेरी प्राचीरों में शरण ली। मेरा जीवन वस्तुतः, यद्यपि मैं ऐसा पहले कह चुकी हूँ, समाप्त न हुआ था। उसकी केवल राजनीति बदल गई थी। पहले मैं पल्लवों से राजन्वती हुई। अब चोलों का उत्कर्ष दिन-दिन होता गया।

चोलों के उत्कर्ष के साथ अब मेरे भाग्य बँध गए थे। राजाधिराज और राजेन्द्र चोल ने तो अद्भुत शक्ति अर्जित की, दक्षिण में अनजाने साम्राज्य का विस्तार किया। एक ने सागर के द्वीपों को अपनी नौ सेना के आक्रमण द्वारा जीत लिया, दूसरे ने उत्तर में बंगाल तक मालवा और महाकोशल, महोदय और तिरभुक्ति रौंद बंगाल तक अपनी

तलवार की छाया डाली। जिस मात्रा में चोलों का प्रकर्ष हुआ उसी मात्रा में मैं कीर्ति और शक्ति अर्जित करती गई। पल्लवों ने मुझे राजनीति में दीक्षित किया था, उस दिशा में उन्होंने मुझे प्रतिष्ठा में प्रगति दी थी। चोलों ने मुझे पराकाष्ठा दी। मैं अब अपने चोल स्वामियों की उन्मुखी आज्ञाकारिणी थी, उनकी गर्विणी राजधानी।

ऐसा नहीं कि चोलों का पराभव न हुआ हो, ऐसा नहीं कि उन्होंने दक्षिण की राजनीति में मूर्धाविक्षिक्त हो जाने पर अवनति का मार्ग न देखा हो। असल तो यह है कि मूर्धाविक्षिक्त हो जाने पर अवतरण का मार्ग ही बस शेष रह जाता है और चोल भी कुछ सदियों बाद दुर्बल हो चले। वातापी के चालुक्य तो निश्चय मिट चुके थे परन्तु कल्याणी और वेंगी के अब भी शक्तिमान थे। वेंगी के चालुक्यों ने चोलों की अनेक बार प्रायः वही दशा कर दी जो वातापी के चालुक्यों ने कपल्भी लवों की की थी। अनेक बार उन्होंने मुझ पर अधिकार कर लिया था और अनेक बार मेरे राजाओं को उन्हें कन्या देकर उनका प्रसाद अर्जित करना पड़ा था। एक आध बार तो उन्होंने इसे अपना सूबा भी बना लिया और कालान्तर में तो वेंगी का ही एक राजकुमार जो मेरे एक राजकुल का नवासा था मेरा स्वामी हुआ।

पाण्डयों ने मेरे ऊपर कुछ कम प्रहार न किए। विशेषकर जटा-वर्मन सुन्दरपाण्ड्य की चोट की याद तो मुझे आज भी विचलित कर देती है। पाण्ड्यों और चोलों में भी दीर्घकालिक संघर्ष चला था और अनेक बार मेरे स्वामियों ने मदुरा पर अधिकार कर लिया था। जिस प्रकार कभी मुझमें और वातापी में संघर्ष चला था उसी प्रकार इधर की सदियों में मदुरा के साथ मेरा संघर्ष चला। अन्त में मदुरा जीती और मैं हारी। यद्यपि स्वयं मदुरा का वैभव भी चिरकालिक न हो सका। तेरहवीं सदी में सुन्दरपाण्ड्य ने मुझे लूट लिया था। कुछ काल

बाद अलाउद्दीन खिलजी के उस हिन्दू-गुलाम सेनापति मलिक काफूर ने लूट लिया जिसने नए मुसलमान के नए जोश से इस्लाम का प्रसार और उसकी विजय शुरू की थी। कोयशलों की चोट मुझे अब भी याद थी परन्तु मलिक काफूर ने जो मुझे मारा तो मैं सर्वथा टूट ही गई। मेरे मन्दिरों को जिन्हें वह तोड़ सका उसने तोड़ा और उनके स्थान पर उसने मस्जिदें खड़ी कीं और मेरी हिन्दू सत्ता कुछ काल के लिए मिट गई।

यह मेरा क्रमबद्ध इतिहास है। इसके बाद का मेरा इतिहास बड़े उलट-फेर का है। इस काल बाद मेरी राजनीति कभी दृढ़ और स्थिर न हो सकी। छोटे राजकुलों की चपेट और बड़े विजेताओं की चोटें मुझे बार-बार सहनी पड़ीं। मुसलमानों का विशेष प्रभाव यद्यपि मुझ पर न पड़ा परन्तु उनकी ताकत और हमलों का मजा मुझे कितनी ही बार चखना पड़ा। पिछले काल में मैं अधोगति की पराकाष्ठा को पहुँच गई जब कभी मराठों, कभी मुसलमानों, कभी फिरंगियों ने मुझे अपनी शक्ति का साधक बनाया। मुझे लूटा, और लूट कर कीर्ति अर्जित की। विजित होने से मुझे कभी घृणा न हुई थी, बार-बार मैं विजित भी हुई थी, परन्तु मैं चाहती थी विजेता की शाक्तिक स्थिरता जो मुझे न मिली।

उचित तो यह था कि मैं अपने इतिहास की कहानी यहाँ बन्द कर देती पर ऐसा करने से मैं उस धार्मिक वैषम्य और सांस्कृतिक रहस्य का उद्घाटन न कर पाऊँगी जो मेरी भूमि पर पिछले काल घटे। राजनीतिक सत्ता मुझसे छिन गई थी परन्तु उसके पहले बहुत पहले राजनीतिक प्रतिष्ठा के साथ ही मैंने धार्मिक प्रतिष्ठा भी पाई थी। जैसे राजनीति अर्थ की चेरी है वैसे ही धर्म राजनीति का अनुचर है और धर्म ने अनेक बार मेरे अनुकूल आचरण किया था। वैष्णव और

शैव सम्प्रदाय, जैन और बौद्ध धर्म की ओर जैसे-जैसे मेरे राजाओं की प्रवृति हुई वैसे ही वैसे बने बिगड़े। मेरी नगरी में विशेष प्रतिष्ठा शैव और वैष्णव सम्प्रदायों की हुई। सन्त अप्पर ने जिस शैव धर्म का प्रचार मेरे यहाँ आरम्भ किया था उसकी पराकाष्ठा दो सदियों बाद शंकर ने की। शंकर ने तो यहाँ अपने एक प्रमुख मठ की भी स्थापना की और उसके मठाधीश पिछले शंकराचार्य 'जगद्‌गुरु' कहलाए। उसी प्रकार रामानुज के वैष्णव सम्प्रदाय का प्रभाव भी मेरी नगरी में काफी बढ़ा और उसका मठ भी यहाँ कायम हुआ। उसके मठाधीश शैव मठाधीशों के प्रबल दार्शनिक शत्रु हुए और उन्होंने 'प्रतिवाद भयंकराचार्य' का विरुद धारण किया। दोनों के परस्पर संघर्ष होते रहे जिसमें निश्चय केवल दार्शनिक प्रतिवादिता ही न थी वरन् घृणित ईर्ष्यालु प्रयोग भी थे। राजनीतियों के विकट संघर्ष मैंने देखे थे, उथल, पुथल मैंने भुगती थी पर कभी किसी ने मुझे बाँटने की न सोची। परन्तु इन मठाधीशों ने मुझे सर्वथा बाँट लिया। मैं 'विष्णु-कांची' और 'शिव-कांची' में विभक्त हो गई।

आज मैं साम्प्रदायिक वैषम्य की पीठ हूँ। जहाँ एक ओर मेरे शैवों और वैष्णवों में संघर्ष है वहाँ दूसरी ओर उनमें और मानवता की उस जनसंख्या में है जिसे अछूत कहते हैं। अछूत को मेरे मन्दिर में घुसने का अभी हाल तक अधिकार नहीं ही था। उनसे सवर्ण हिन्दू अपनी छाया भी बचाते थे और अछूतों को अनेक बार उनके आक्रोश से मरण भी स्वीकार करना पड़ा। मेरी नगरी में दिङ्नाग के से मेधावी दार्शनिकों ने चिन्तन किया था, मयूर शर्मन् के से कर्मठ, राजकुल स्थापक ब्राह्मण ने वेदाध्ययन किया था, भारवि और दण्डी से काव्य मर्मज्ञों ने साहित्य सेवन किया था, धर्मपाल से विचक्षण भिक्षु ने आश्रय पाया था। परन्तु फिर भी मेरी नगरी में निरन्तर राग-द्वेष का विचार

चलता रहा। मैं छुआछूत का वह गढ़ बनी जिसकी छाया तक उत्तर की काशी न छू सकती थी। अब मेरी राजनीति बदल गई है, धार्मिक विचारों के वैषम्य भी बदल चले हैं और मैं अब आशा से उन नई जनसत्ताक प्रवृत्तियों की ओर दृष्टि गड़ाए एकटक देख रही हूँ, जो अभी नहीं हैं परन्तु जिनके आगमन की धमक अब सुन पड़ने लगी है और जिनका प्रवेश मेरी नगरी में अब देर का न रहा।
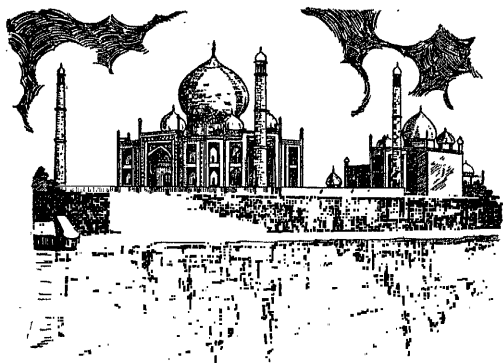
आगरा

मैं आगरा हूँ, हिन्दुस्तान के नगरों में काफी नया। कृष्ण और महाभारत के नायकों के साथ मेरा सम्बन्ध जोड़ा गया है पर कौन समझदार उस पर यकीन करेगा। इसलिए मैं उस सम्बन्ध को अपनी कहानी में न लाऊँगा, और न अग्रसेन तथा अग्रश्रेणियों का ही कोई जिक्र करूँगा जिनसे मेरा ताल्लुक इधर हाल किया जाने लगा है।

पर यह कहना भी कि मुझे सोलहवीं सदी में अकबर या सिकन्दर शाह लोदी ने बसाया कुछ कम गलत नहीं। अपने इस वक्तव्य से मैं उनके बसाने की बात से इन्कार नहीं करता और आखिर नगर और पुराने नगर कितनी ही बार उजड़े बसे हैं, मैं भी एक आध बार उजड़

बस चुका हूँ और मुझे सिकन्दरशाह और अकबर ने भी निःसन्देह बसाया है पर मैं दोनों से पहले का हूँ, काफी पहले का।

अगर ऐसा न होता तो भला पुराने जमाने के तवारीख-नवीस मोहम्मद गोरी द्वारा मेरे लूटे जाने का जिक्र कैसे करते ? हाँ, तो मैं काफी पुराना हूँ, हिन्दुओं के ही जमाने का, यद्यपि हिन्दुओं के और जो अनेक नगर हैं उनकी प्राचीनता का मैं मुकाबला नहीं कर सकता। मेरी पुरानी आबादी के कुछ चिन्ह आज भी जमुना पार नदी के बायें तट पर देखे जा सकते हैं।

मोहम्मद गोरी ने पानीपत का मैदान जीत पहले अजमेर लिया फिर दिल्ली और फिर मेरी बारी आई। मैं भी लुट गया और मुझ पर भी शहाबुद्दीन का अधिकार हो गया। उसके बाद कुतुबुद्दीन एबक दिल्ली के तख़्त पर बैठा, तब मैं गुलाम वंश के अधिकार में आया। वास्तव में दिल्ली के अधिक निकट होने से मेरा इतिहास अधिकतर उसके भाग्य से बँधा रहा है और दिल्ली जिस जिस के कब्जे में गई है उस उस के अधिकार में मैं भी जाता रहा हूँ।

मेरा स्वतंत्र गौरव वास्तव में सिकन्दर लोदी ने ही बढ़ाया। उसके पहले यद्यपि मैं कब का खड़ा हो चुका था और शहर भी कुछ कम छोटा न था मगर मेरी महत्ता कुछ विशेष न थी। बारहवीं सदी के अन्त में मैं अपने लुटने की बात कह चुका हूँ। तेरहवीं सदी में कुछ काल मुझ पर एक राजपूत घराने का अधिकार रहा। यद्यपि मैं स्वतंत्र न था और मुझे अपनी आय का एक भाग दिल्ली को देना पड़ता था।

उसी सदी के अन्त में हिन्दुस्तान पर तैमूरी हमले की बिजली गिरी। तुगलकों का सितारा कब का डूब चुका था और उसके कठपुतली से बादशाह दिल्ली और कन्नौज में अपने दर्बार लिए बैठे थे। दिल्ली शहर की आधी दर्जन बस्तियों के भीतर ही करीब दस मील के अन्दर दो

तुगलक बादशाह गद्दी पर थे। उन्हीं के जमाने में वह बिजली दिल्ली पर पड़ी और उसने उसे तबाह कर दिया। चार दिनों दिल्ली लुटती रही पर मेरी जान बच गई और तैमूर उत्तर ही उत्तर मेरठ और हरद्वार को बरबाद करने चला गया।

सय्यदों का साया कुछ ताकत का साया न था। नबी के नाम पर उन्होंने अपना रुतबा बढ़ा रखा था। पैगम्बर के वंशज होने का वे दावा करते थे और इसी बुनियाद पर उन्होंने अपना कुछ प्रभाव भी बना रखा था। खिज्र खाँ ने उस बादशाहत की बदनसीबी में दिल्ली के तख़्त पर अधिकार कर लिया पर वह खुद सल्तनत को सँभाल न सका और सल्तनत भी क्या थी दिल्ली के आसपास के इलाके बरायनाम।

सय्यदों को उखाड़कर पठानों ने दिल्ली में अपने कुल की प्रतिष्ठा की। लोदी अफ़गानिस्तान के पहाड़ी पठान थे और हिन्दुस्तान में कुछ दिनों से जम गए थे। दिल्ली में तो उनका दबदबा था ही बंगाल और बिहार में वे कुछ कम ताकतवर न थे। आखिरी तुगलक बादशाह से पहले राजदण्ड जिस व्यक्ति ने छीना था, वह लोदी ही था, दौलत ख़ाँ लोदी। पर तब शहर में बड़ी उथलपुथल थी और दौलत का स्वप्न भंग हो गया। सय्यदों ने कुछ काल के लिए बादशाहत अपने हाथ में कर ली। अब मौका पाकर लोदी अमीर फिर उठे और उनके सरदार बहलोल खाँ ने दिल्ली के साथ ही मुझ पर भी कब्जा कर लिया।

बहलोल सूझ और शक्ति का बादशाह था, खूंखार और क्रूर भी। वैसे तो दिल्ली के तख्त पर बैठने वाले बादशाहों में पठानों का स्थान शासन की सख्ती और योग्यता के सम्बन्ध में बराबर लिया गया है और यद्यपि उनमें शिष्टता और संस्कृति की कमी थी, पढ़े-लिखे भी वे कम ही होते थे पर उन्हें किसी ने कमजोर कभी न कहा और जब वे तख्त

पर बैठे तो काफी जमकर बैठे। खिलजी, तुगलक, लोदी, और पीछे आने वाले सूर सभी एक से एक ताकत के परकाले थे।

बहलोल ने गद्दी पर बैठते ही पहले तो दिल्ली को आसपास के खतरों से खाली किया फिर वह पड़ोस के प्रदेशों पर झुका। हालत बड़ी नाजुक थी। दिल्ली के बाहरी फाटक तक पहुँचने वाली सड़कों पर दिन दहाड़े डाके पड़ते थे और खुद बादशाह का बगैर पूरी फौज के बाहर निकलना खतरे से खाली न था। बहलोल की सख्ती ने न केवल दिल्ली के आसपास की सड़कों को डाकुओं से खाली कर दिया बल्कि पास के इलाके भी अब पूरे पूरे उसकी मुट्ठी में आ गए। कन्नौज, दोआब वगैरह धीरे धीरे उसने अपने अधिकार में कर लिए।

सिकन्दर लोदी उसी बहलोल का बेटा था। सिकन्दर लायक और वीर था। दिल्ली के अनेक स्वतंत्र सूबे उसने अपने कब्जे में किए और उसी के जमाने में पहले पहल मुझे सल्तनत की राजधानी होने का गौरव मिला। मेरे शहर में दिल्ली के खिलाफ बगावत का झण्डा खड़ा हुआ। मुझमें दिल्ली की मुखालफत करने की ताब तो न थी पर बहलोल के मरने पर और सिकन्दर के दूसरी ओर व्यस्त रहने पर मैंने जरूर एक बार खड़े होने की कोशिश की पर मेरा शहर हमेशा से बनियों का शहर रहता आया है और गढ़ जीतने के अरमान भीतर ही भीतर अक्सर पस्त हो गए।

सिकन्दर ने अपने मजबूत हातों से मेरा विद्रोह कुचल दिया और दिल्ली की कमजोरी और दयनीय दशा से ऊब कर उसने अब मेरे ही नगर में बसना पसन्द किया। आया तो था वह केवल विद्रोह दबाने पर मैं उसे भा गया और उसने यहीं पर अपना गढ़ बना लिया। बादल-गढ़ के नाम से मेरे शहर में जो खण्डहर हैं वे सिकन्दर लोदी के ही महलों के अवशेष हैं। मेरे नगर में उसने गढ़ बनाया, महल खड़े किए

परन्तु आज उसकी कोई इमारत यहाँ नहीं बची और सिवा सिकन्दरा में उसका नाम ध्वनित होने के सिवा ऐसा कुछ भी मेरे शहर में आज नहीं जो उस मुसलिम जमाने में मेरे पहले बसाने वाले की याद दिलाए।

इब्राहीम लोदी उस वंश का आखिरी बादशाह था और अधिकतर मेरे ही नगर में वह डेरा डाले रहता। लोदी अक्सर रहे तो हमारे नगर में मगर वे दफ़नाए दिल्ली में ही गए और इब्राहीम ने तो अपनी आखिरी लड़ाई भी दिल्ली में ही लड़ी बाबर के खिलाफ जिसने पानीपत के मैदान पर इब्राहीम को मय उसके पन्द्रह हज़ार सेना के सुला दिया। उसके पहले भी मेरी कुछ महत्ता बढ़ चुकी थी क्योंकि एक जमाने तक मैं मेवाड़ के राणा साँगा और इब्राहीम लोदी की सीमा बना रहा था। इब्राहीम को मेरे ही मैदानों में राणा ने दो दो बार हराया था और अगर वह जिम्मेदारी लेने से न घबड़ाता तो यह निश्चय था कि मैं दिल्ली के साथ उसके अधिकार में चला जाता। और यह कुछ कम महत्व की बात नहीं कि उसी राणा और दौलत खाँ लोदी के आमन्त्रण से बाबर हिन्दुस्तान आया और उसने पानीपत के मैदान में इब्राहीम को और मेरे पास ही सीकरी के मैदान में राणा को परास्त कर मुगल साम्राज्य की नींव डाली।

सीकरी की लड़ाई जो मेरे शहर के बाहरी मैदान में ही हुई थी मुझे आज भी याद है। दुनिया की सबसे आश्चर्यजनक और भयानक लड़ाइयों में से सीकरी की लड़ाई थी। सीकरी का मैदान राणा और उसके राजपूतों के हाथ से निकल गया परन्तु निसन्देह वहाँ उन्होंने साहस और शौर्य के खम्भे खड़े कर दिए। मुगल साम्राज्य की नींव फिर पड़ गई और उसे डाला बाबर ने। पर वह नींव दिल्ली में न पड़ी मेरे नगर में पड़ी। मुझे इस बात का फ़ख्र है कि लगातार दो सदियों तक जिस तैमूरिया खान्दान ने हिन्दुस्तान पर जमकर हुकूमत की

और जिसके बादशाहों का शुमार दुनिया के महान बादशाहों में होता है, उसकी नींव पहले मेरे ही नगर में पड़ी।

बाबर को दिल्ली तनिक न भाई। हिन्दुस्तान का कोई शहर उसे अच्छा न लगा। और सच पूछिए तो मैं भी कुछ खास उसे पसन्द न आया अगर किसी शहर को उसने अपने रहने लायक समझा तो केवल मुझे। जमुना के रवाँ पानी ने उसे अपनी ओर खींचा और उसी मैदान में जिसके सामने आज ताज खड़ा है अपने महलों के बल्ले गाड़े। वह महल अब न रहा। उसकी बुनियाद भी उखड़ गई पर मेरे नगर के चारों कोनों पर जो उसने चार बाग लगाए उनमें से दो रामबाग और जोहरा-बाग आज भी किसी न किसी दशा में खड़े हैं। जोहराबाग वास्तव में उसकी किसी अमीर की बेगम ने लगवाया था। इन सब बागों में बाबर को विशेष प्यारा चार बाग था जिसके लगाने में उसने खुद बड़ी मेहनत की थी मगर आज उसका पता नहीं।

बाबर अपने संस्मरणों में लिखता है कि हिन्दुस्तान बड़ा उजड़ा सूखा देश है, यहाँ के लोगों में इख़लाक नहीं, शिष्टता नहीं, भाई-चारा नहीं। मैदानों में खाक उड़ती है, आग बरसती है—दोनों को दूर करने का बस एक जरिया है स्नान, और उस स्नान के लिए वहाँ कोई साधन नहीं। काबुल की आबहवा उसे बार बार याद आती रही। उसके बाग और अपानगोष्ठियाँ वह कभी भूल न सका और बार बार अपने संस्मरणों में वह ललच कर उनका बयान करने लगता है। मेरे नगर को उसने काबुल के से ही चमनों से सजाना चाहा और सजा भी दिया। गुलाब की क्यारियों से मेरे शहर में उसके लगाए हुए बाग भर गए जिनमें फव्वारों और पत्थर की नालियों में बहने वाले शीतल जल का स्पर्श वायु की उष्णता शांत करने लगा।

अपने बगीचों में और बाहर उसने अनेक तालाब भी खुदवाए

जिनके किनारे ऊँचे पेड़ों की घनी छाया में अपनी लड़ाइयों की थकान वह मिटाता, दोस्तों से बातचीत करता, अपने संस्मरण लिखता और शायरी सुनाता। अब मैं उसकी दानिश में इस लायक हो गया था कि वह अपनी लड़ाइयों से फ़ुरसत पा कुछ दिन वहाँ दम ले सकता था, रम सकता था, पर वह ज्यादा दिनों जिन्दा न रह सका। मेरे ही नगर में उसके चारबाग के उस कुंज में जहाँ अक्सर वह अपने रोमांचक संस्मरण लिख चुका था उसने अन्तिम साँस ली। काबुल के उस सुन्दर शीतल बगीचे में वह दफ़नाया गया जिसे उसे अपनी आखिरी और अनन्त नींद के लिए कभी से चुन रखा था।

बाबर के बाद हुमायूँ गद्दी पर बैठा और उसने कभी दिल्ली में, कभी मेरे शहर में दर्बार किया। आखिर वह बाप का बेटा था और बाप को क़ाबुल के बगीचे आमरण कभी न भूल सका था बल्कि इसी मेरे शहर में उसने एक छोटा काबुल ही आबाद कर देना चाहा था। बेटे को भी काबुल पसन्द था और उसका आराम अगर कुछ उसे मिल सकता था तो बस मेरे ही नगर में जिसे शीतल और सुखद बनाने की बाबर ने इतनी कोशिश की थी।

हुमायूँ आरामपसन्द बादशाह था। बाबर की जिन्दगी तो लड़ाइयों और उनकी हार जीत से भरी थी, फरगना से बिहार तक उसने तलवार चलाई थी और इस लम्बे भूखण्ड पर कितनी ही बार उसके जान के लाले पड़ गए थे। खुद हुमायूँ की ज़िन्दगी भी कुछ बहुत आराम की न थी मगर बाप की सी सख्तियाँ उसे न झेलनी पड़ीं। हाँ, हिन्दुस्तान से जब उसे भागना पड़ा तब सिन्ध और मारवाड़ की मरुभूमि में वह जरूर कुछ दिनों भटकता रहा था। फिर भी विलास के प्रति वह कभी उदासीन न हो सका और अक्सर हुकूमत का काम नुकसान करके भी वह अपान गोष्ठियों में शामिल हो लेता। बड़ी लड़ाइयों के पहले

और पीछे, विशेषकर पीछे तो वह निश्चय शराब की चुस्कियाँ भरता, अफीम की पीनक में मदहोश हो जाता। गुजरात और मालवे के कठिन मोर्चों से जब वह लौटा तो उसने मेरे शहर में बड़ी रंगरेलियाँ कीं। पड़ाव में खूब जशन हुए, मेरी रातें धूप छाए दिन की तरह चमक उठीं और नगर का कोना कोना गाने बजाने की आवाज से गूंज उठा और वह तब जब उसका वह बेढब खतरा शेरशाह चुनार पर कब्जा किए बिहार के आसमान पर मेघ सा छाता चला जा रहा था!

गौड़ में भी हुमायूँ ने कुछ कम ऐश न किया। चुनार से वह शेरख़ाँ को भगा चुका था, गौड़ वह जीत चुका था पर वह वहाँ इस कदर जम कर बैठा जैसे दुनिया उसके कदम से लिपट पड़ी हो, जब बिहार का वह अफ़गान उसका नाका नाका बन्द किए जा रहा था, कन्नौज तक की जमीन पर उसने कब्जा कर लिया था।

और हुमायूँ जो अब लौटा तो चौसा में मार खाकर, भागकर वह दिल्ली पहुँचा और सेना भरती करने के लिए मेरे नगर में भी आया पर कन्नौज में जो उसने बिना लड़े पीठ दिखा दी तो दर दर की खाक छान हिन्दुस्तान छोड़ उसे ईरान में ही पनाह लेनी पड़ी। लौटा तो वह जरूर पर मेरे यहाँ न लौटा, दिल्ली लौटा और कुछ ही दिनों बाद महल की सीढ़ियों से फिसलकर वह जो गिरा तो फिर न उठा।

इधर उसके बाहर जाने पर जिस बादशाह ने हिन्दुस्तान पर कब्जा किया वह अपनी ताकत, शान, सिपाहियाना रोब और हुकूमत की काब-लियत में लामिसाल था। बिहारी अफगान उस शेरशाह की याद मुझे बराबर बनी रहेगी जिसने दिल्ली छोड़ मुझे अपनी राजधानी बनाया। इससे पहले का एक किस्सा जो मुझे याद आता है मेरे मन को बेकाबू कर देता है। अवध की लड़ाई में एक बार शेर खाँ बाबर से आ मिला था। बाबर आदमी को पहिचानता था और उसने उस पठान सरदार को

सेना का संचालन करते देखा था। उसकी सूझ और अक्ल का लड़ाई के मैदान में बाबर पर वह असर हुआ कि उसे फरगना के भूले मैदान और अपने जीतने वाले दुश्मनों के पैंतरे याद आ गए। उसने शेरखाँ को दावत के लिए बुलाया। दावत मेरे ही महलों में हुई। बाबर और हुमायूँ के बीच शेर बैठा और सामने दस्तरखान को घेरे मुगल उमरा बैठे। मुगल दावतों में जो तहजीब बरतते थे वह गजब की थी और उसकी तैयारियाँ भी गजब की होती थी। शेरखाँ सख्त पठान था, बिहारी पठान और ससराम की निर्मम, कठोर और अकृत्रिम वातावरण में पला था। मुगलिया तहजीब उसकी जानी न थी। बेपर्दा सिपाही आलिम था पर दिल्ली के अमीरों के कायदे उसके जाने न थे। सामने जो शीरमाल रखा गया और उसके पास छुरी, काँटे, तो देहाती पठान एक बार तो कुछ सहमा परन्तु तुरत प्रकृतिस्थ हो गया। अमीरों की आँखें, बादशाह और उसके बेटे की आँखें भी उस ही पर लगी थीं कि वह किस तरह दावत में आचरण करता है, किस तरह काँटे, चम्मच और छुरी चलाता है पर उनको शेरखाँ ने हँसने का मौका न दिया। ताज्जुब से उनकी आँखें फैल गईं जब उसने एकाएक कमर से कटार निकाल ली और उससे शीरमाल के कई टुकड़े कर दिए और चुपचाप बिला किसी झेंप के उसकी नोक पर बारी बारी से टुकड़े उठा वह खाने लगा। दावत खतम हुई और बाबर ने हुमायूँ को अलग लेजाकर कहा, बेटे होशियार रहना इस पठान से। अपना काम सर करने के लिए यह कोई जरिया उठा न रखेगा!

हुमायूँ को शेरशाह के सम्बन्ध की बाबर की कही बात की सचाई न देनी पड़ी। उसकी सचाई उसने खुद भुगत कर जानी। वही शेरशाह अब मेरी गद्दी पर था। कुल पाँच साल वह जिन्दा रहा पर उस बीच उसने मालवा, गुजरात, पंजाब, सिन्ध, बंगाल, बिहार और राजपूताने

के एक बड़े हिस्से पर अधिकार कर लिया। पहली बार हिन्दुस्तान में मुस्लिम हुकूमत की लम्बे दौरान में तख्त पर एक आदमी बैठा जिसे अक्ल थी, जिसमें ताकत और हुकूमत की सूझ थी। शेरशाह सा लड़ाका और शासन की व्यवस्था में निपुण अगर कोई दूसरा आगरे-दिल्ली के तख्त पर बैठा तो वह केवल अकबर, और नहीं। काश वह कुछ साल और बचा रहता।

शेरशाह के जमाने की अलावल-बिलावल नाम से प्रसिद्ध इमारत अच्छी बुरी हालत में आज भी मेरे नगर में खड़ी है—प्रायः उसी हालत में जिसमें उसके बेटे का सलीमगढ है। फिर भी सलीमगढ़ एक महल के आकार में खड़ा हुआ है, किले के रूप में। सलीमशाह भी जब तक जिया मेरे ही नगर में जमा रहा और यहीं उसने अपनी आखिरी साँस ली।

शेरशाह का स्थापित सूर राजकुल कुछ ही दिनों बाद उखड़ गया। उस कुल के नालायक राजपुरुष परस्पर लड़ने लगे। इब्राहीम और सिकन्दर आदिल और मोहम्मद सभी निकम्मे थे और उनके किए कुछ न हो सका। सिकन्दर ने सरहिन्द में हार कर दिल्ली हुमायूं के हवाले कर दी। बंगाल, बिहार की ताकत एक करता पठानों की फौज में बिहारियों की हरावल आगे किए पराक्रमी विक्रमाजीत हेमू हुमायूँ के मरने पर दिल्ली की ओर बढ़ा। मेरी हालत कुछ दिनों से उखड़ी उखड़ी हो रही थी और मुझे यह मुनासिब भी न जान पड़ा कि कमजोर हाथों तलवार पकड़ने वाले बुजदिल शाहजादों की हिमायत करूँ और मैंने उस बीर-विक्रम हेमू को चुपचाप आत्मसमर्पण कर दिया। मेरे महलों में विश्राम कर वह नर पुंगव पानीपत की ओर बैराम खाँ और अकबर के विरुद्ध बढ़ा। राह में उसने दिल्ली पर कब्जा कर लिया पर पानीपत के मैदान में उसकी किस्मत ने पाँसा पलट दिया और वह मारा गया। तेरह साल की उम्र

में अकबर दिल्ली की गद्दी पर बैठा। बैठा तो वह दिल्ली की गद्दी पर, परन्तु कुछ ही दिनों बाद वह मेरे नगर में ही आ गया और अपने दादा बाबर की ही भाँति उसने भी यहाँ के सुहावने बागों में डेरा किया। पहली बार उसने ही मुझे उस रूप में बसाया जिस रूप में मैं आज खड़ी हूँ। मेरा लाल किला उसी की देन है और उसके भीतर के महल का वह भाग जो जहाँगीरी महल कहलाता है उसीने खड़ा किया था। पश्चिम हिन्दुस्तान की शैली में कटी लकड़ी की जाली की नकल मेरे उस जहाँगीरी महल में हुई।

सहन, हाल, कमरे सब तो सहन के चारों ओर खड़े हुए। मगर इतना जरूर कहूँगा कि मुझसे भी ज्यादा राग अगर अकबर ने उस सीकरी पर बरसाया जो मेरी आँखों के सामने ही खड़ी हुई। वह जितनी ही बाबर और साँगा की भयानक लड़ाई और मुगलों की जीत की याद दिलाती है उतनी ही उस सलीमशाह की जिसके आशिर्वाद से सलीम पैदा हुआ और उतनी ही उस विफल प्रयत्न की भी जिसमें सल्तनत के कोई साधन प्रयोग में लाने से अकबर ने उठा न रखा। फतहपुर सीकरी का किला और उसकी नायाब इमारतें वास्तु में अप्रतिम होकर भी विफल मनोरथ की अद्वितीय दृष्टान्त हैं।

मेरे सामने ही सीकरी के महल खड़े हुए, मेरे सामने ही वे उजड़ भी गए और मैंने सन्तोष की साँस ली। जब वह बनने लगी तब मुझे कुछ कम ईर्ष्या न हुई थी। भला अपनी सीमा के भीतर ही प्रतिद्वन्द्वी का खड़ा होना कौन पसन्द करेगा? पर सीकरी देखते ही देखते उजड़ गई और उसे मरते दम पानी तक न मिला। हाँ, उसके उजड़े महल आगे घटने वाले कितने ही रोमांचक और रहस्यमय अफसानों के कारण हुए। जहानआरा और छत्रसाल के मूक प्रणय-संवाद सीकरी की दीवारों में आज भी बसे हैं।

सीकरी छोड़ अकबर फिर मेरे महलों को लौटा और यहीं उसने अपनी अन्तिम साँस ली। अकबर हिन्दुस्तान में राज करनेवाले बादशाहों में अशोक को छोड़ सबसे महान् था। उसकी कीर्ति हिन्दुस्तान की सीमाओं को लाँघ दूर-दूर तक जा पहुँची। इंगलैण्ड के बादशाह तक ने अपने अंग्रेज प्रतिनिधि उसके दर्बार में भेजे यद्यपि वे उसके जीवन काल में न पहुँच सके। अकबर और शेरशाह के से दो बादशाहों का निवास अपने प्राचीरों के भीतर पाकर मैं फूला न समाया।

जिस सलीम की हिन्दू माता जोध बाई को सलीमशाह के आशीर्वाद की छाया में रखने के लिए फतहपुर सीकरी के महल खड़े हुए थे वही अब जहाँगीर के नाम से बाप के मरने पर मेरी गद्दी पर बैठा। वैसे तो वह भी कभी लाहौर, कभी काबुल और कभी काश्मीर में अपने दर्बार करता पर गद्दी उसने भी अपनी मेरे ही नगर में रखी, मेरे ही महलों में, बाप के बनवाए लाल किले के भीतर। जहाँगीर मेरे ही महलों में गयासबेग की बेटी महरुन्निसा पर मुग्ध हो गया था। यहीं उसने उसके साथ कबूतर उड़ाए, जवानी के जोश में उसे अनेक बार छेड़ा और यहीं बाप की दस्तन्दाजी से उसके स्वप्न के तार बिखर गए थे जब उसकी प्रेयसी वर्दवान के गवर्नर शेर अफ़गन से ब्याह दी गई थी पर सलीम न अपने स्वप्नों को भूल सका और न महरुन्निसा को। क्रुद्ध कर वह बाहर निकल गया और जब बाप के लम्बे जीवन से ऊब गया तब उसने बागी होकर उसके प्रियजनों का कत्ल कर उसके बुढ़ापे के जीवन को भी दुखी करना शुरू किया। फिर जब वह गद्दी पर बैठा, शेर अफगन को मार उसने अपनी महरुन्निसा को छीन लिया और मेरे महलों का नूर बना वह उसे यहीं रखने लगा। चार साल तक नूरमहल ने जहाँगीर के साथ न बोलने, उसकी ओर न देखने तक का नाटक किया। फिर वह उसकी मलका बनी और नूरजहाँ के नाम से प्रसिद्ध हुई। मेरे किले में

जहाँगीरी महल में ही वह सम्मनबुर्ज है जो उसी नूरजहाँ की बताई डिजाइन से बना था और जिसमें वर्षों उसने मलका की हैसियत से देश पर हुकूमत की।

जहाँगीर आरामपसन्द, पियक्कड़ और क्रूर था। तीनों में नूरजहाँ ने अपने प्रभाव से उसे माफिक किया और उनमें सादगी बर्तने के लिए उसे मजबूर किया। किले के भीतर मैंने दीवाने बादशाह को अपनी खूबसूरत मलका को बैलगाड़ी पर बिठाकर खुद हाँकते देखा। और मेरी ही टकसाल में नूरजहाँ की शक्लवाले वे सिक्के भी ढले जिनमें खुदा कि नूरजहाँ की शक्ल लिए होंने की वजह से सोने की कीमत बढ़ गई है। और निश्चय उन सिक्कों की कीमत बढ़ गई।

मेरे ही महलों में जेम्स के भेजे अंग्रेजी राजदूत आए। सर टामस ने जहाँगीर के दर्बार में यहीं उसकी कृपा की भिक्षा माँगी और इस देश में पहली ईंटें फेंकीं जो आगे दूर के जमाने में अंग्रेजी राज की नींव की ईंट बन गई। इन्हीं महलों में पीता पीता बेहोश हो जाता और उठाकर पलंग पर ले जाया जाता। यहीं मुगल कलम के गजब के चित्रकार, उस्ताद और बसावन हुए जिनके द्वारा यूरोपीय तस्वीरों की नकल करा, असल नकल को एकसा कर जहाँगीर सर टामस रो को चकित कर दिया करता था। यहीं राजपूतों के कितने बाँके सर्दारों ने जीहुजूर दर्बारियों को मौत के घाट लगा दिया था। जहाँगीर अपनी जिन्दगी में चल बसा यद्यपि उसकी पूरी जिन्दगी उसके बेटे खुर्रम ने उसे जीने न दिया। उसके अनेक वर्ष उसने अपनी बगावत से कम कर दिए। जब जहाँगीर मर गया तब नूरजहाँ को लाहौर भेज शाहजहाँ के नाम से खुर्रम गद्दी पर बैठा।

अकबर और शेरशाह महान् थे। उनके सम्पर्क से मैं भी महान् हुआ पर भेद की बात अगर कोई मुझसे पूछे तो मैं कह सकता हूँ कि शाहजहाँ

सा प्यारा मेरा कोई न हुआ। शाहजहाँ ने जिन इमारतों की मेरे किले में और बाहर परम्परा खड़ी की उनकी प्रशंसा में मैं क्या कहूँ, उन अटूट आने वाले पर्यटकों ने की है जिन्हें मेरे ताज और मोती मस्जिद ने बार बार आकृष्ट किया है। ताज जिसे बीस हजार मजदूरों ने बाईस साल में बनाया था, जिस पर करोड़ों रुपये खर्च हुए थे अपनी खूबसूरती में दुनिया में सानी नहीं रखता। शाहजहाँ के चौदह बच्चों की मा उसकी अप्रतिम प्रेयसी आरजूमन्द बेगम बानू मुमताज महल के नाम से प्रसिद्ध हुई और जब वह मरी तो उसके शान्तिमय आवास को गौरव देने के लिए शाहजहाँ ने यह अद्भुत मकबरा खड़ा किया।

शाहजहाँ ने दिल्ली का किला भी बनवाया था। वहाँ उसने दर्बारे आम और खास भी खड़े किए थे और उसके बाहर दुनिया की सबसे बड़ी जामा मस्जिद भी बनवाई पर उससे उसका जी न भरा और उसने यहाँ भी जामा मस्जिद बनवाई। किले में दीवाने आम और खास खड़े किए और वह अचरज की मोती मस्जिद जो नजाकत के खम में मस्जिदों में लामिसाल है। खास महल की रौनक का तो बयान नहीं किया जा सकता जिसके पत्थर, जिसके बेशकीमत रत्न, जिसके लामिसाल कटान अपनी मिसाल आप हैं। अंगूरी बाग के फव्वारों के सीकरों से नम हवा की ताजगी अब उस हवा में कहाँ जो शाहजादियों की दबी कराह से बोझिल है। उसी बाग के सहन में उन शाहजादियों ने अपने प्रणय के तार बुने थे जिनको किसी से विवाह करने का अधिकार न था पर जिनके प्रणय को सफल करने के लिए हजार-हजार बाँदियाँ, हजार-हजार खोजे हाथ बांधे खड़े रहते थे!

बीच में कई कारणों से शाहजहाँ मेरे नगर से अपना तख्त और दर्बार दिल्ली उठा ले गया पर जब धर्मात् की लड़ाई में उसके तीसरे बेटे औरंगजेब ने उसके प्यारे दारा को परास्त कर दिया तब जईफ शाहजहाँ

फिर मेरी शरण आया पर फिर भी उसका जीवन दुखमय ही चला था। उसे याद आई उन दिनों की जब उसने खुद बाप से बगावत कर उसका जीना मुश्किल कर दिया था और अन्त में जिसे उसने कैद तक कर लिया था। वह दिन दूर न था जब उसे अपने बेटों के हाथ खुद कैद होना पड़ा क्योंकि जिस दक्कन के आधार से वह स्वयं कभी कभी अपने बाप के खिलाफ उठा था औरंगजेब भी वहीं से उसके खिलाफ उठा और सूबे पर सूबा जीतता मेरे नगर के बाहर सामूगढ़ में आ खड़ा हुआ। सामूगढ़ की लड़ाई सल्तनतों की शक्ल बदल देने वाली लड़ाइयों में से एक है। उस मैदान में अपनी भागती हुई सेना के बीच औरंगजेब ने अपने भागते हुए हाथी के पैरों में जंजीर डलवा दी थी और जंजीर ज़मीन में गाड़ दी थी ताकि हाथी भाग न सके। उसी लड़ाई में उसने शाहजहाँ के प्रिय बेटे दारा को कुचल दिया था और मैदान जीत वह सहसा मेरे किले के सामने अपने सर्दारों के साथ मुराद को पीछे किए आ खड़ा हुआ। शाहजहाँ ने अपने खास खोजे को भेजा और कहलाया कि औरंगजेब आगरा छोड़ कर चला जाय। पर बेटा आखिर बाप का था और उसने हुक्म मानने से यह कह कर इन्कार कर दिया कि बादशाह जिन्दा नहीं, हुक्म जाली है। और वह अपने बेटे मुहम्मद को कुछ मतलब की बातें समझा खुद महल घेरे खड़ा रहा। मोहम्मद ने बादशाह को बन्दी कर लिया और बादशाह ने जमाना बदला जान कमबख्ती मंजूर कर ली। आगरा में, दिल्ली और लाहौर में, अनेक-अनेक सर्दार ऐसे थे जो शाहजहाँ की फय्याज़ी से उपकृत हुए थे पर किसी ने उसके बचाव की कोशिश न की, एक परिन्दे ने उसकी ओर से पर न मारा।

शाहजहाँ अपनी प्यारी बेटी जहानआरा के साथ सात साल अपने ही किले में अपने ही बनवाए महलों में कैद रहा, जहाँ उसने अपने विलास के अनन्त साधन भोगे थे, अपनी समृद्धि के अनेक स्तम्भ खड़े

किए थे। शाहजहाँ के रोब की ऊँचाई का बादशाह मेरे महलों में कैद हुआ। मैं दंग था। और हाँ, वह कैद भी कुछ आसान न थी। यह सही है कि औरंगजेब बाप को आराम देने के लिये बड़ी तत्परता दिखाता था परन्तु शाहजहाँ के अनेक क्षण निःसन्देह ऐसे भी बीते जब वह जिन्दगी से ऊब गया। मशहूर भी है कि एक बार उसने खीझ कर कहा—"हिन्दुओं को गुलाम कहा जाता है, यह गुलाम भी तुझसे अच्छे हैं जो अपने मरे बाप तक को पानी देते हैं, पर बेटे तू तो अजब मुसलमान हैं जो जिन्दा बाप को पानी बगैर तरसाता है!" पानी, जिसकी शाहजहाँ को हसरत थी जमुना का था। जमुना ने भी शाहजहाँ की वह बिलखती आवाज सुनी और चुपचाप अपनी राह वह बहती रही। उसमें भी आलमगीर के डर से इतनी हिम्मत न हुई कि वह एक बूँद महल के भीतर उछाल दे।

शाहजहाँ यहीं मरा, अपने ही महलों में और तब तक, सात साल, औरंगजेब मेरे ही आधार से सल्तनत पर हुकूमत करता रहा। मेरे ही नगर में उसने अपने आगे के जीवन का सविस्तर खाका खींचा और अपने लम्बे जीवन में उसको चारितार्थ करने का उसने प्रयत्न किया। बाप के मरने पर वह दिल्ली चला गया। मेरा अवसान शाहजहाँ की कैद से ही शुरू हो गया था और मैं निरन्तर नीचे गिरता गया। औरंगजेब के बाद उसके वंशजों ने अनेक बार मेरे ही महलों में दर्बार किया। फरुर्खसियर मेरे ही किले में मरा।

अगले दिनों दिल्ली के तख्त के लिए जो बीसियों शाहजादे खड़े हो गए उन्हीं में वह हुसैनअली खाँ भी था जिसने नगर और मेरे महलों को तो लूटा ही, ताज के भीतर की नूरमहल की कब्र ढाँकने वाली मोतियों की चादर तक उसने न छोड़ी। नूरजहाँ और नूरमहल के जवाहरात अब भी मेरे मलहों में संचित थे उनको भी उसने लूट लिया। शहर-

की लूट मुझे शाहजहाँ की उस लूट की याद दिलाती है जब अभी वह खुर्रम था और जहाँगीर के जिन्दा रहते उसने मेरे शहर पर छापा मारा था।

फिर मुझे ईरान के नादिरशाह ने लूटा जिसने चार ही दिन पहले दिल्ली को बरबाद कर दिया था। मोहम्मदशाह से जो कोहनूर उसने ले लिया था और जिसकी कीमत जानकारों ने दुनिया का रोज का आधा खर्च आँका है पहले पहल हुमायूँ को मेरे ही नगर में मिला था। मेरे ही महल में ग्वालियर के उस राजा का खान्दान टिका था जो इब्राहीम लोदी के साथ पानीपत के मैदान में मारा गया था और जिसके खान्दान को हुमायूँ ने रहमत बख्शी थी। इस उपकार के बदले राजा के कृतज्ञ बेटे ने हुमायूँ को कोहनूर दे दिया था।

फिर मराठों ने मुझे लूटा और प्रायः तीस वर्षों तक वे मुझ पर अपना अधिकार जमाए रहे। पानीपत के मैदान में अब्दाली ने जब उनकी ताकत तोड़ दी तब उनका पंजा मुझ पर ढीला पड़ा। भरतपुर के जाटों ने भी मुझे बुरी तरह लूटा। मेरे महलों के कीमती पत्थर उन्होंने निकाल लिए और मेरे ताज तक के चाँदी के किवाड़ निकाल कर पिघला दिए। जाटों की इस लूट में उस आधे फ्रेन्च आधे जर्मन वाल्टर रीनहार्ट ने भी काफी मदद की जो इस प्रकार के कामों के लिए सदा कमर कसे रहता था और जिसने अभी हाल के लहूलोहान में यश कमाया था।

१८५७ के गदर में मैंने कुछ विशेष भाग न लिया यद्यपि मेरे नागरिकों ने भी जेल तोड़ कैदी रिहा किए, अंग्रेजों को मारा और उनकी कचहरियाँ जला दीं और फिर वे दिल्ली के बागियों से जा मिले।

बाद का मेरा इतिहास कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखता। मैं अब भी जिन्दा हूँ और चुपचाप जमाने की रफ्तार देख रहा हूँ। मैंने अपनी

जिन्दगी में दिल्ली या पाटलिपुत्र की तरह कुछ खास न देखा, न मैं इतना बड़ा कभी हुआ ही। पर मैंने भी कुछ देखा है और जा देखा है वह बिना किसी बनावट के कह दिया है। मेरी सादगी जमुना के बहते पानी के पास खड़ी उस ताज की सादगी है जिसमें दुनिया की ऊँची इमारतों की बुलन्दी तो नहीं पर शांति की सदा जरूरी है।
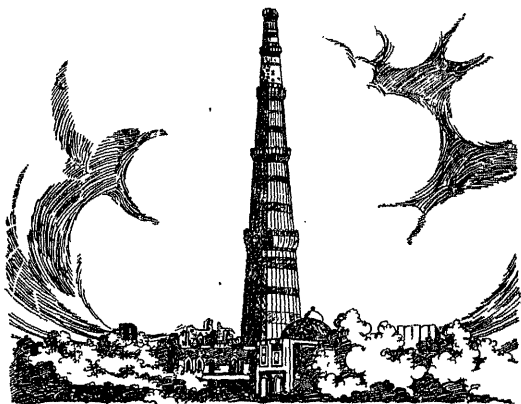
दिल्ली

मैं दिल्ली हूँ, सल्तनतों की खण्डहर। मुझे हिन्दू, मुसलमान, अंग्रेज तीनों ने भोगा है और अप्सराओं की कान्ति की भाँति मेरी कान्ति सदा दमकती रही है। दस-दस राजकुलों ने मुझे अपनी ताकत, प्यार और लाड़ से पाला और सजाया है। प्रतिहार, गहड़वाल, चौहान, गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैय्यद, लोदी, सूर, मुगल और अंग्रेज बारी-बारी मेरी जमीन के स्वामी हुए हैं और उन्होंने अपने-अपने समय मेरे केन्द्र से हिन्दुस्तान की मुस्कराती जमीन को भोगा है, उसे उजाड़ा और वीरान किया है, उस पर हुकूमत की है।

समुन्दर के ज्वार-भाटे की तरह सदियों के दौरान में आदमी की मेहनत, उसके दुख और उल्लास मुझ पर खुदे और मिट गए हैं। सल्तनतों को अपनी छाती पर किए मैंने जब करवट ली है उनके पाए उखड़ गए हैं, उनके कलश कंगूरे धूल में मिल गए हैं जिनके टुकड़े आज भी जब तब मेरी मिट्टी में मिल जाते हैं। मेरी खड़ी इमारतों और उन महलों के खण्डहरों से मेरी पुरानी शान का कुछ अन्दाज़ लगेगा जो दारूल खलीफा, तुगलकाबाद, जहाँपनाह फिरोजाबाद और शाहजहाँनाबाद के नाम से कभी खड़े हुए फिर मिट गए। उनके भग्न स्तूप समझदारों के लिए अपने भीतर सदियों का रहस्य छिपाए हुए हैं परन्तु जितना मैं जानती हूँ उतना कोई नहीं जानता, न वे खण्डहर और न महलों की टूटी बुर्जियाँ।

माना मैंने कि शायद मैं उतनी पुरानी नहीं जितने हिन्दुस्तान के कई दूसरे शहर हैं, कि शायद मैं उनमें सबसे नई हूँ, और इसे मन्जूर करते मुझे जरा भी शरम नहीं होती। मगर दिल को हिला देने वाली जितनी घटनाएँ मेरी जमीन पर घटी हैं उतनी दुनिया के किसी शहर में न घटीं, न दमिश्क में, न बगदाद में, न समरकन्द में, न काहिरा में और अब मैं वही कहानी कहने जा रही हूँ जो बीते इतिहास के लिए भी नई है और उसको हैरत में डाल देने की ताकत रखती है। मेरी ईंट ईंट खून से लथपथ है और जब मैं ऐसा कह रही हूँ तब सच मानिए वह कुछ साहित्यिक या अदबी मुहावरों में नहीं बल्कि जिन्दगी की तरह सच्चा जो मेरे नजर के नीचे गुजरा है और अगर आपको यकीन न हो तो सीरी की बुनियादी ईंटों के सूखे गारे से पूछें जो आज भी सुर्ख हैं।

मेरी कहानी में जिन घटनाओं का समावेश है उन पर विश्वास नहीं होता, विश्वास करने का जी नहीं चाहता—आखिर बेटे द्वारा बाप का खून, खान्दान के खान्दान का नाश, शहर के शहर का कत्लेआम भला

आसानी से किसके विश्वास की वस्तु बन सकते हैं ? परन्तु जो मैं कहने जा रही हूँ उसकी बुनियाद कुछ ऐसी ही है।

हाँ, उसे मैं बुनियाद ही कहती हूँ क्योंकि यद्यपि यह सही है कि मेरी लगातार बस्ती प्रतिहारों और तोमरों के पहले की नहीं है। मेरा 'इन्दरपत' महाभारत काल की उस भूमि पर खड़ा है जिसे कभी पाण्डवों का इन्द्र प्रस्थ कहते थे और जिसके महलों में दुर्योधन को जमीन पानी और पानी जमीन दीख पड़ा था। और जिस इन्द्रप्रस्थ की बुनियाद भाइयों के उस झगड़े पर खड़ी थी जिसने एक बार सारे भारत को महासमर में झोंक दिया। हस्तिनापुर पर पाण्डवों का कब्जा हो जाने के बाद इन्द्रप्रस्थ की लक्ष्मी मलिन हो गई और जब हस्तिनापुर के गंगा की बाढ़ से बह जाने पर निचक्षु ने कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया तब तो इन्द्रप्रस्थ भारतीय राजनीति से भुला ही दिया और तब से वह अपना कान्तिहीन जीवन अब तक घसीटता आ रहा है।

परन्तु मैं उसी की प्राचीरों के पास जो तोमरों के शासन में खड़ी हुई तो आज तक मैं निरन्तर खड़ी रही। दिन बुरे भले दोनों मैंने भी देखे, कौन नहीं देखता, पर मुझे उस बदलते जमाने का कोई गम नहीं, अन्त भला तो सब भला, कुछ आज की ही कहावत नहीं और मुझे आज वह फक्र हासिल है जो इस देश के किसी नगर को, यानी कि मैं हिन्दुस्तान और आजाद हिन्दुस्तान की राजधानी हूँ।

तो मैं अपनी बुनियाद की कहानी कह रही थी, अनंगपाल की उस गहरी नींव की जिस पर खड़ी होकर मैंने कभी दम न तोड़ा। अनंगपाल तोमर था, उन प्रतिहारों का माण्डलिक जो पहले जोधपुर के पास मन्दोर में प्रतिष्ठित हुए थे, फिर उज्जैनी में और अन्त में कन्नौज में। तब से कुछ काल तक कन्नौज के साथ ही मेरी गाठ बँधी रही। अनंगपाल ने न केवल मुझे इन्दरपत के पास खड़ा किया वरन् उसने मुझे मन्दिरों, महलों और

तालाबों से सजाया भी। कुतुबमीनार के पास मेहरौली में जो लोहे की लाट खड़ी है और जिसपर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के यश से दक्षिण समुद्र के सुवासित होने तथा सिन्धु में सातों मुँहों को लाँघ वलख के हूणों को धूल चटा देने के बाद लिखी है। वह पहले वहाँ न थी पर .उसी मेरे जनक ने उसे लाकर वहाँ खड़ा किया।

तोमर कुछ विशेष शक्तिमान न थे, थे भी वे प्रतिहारों के सामन्त ही जो अन्त तक वे बने रहे और उनके हाथ से निकलकर गहड़वालों के समय में पूर्णतः कन्नौज के अधिकार में चली गई। यद्यपि उसके साथ भी मैं बहुत काल न रह सकी। वास्तव में मैं राजनीति का केन्द्र होना चाहती थी और मुझे कन्नौज और काशी के साथ बाँदी की भाँति बने रहना कभी न भाया। मैं राह देख रही थी उस विजेता की जो मुझे गहड़वालों से छीन मेरी स्थिति स्वतन्त्र कर देता, मुझे अपनी राजधानी बनाता और वहाँ अपने सल्तनत के पाये रखता। मैं महत्त्वाकांक्षिणी थी। मुझे अपना स्वप्न सच करना था और उसके लिए तब अवसर मिला जब वह विजेता आया जिसकी मैं अर्से से राह देख रही थी। शाकम्भरी (सांभर) और अजमेर का चहमान (चौहान) विग्रहराज चतुर्थ वीसलदेव था वह विजेता जिसने विजयचन्द्र गहड़वाल से मुझे छीन लिया। वीसल-देव को कुछ अकारण ही महाकवि सोमदेव ने "ललित-विग्रहराज" नहीं कहा। वह सचमुच ही रोमांचक और ललित था। उसका 'हरिकेलि-नाटक' स्पष्ट प्रमाण है कि उसने सरस्वती को अपने स्पर्श से पुलकित किया था परन्तु विशेष पुलकित मैं हुई जब उसने मुझे राजधानी का गौरव दिया। फिर तो शीघ्र बाद वह पद पृथ्वीराज तृतीय के शासनकाल में सुरक्षित हो गया।

पृथ्वीराज उस लालित्य और विलास का मूर्तिमान पराकाष्ठा था जिसका उसके पूर्वज विग्रहराज ने प्रारम्भ किया था। मुसलमान तवारीख-

नवीसों का 'रायपिथौरा' तत्कालीन भारतीय ललित कथाओं का अपने रोमांचक कृत्यों से नायक बन गया। हिन्दू काल में वस्तुतः मैं राजवन्ती उसी द्वारा हुई। उदयन की कथा मैंने सुनी थी। मेरी ही जमुना की धारा उस कौशाम्बी का भी स्पर्श करती थी। उसके तट से होकर भी बहती थी जिसके महलों को वत्सराज उदयन ने अपनी वीणा से कभी निनादित किया था, मैं भी कौशाम्बी की ही भाँति पृथ्वीराज के विलास से सहसा कान्तिमती हो उठी। मेरे महलों में भी प्रहत्तपुष्कर की स्निग्ध गंभीर ध्वनि पसर-पसर गूंजने लगी।

और मेरे स्वामी के अपने विलास को चरितार्थ करने के साधन भी थे। सबसे बड़ा साधन उसका शौर्य था। जब ताल ठोंक मैदान में वह उतर आता तब बाँके से बाँका लड़ाका पीठ दिखा जाता। मार्ग में जब वह तेवर बदल देता तब विशाल गज उसकी राह छोड़ देता। देश में अनेक लड़ाइयाँ जो उसने लड़ीं चाहे हिन्दू गौरव के लिए यह बात बेजा हो, वे सब विलास के राग से रंजित थे। शायद ही कोई लड़ाई उसने लड़ी हो जो किसी प्रेयसी के लिए न लड़ी हो। चन्देलों के महोबे और गहड़-वालों के कन्नौज में जो रक्त बहा वह निःसन्देह इसी कामना की भूख के कारण बहा। कालिंजर और महोबे पर अधिकार कर पृथ्वीराज ने कन्नौज से लोहा लिया। कन्नौज आज से नहीं कब से मेरी आँखों में खटक रहा था। एक जमाने तक उसके दामन से मैं बँधी रही थी पर अब जो मेरा नायक उधर बढ़ा तो मुझे बेहद खुशी हुई। कन्नौज का राजा जयचन्द उत्तरी भारत का सम्राट माना जाता था। उसने अनेक प्रदेश तो जीते ही थे, अश्वमेध भी उसने किया और राजसूय के अपने उस महोत्सव पर जहाँ अनेक राजा उसकी परिचर्या में लीन थे और अपनी पुत्री संयुक्ता का स्वयंवर जहाँ उसने ठाना था वहीं स्वामी पृथ्वीराज को उसने द्वारपाल नियुक्त किया था। और जब पृथ्वीराज ने उस अशिष्टता पर हँस दिया

तब उसने उसकी मूर्ति बनवाकर द्वार पर खड़ी कर दी। पृथ्वीराज कब का पतिव्रताओं का रहस्य हो गया था और जिस प्रकार चालुक्य राज को हरा उसने उसकी कन्या छीन ली थी उसी प्रकार कन्नौज पर टूट उसने संयुक्ता को लूट लिया। हाँ, उस लूट का मूल्य उसे महाप्राणों से चुकाना पड़ा—कन्ह और कैमास के प्राणों से जिनके तेवर के लड़ाके तब के हिन्दुस्तान में न थे।

इतना सब खोकर भी कन्नौज के पराभव के कारण मैं प्रसन्न ही हुई थी यद्यपि मेरी प्रसन्नता चिरस्थाई न हो सकी और मुझे रक्त के आँसू रोने पड़े, विशेषकर इस कारण कि आगे के युद्धों में कन्नौज ने मेरी मदद से इन्कार कर दिया। उन युद्धों की कहानी हिन्दुस्तान की हार की कहानी है, उसके स्वतन्त्रता के अपहरण की, जिसका बयान औरों ने तो किया ही है मैं भी करूँगी।

गजनी का तख्त गोर के उस पहाड़ी पठान ने उलट दिया जिसे हिन्दुस्तान के इतिहास में शहाबुद्दीन कहते हैं। शहाबुद्दीन ने हिन्दुस्तान के लहलहाते खेतों पर हसरत भरी निगाह डाली थी जब दुश्मन की चोट से भाग कर उसने सिन्ध के किनारे पनाह ली थी। महमूद की लूट की कहानियाँ कहने वाले अब भी गजनी और गोर के पहाड़ों में कुछ कम न थे। उनकी जबानी कितनी ही कहानियाँ शहाबुद्दीन ने सुनी थीं और उन्होंने उन खुशनुमा मैदानों की लूट के लिए नहीं उन पर हुकूमत के लिए उस पठान के दिल में एक आग पैदा कर दी थी।

शहाबुद्दीन एक बड़ी सेना लेकर सरहिन्द की ओर बढ़ा और उसे लाँघ तलावड़ी के उस मैदान में जा उतरा जहाँ पृथ्वीराज अपने राजपूतों के साथ डटा था। राजपूत, पठानों के लिए एक नई चीज थे। शहाबुद्दीन ने सैल्जुकों के नेजे देखे थे; ईरानियों की तलवार भी उसने देखी थी पर राजपूतों की आन उसे अभी देखनी थी। जब उसके रिसाले उस

पानीपत के मैदान में अफगानों पर टूटे तब उनके पैर उखड़ गए और शहाबुद्दीन गज़नी जाकर ही रुका पर वह अपनी हार की याद भुला न सका। इस्लाम की फौजों ने काफिर की चोट इस कदर कभी अपनी पीठ पर न ली थी। शहाबुद्दीन लौटा एक लाख बीस हजार सेना लिए, जिसमें मध्य एशिया के लासानी लड़ाके थे और जो इस्लाम के नाम पर हिन्दुस्तानी मन्दिरों की लूट की हविस लिए दौड़ पड़े थे। जब उसी मैदान में जो अभी पिछली लड़ाई के लहू से लाल था अफगानों ने चौहान घुड़सवारों पर हमला किए तो वे टस से मस न हुए। पठानों की समुद्र से उठती हुई लहरें जैसे लोहे की दीवार पर टूटतीं और बिखर पड़तीं। चौहान टस से मस न हुए। पर जहाँ लोहे की दाल न गली वहाँ शहाबुद्दीन की चाल चल गई। भागने के बहाने वह सचेत पीछे हटा और राजपूतों ने अपनी कतारें छोड़ उसका पीछा किया। व्यूह बद्ध पठान सेना लौटी और मेरी फौजें जो पहले ही तितर बितर हो गई थीं भाग चलीं। बड़ी मारकाट हुई और पृथ्वीराज स्वयं भयविगलित हो हाथी से घोड़े पर चढ़कर भागा। पठानों ने उसका पीछा किया और सरस्वती के किनारे पकड़ कर मार डाला। मैं विजित हो गई।

कन्नौज जो मेरे पराभव से मन ही मन पुलकित हो रहा था वह भी अधिक दिनों उस अभाग्य से अछूता न बचा जो मुझे अब तक निगल चुका था। अगले ही साल गोरी ने उसे भी लूट लिया यद्यपि वृद्ध जयचन्द ने चन्दावर के मैदान में उससे लोहा लिया और लड़ता हुआ मारा गया। मुझे यह कब गवारा था कि मेरा स्वामी तो भागता हुआ पकड़ कर मार डाला जाय और कन्नौज का स्वामी वीरता से लड़ता हुआ मरे? मैंने झट अपने दर्बारी कवि द्वारा 'पृथ्वीराजरासो' में आवश्यक परिवर्तन करा दिए जिससे मेरा स्वामी तो इतिहास का प्रसिद्ध नायक हो गया और जयचन्द देश की आजादी का दुश्मन!

जो भी हो मेरी धरा से हिन्दुओं का स्वतंत्र शासन सदा के लिए उठ गया। कुतुबुद्दीन ऐबक ने मेरे नगर पर अधिकार कर एक नई सल्तनत की वहाँ बुनियाद डाली। मैं पहले चन्द्रगुप्त की लाट के आस पास आज की अपनी नई बस्ती तक फैली हुई थी। उसी के बीच कुछ उत्तर ऐबक ने मुझे एक नया कलेवर दिया और मेरे बीच उसने दो सौ पचास फीट ऊँची वह लाट खड़ी की जो दुनिया की सबसे ऊँची मीनार है। मालवा और गुजरात, बिहार और बंगाल पर जब मेरा अधिकार हो गया तब कुतुबुद्दीन ने यह लाट उसकी यादगार में खड़ी की। जिस गुलाम वंश की हुकूमत ऐबक ने मेरे नगर में शुरू की उसकी कहानी इतिहास में अपना सानी नहीं रखती। तेरहवीं सदी असल में वह जमाना था जब प्रायः सारे मध्य एशिया और मिश्र में गुलामों का ही साम्राज्य था। गुलाम वास्तव में शक्तिमान ही जीवित रह सकता है इस सिद्धान्त का प्रतीक है। कारण की बादशाह का बेटा तो प्रकृति का दान है, लायक नालायक दोनों हो सकता है। पर गुलाम नालायक हो और नालायक होकर भी सल्तनत की बुनियाद डाले उस पर हुकूमत करे यह मुमकिन नहीं। वह लायक ही होकर रहेगा और हिन्दुस्तान में ऐबक द्वारा स्थापित गुलामवंश इसी सिद्धान्त की सच्चाई प्रमाणित करता है। ऐबक से बलबन तक लगातार गुलामों की शृंखला में एक भी ऐसा नहीं जो अपनी वैयक्तिक प्रतिभा से न उठा हो। इन गुलामों का एक एक कृत्य मेरे जिस्म पर लिखा है और उसकी याद मेरे लिये जैसे कल की घटना की याद है। जब मैं पृथ्वीराज के समृद्ध विलासी जीवन को देखती हूँ तो उधर से मुँह फेर लेती हूँ और बरबस मेरी आँखें इन अन-भिजात स्वयंसिद्ध गुलामों पर बरबस अटक जाती हैं। इन्होंने अपना राज्य अपने विक्रम से अर्जित किया और ताकत की चोटी तक ये उन परिस्थितियों से होकर गुजरे जिनकी एक एक साँस में मरणान्तक चोट

बसी थी। कैसे यह बचकर इस प्रकार असामान्य हो गए इसका जवाब यह खुद हैं।

कुतुबुद्दीन अधिक दिनों मुझे न भोग सका और उसका तख्त अलबारी के उस तुर्क अल्तमश को मिला जिसे उसने हिन्दुस्तान में खरीदा था और जब अल्तमश मेरी गद्दी पर बैठा तब यील्दिस काबुल का प्रहरी था। कुबाचा सिन्ध और लाहौर सँभाले था और बख्तियार बिहार और बंगाल पर काबिज था। तीनों गुलाम थे। तीनों जवाँ मर्द, तीनों महत्त्वाकांक्षी। अल्तमश अभी मेरी जमी उखड़ी प्राचीरें ठीक ही कर रहा था कि चंगेज खाँ की वह आँधी हिस्दुस्तान की ओर चली जिसे पश्चिमी इतिहासकारों ने 'खुदाई कोड़े' कहे हैं। चंगेज अपने मंगोलों को लिए ख्वारिज्म के शाह पर टूट पड़ा था और ख्वारिज्म का शाह जलालुद्दीन काबुल पर जा टूटा। फिर पहले यील्दिस, उसके पीछे जलालुद्दीन और उसकी पीठ पर चंगेज एकाएक सिन्ध के किनारे आ धमके। जलालुद्दीन को सिन्ध में ढकेल चंगेज लौटा क्योंकि उसे दुश्मनों से मध्य एशिया में लोहा लेना था। जलालुद्दीन भी लौटा। अपनी सल्तनत उसने एक बार अपनी तलवार और दृढ़ता से लौटा भी ली पर फिर उसे अपनी जान के साथ ही खो भी बैठा। यील्दिस और कुबाचा इतिहास से मिट गए और मैं बाल-बाल बच गई। बंगाल और बिहार ने भी मेरे तख्त के सामने सिर झुका दिया।

मालवा और गुजरात, बंगाल और बिहार, काबुल और पंजाब से धन धारासार मेरे खजाने में बरसने लगा। मेरा सुल्तान अपनी फय्याजी से दुनिया में मशहूर हो चला। खलीफा ने भी उसे खिलत भेजी और वह उन 'काफिरों' की लूट से गाजी बनने लगा जिनकी ओर से मैंने रुख फेर लिया था।

अल्तमश के बाद उसके नालायक बेटे चार दिन की हुकूमत कर

ऐश के जरियों से अपनी प्यास बुझा मिट गए और तब उसकी बेटी रजिया मेरे तख्त पर आई जा मेरे लम्बे इतिहास में मेरे तख्त पर सही सही बैठने वाली एक ही सुल्ताना है। इस तेरहवीं सदी में किस्मत की करवट से कुछ ऐसा बना कि एक साथ तीन सुल्तानाएँ मुसलमानी दुनिया के तीन लामिसाल तख्तों पर बैठीं—एक तो क्रूसेडर नवें लुई को हराने वाले मामलुक सुल्तान सलादीन के भतीजे की मलका—दुर्र मिश्र की सुल्ताना थी, दूसरी ईरान की आबिश और तीसरी हिन्दुस्तान की यह रजिया।

रजिया ने तवारीख के तरीके बदल दिये। हिन्दू जमाने से ही कभी कोई नारी मेरी गद्दी पर नहीं बैठी थी। और मुसलमानों को तो हिन्दुओं की तरह ही यह नाजायज लगा कि औरतजात उस गद्दी पर बैठे, जिसका विधान न कहीं कुरान में था, न हदीस में, न शरियत में! फिर अपनी कुव्वत, सूझ और दृढ़ता से उठने वाले तुर्क गुलामों को यह किसी तरह गवारा न था कि औरत मर्द के पोशाक में तख्त पर बैठे और हाथी पर चढ़ सेना का संचालन करे। खासकर जब रजिया ने अपनी कृपा से हब्शी गुलाम याकूत को कृतार्थ कर दिया तब तो सरदार भड़क ही उठे। और अल्तुनिया के नेतृत्व में इन्होंने उसे कैद कर लिया। पर रजिया जिस तरह दिलेर थी उसी तरह अक्लमन्द भी थी और उसने अपने कटाक्षों से अपने विजेता को बन्दी कर लिया। तब उसकी मदद से वह फिर मेरे नगर पर चढ़ आई मगर तब तक सल्तनत पर उसके भाई की हुकूमत एलान हो चुकी थी। रजिया को उसके दुश्मनों ने मार डाला और मेरी गद्दी पर एक ऐसा नाचीज़ बैठा जो तीन दिन भी न टिक सका।

फिर मुझे एक ऐसे बादशाह के साये में बैठना पड़ा जो अल्तमश का ही एक बेटा था और जिससे कभी खूँरेजी न की। वह नासिरुद्दीन था, सुल्तान दरवेश जो कुरान नकल कर और टोपियाँ सीकर अपनी गुजर

करता था, जिसके हरम में फकत एक बीबी थी जो सुल्तान के लिये खुद खाना बनाती, अपने हाथों काम करती। नासिरुद्दीन नेक था पर नेक-नियती उस जमाने के मेरे बादशाह के लिये फक्र की कोई वजह न थी। मेरे तख्त पर बैठना तब तलवार की धार पर बैठना था। उस पर वही बैठ सकता था जो चौकन्ना हो, और जो दूर पास के हर तेवर को समझ सके। मज़बूत हाथों विरोध को कुचल सके। निःसन्देह नासिरुद्दीन में उसे भोगने की ताकत न थी और अगर एक लम्बे अर्से तक वह वहाँ रह सका तो कुछ अपने बूते नहीं वरन् उसके बूते जो अपनी क्रूरता, दिलेरी और मेधा के लिये गुलाम सुल्तानों में मशहूर हो गया—बलबन।

बलबन उसी अलबारी का तुर्क था जहाँ का अल्तमश था मगर भोड़ा, नाटा, बदसूरत पर जिसे उसकी जबान की सफाई से चकित होकर अल्तमश ने खरीद लिया था। बलबन पहले अल्तमश का भिश्ती बना, फिर उसका घुड़सवार, फिर गायक, फिर सेनापति और तब एक जमाने तक नासिरुद्दीन का वजीर और अब मेरा स्वामी हिन्दुस्तान का सुल्तान। इतने अदने से इतना आला होते मैंने और किसी को न देखा और यही बलबन की महानता का रहस्य है। बलबन कुछ महीने अल्तमश और नासिरुद्दीन के बेटों की आपसी लड़ाई देखता रहा फिर जब उन्होंने क्रूरता और रक्तपात से परहेज को चुनौती दे दी तब बलबन उठा और उन्हें दूर कर तख्त पर आ बैठा।

क्रूर, सख्त, गम्भीर, न कभी हँसने वाला, न किसी को अपने सामने हँसने देने वाला बलबन जब मेरा स्वामी हुआ तब मैं खुद सहम गई। बलबन कुछ विशेष उदार न था। परन्तु शाही शान निभाना वह भले प्रकार जानता था। उसने कम से कम शहर और उसके पास दूर के इलाकों से चोरों और डाकुओं को दूर कर दिया। उसकी एकमात्र कामना अब मंगोलों से मेरी रक्षा करनी थी जो बार-बार हिन्दुस्तान पर

छापे मार रहे थे। इसी कारण मुझे छोड़ वह कभी बाहर भी न जाता था, यद्यपि एक बार उसे बाहर जाना पड़ा। बंगाल का सूबेदार तुग़रिल अपने इलाके में स्वतंत्र हो गया था। उसने अपने आपको बादशाह एलान कर दिया था और सिक्के अपने नाम के ढलवाए थे। बलबन ने उसको पकड़वाने के लिए दो-दो बार सेना भेजी और दोनों बार तुग़रिल ने उसे मार भगाया। तब बलबन खुद एक बड़ी सेना ले बरसात की मुसीबत की राह तय करता नदियाँ लाँघता बंगाल जा पहुँचा। तुग़रिल भागा पर पकड़ गया। उसे मार कर बलबन ने उसकी राजधानी में उसके सारे हिमायतियों को टाँग दिया। हजारों को उसने फाँसी दे दी और अपने बेटे बुग़राखाँ को बंगाल का हाकिम नियुक्त करते हुए उसने कहा कि 'देख बुग़रा दिल्ली से बगावत करने का नतीजा और अपनी भी हकीकत सोच ले।'

बलबन मुग़लों से मेरी रक्षा का भार अपने बेटे पीर मुहम्मद पर छोड़ पूरब गया हुआ था। अब जब वह लौटा तो मंगोलों ने उसके बेटे को मार डाला था। पीर मुहम्मद ही हिन्दी के पहले मुसलमान कवि अमीर खुसरो का संरक्षक था। उसके मरने से बलबन के दिल को बहुत चोट लगी। दिन भर तो वह किसी तरह दरबार में जमा काम में लगा रहता पर रात भर अपने बाल खींच-खींच बेटे की याद में रोता। इतने बड़े सिपाही को जो इस कदर सख्त और बेरहम था जब मैं अपने महलों में ज़ार-ज़ार रोते देखती तो मेरे भी आँसू छलछला आते। बलबन के साथ गुलामों का राजकुल वस्तुतः समाप्त हो गया यद्यपि उसके पोते ने फिर भी कुछ दिन मुझे भोगने की कोशिश की।

कैकुबाद जो बुग़राखाँ का बेटा था दादा की देख रेख में उसके सख्त कायदों की पाबन्दी में बड़ा हुआ था। सत्रह साल की उमर तक न उसे खूबसूरत लड़की को देखने का मौका मिला था न शराब की

एक चुस्की लेने का। नतीजा यह हुआ की गद्दी पर बैठते ही उसने व्यभिचार और शराब के नाम पर बड़े-बड़े पीने वालों को लजा दिया। बुगरा ने लौटकर उसको सँभालने की चेष्टा की पर सारा प्रयत्न निष्फल हुआ और कातिल के हाथ से कैकुबाद मारा गया। यद्यपि यह हत्या, हत्या नहीं खुदकुशी थी क्योंकि जब उसका अन्त करने के लिए हत्यारा उसके कमरे में पहुँचा तो, मुझे अच्छी तरह याद है, कैकुबाद शराब की आखीर चुस्की के साथ दम तोड़ रहा था और हत्यारे को सिवा उसकी लाश ठुकरा देने के और कुछ करना न पड़ा!

मैं फिर बगैर सुल्तान के हो गई। यह अराजक स्थिति मुझे अनेक बार भोगनी पड़ी थी और इस स्थिति में मुझे रक्त से नहाना पड़ता था। मजबूत हाथ हटते ही बराबर तख्त के लिए कशमकश होती और खूँरेजी के बाद जब कोई गद्दी पर बैठता अपने प्रतिपक्ष के बच्चे को खत्म करके ही दम लेता। इस वक्त भी वैसा ही हुआ और मेरे महलों की फर्श शाही खान्दान के बच्चे बूढ़ों के खून से धुल गई। तब खिलजी जलालुद्दीन ने सहसा मेरे तख्त पर कब्जा कर लिया और उसने उस राजकुल का आरम्भ किया जिसमें बस एक बादशाह हुआ अलाउद्दीन, जो वैसे तो अपढ़-गँवार था परन्तु तलवार जिसने मुट्ठी में कस कर पकड़ी और सल्तनत की हुकूमत में लामिसाल हुआ।

जलालुद्दीन नेक और रहमदिल था, जईफ और मजहबपरस्त, मगर नेक और रहमदिल बादशाह के लिए तब की मेरी गद्दी न थी। कुत्ते की नींद सोनेवाले, कौवे की तरह सतर्क, और बाज़ की तरह टूट पड़ने वाले ही सही सही उस सल्तनत की हुकूमत कर सकते थे। नेकी उस जमाने का सबसे बड़ा अभिशाप थी। जलालुद्दीन को भी उसका फल भुगतना पड़ा। उसका भतीजा अलाउद्दीन न केवल उसका भतीजा था वरन् दामाद भी था जिसे वह बेटे से बढ़कर चाहता था। अलाउद्दीन

कड़ा का सूबेदार था पर उसकी महत्त्वाकांक्षा सूबेदारी की सुकड़ी हदों में न समा सकी। वह सीधा दक्कन पहुँचा और देवगिरि के राजा को हरा उससे करोड़ों की सम्पत्ति छीन दिल्ली पहुँचा। चाचा ने आनन्द से पुलकित हो भतीजे को छाती से लगाने का उपक्रम किया तभी वह घटना घटी जो न केवल मेरे ही इतिहास में बल्कि दुनिया के इतिहास में क्रूरता में अपना सानी कम रखती है। कातिल की तलवार चचा के कलेजे पार हो गई। अलाउद्दीन सोना लुटाता मेरे तख्त पर आ बैठा और तब उसने रक्त की वह होली खेली जो मेरी याद में आज तक बनी है।

अलाउद्दीन ने बड़ी सख्ती से हुकूमत शुरू की। हिन्दुओं को उसने बड़ी बुरी तरह जेर किया। मुसलमान भी उससे कुछ कम न डरते थे। नए सिरे से उसने शासन का कार्य आरम्भ किया। पढ़ा लिखा वह न था यह सच है मगर इन्तजाम का माद्दा उसमें था और खूब था। उसकी भी महत्त्वाकांक्षा कुछ कम न थी। वह शराब की पीनक में एक बार बोला कि मैं चाहता हूँ कि मोहम्मद की तरह एक नया मजहब चलाऊँ और सिकन्दर की तरह दुनिया फतह करूँ। अपने सिक्कों में तो उसने अपने नाम के आगे 'दूसरा सिकन्दर' लिखवा ही दिया। परन्तु एक समझदार दरबारी ने उसको सुझाया कि वह मजहब चलाने का काम तो पैगम्बरों पर छोड़ दे और दुनिया जीतने के पहले वह उस दुनिया को जीत ले जो हिन्दुस्तान के भीतर खड़ी उसको ललकार रही है—रणथम्भौर—चंदेरी की, चित्तौर-मालवा की। निसन्देह रणथम्भौर और चित्तौर ने ही उसके साम्राज्य के सारे साधनों की इति कर दी पर दोनों को ले उसने जरूर लिया। अलाउद्दीन के जमाने में ही पहले पहल मुसलमान दक्खिन पहुँचे और उसके एक बड़े भाग पर अधिकार कर लिया। उसका हिन्दू गुलाम मलिक काफूर कई बार सेना लिए दक्खिन को रौंदता मालाबार और रामेश्वरम् तक जा पहुँचा और

अपनी लूट से उसने मेरे खजाने का कोना कोना भर दिया। एक बार तो वह ६६ हजार मन अकेला सोना लाया था, मोती, हीरे जवाहर के अलावा।

पर इस तरह की सख्त हुकूमत में जब डर के ऊपर ही सल्तनत के पाए रखे हों बगावतों का होना जरूरी है। बगावतें हुई भी खूब और एक बार तो उसके एक भतीजे ने उसको इतना मारा कि मरा हुआ जान कर छोड़ दिया फिर जब वह उसके हरम की ओर बढ़ा तब खोजे ने उसकी राह रोक कहा हरम में आप दाखिल जरूर हों पर तभी जब अलाउद्दीन का सिर मुझे दिखा दें। इसी समय अलाउदीन का सिर दिखाई पड़ा पर सिर ऐसा जो उसके मजबूत कंधों पर पहले का सा जमा हुआ था। भतीजे का सिर उसी दम धड़ से अलग हो गया। इस तरह की बगावतें एक नहीं अनेक हुईं और उनका इस कदर ताँता बँधा कि अलाउद्दीन के शासन काल का हर साल महीने तक उन बगावतों से भरे रहे और सुल्तान को लगातार उनका इन्तजाम सोचना पड़ा। उनका इन्तजाम बस एक था, तलवार से फैसला, जो करने में सुल्तान कभी न चूकता था। पर ये फैसले ही दूसरी बगावतों की बुनियाद साबित होते। फिर उनसे ऊबकर बादशाह ने एक नई घोषणा की। उसने सोचा कि बगावतें ज्यादातर दावतों और शराब की गोष्ठियों में तय पाती हैं। उसने अमीरों की दावतें बन्द कर दीं, शराब के दौर बन्द कर दिए, शराब की भट्ठियाँ बन्द कर दीं। खुद उसने शराब छोड़ दी। पीने के वेश कीमती बरतन तोड़ डाले। टूटे बरतनों के टुकड़ों से मेरा बदायूँ दरवाजा भर गया। उसके पास की जमीन फेंके शराब से बराबर गीली रहने लगी। अलाउद्दीन यहीं तक न रुका। उसने चरों का एक विभाग खोला और अब शहर के भीतर अमीरों के घर घर के भीतर उसने अपने जासूस नियत किए। कोई बात ऐसी न हो पाती जिसकी खबर उसे न

होती। प्रासादों के अन्दर अपने कुनबे में कोई बात कान में भी कहना अमीर खतरनाक समझने लगे। 'दीवारों के भी कान होते हैं' यह मुहावरा दुनिया में कभी भी ऐसा सच नहीं हुआ जैसा अलाउद्दीन के जमाने में। उसने दो अमीर घरानों को शादी में बंधना भी बन्द कर दिया जिससे दोनों की ताकत मिलकर खतरनाक न हो जाए। मेरा सारा शहर मातम और सदमें की नींद सोने और जगने लगा। हिन्दुओं के साथ तो जो सलूक उसने किया वह निहायत बेरहम था। उनके रईस कंगाल हो गए। उनकी बीबियाँ मुसलमान घर में बाँदियाँ बनने लगीं। उनको दाना-दाना मुहाल था।

मंगोलों का डर अभी कुछ कम न हुआ था। मैं बराबर घबराई हुई सी लाहौर और काबुल की ओर देखा करती। दो दो बार उनके हमले हुए और दोनों बार ऐसा मालूम हुआ कि मैं उजड़ जाऊँगी। एक बार तो वे मेरे 'सीरी' के महलों के परकोटे के सामने तक आ गए और उसे महीनों घेरे रहे। अलाउद्दीन ने फिर मैदान में उतर जफर खाँ की बहादुरी से उन्हें मार भगाया। दूसरी बार वे फिर आए और मेरे बाहर कुछ काल जमे रहे। इसी बीच मेरे शहर में उनका एक मोहल्ला भी बस गया था। सुल्तान ने उनमें से एक एक को, बीबी,बच्चे सब को बेरहमी से तलवार के घाट उतार दिया। वे तो वैसे भी कंगाल थे पर उन कंगालों के खून से मेरी गलियाँ धुल गई।

मंगोल खतरे से बचने के लिये अलाउद्दीन ने एक बड़ी भारी सेना प्रस्तुत की थी परन्तु चूँकि उसका खर्च आसानी से उठाया न जा सकता था इसलिये उसने अन्न की कीमत बराबर के लिए तय कर दी। साढ़े तीन आने मन गेहूँ, डेढ़ आने मन जौ, दो आने मन चावल और दो ही आने मन दाल मिलने लगी। सुन्दर काम करने वाले गुलाम नौकर दस रुपये में और रखैलें बीस रुपये में मिलने लगीं। रखैलों

की याद जब मुझे आती है तब इन्सानियत के इस पतन पर मैं आँसू डालती हूँ। यद्यपि मैं यह भूली नहीं कि महमूद गजनवी के हमले के बाद मध्य एशिया के बाजारों में उनका दर बेहद गिर गया था और उन्हें दस दस आने में वहाँ कोई खरीद सकता था क्योंकि हिन्दुस्तानी गुलामों से वहाँ के बाजार तब भर गये थे।

अलाउद्दीन के मरने के बाद मेरी वही गति हुई जो बलबन के बाद हुई थी और जो मजबूत सुल्तानों के मरने के बाद बराबर होती रही। बारी बारी से अलाउद्दीन के लड़के जो वजीरों के शिकार हो गए थे मेरी गद्दी पर बैठे। अलाउद्दीन के अस्सी हजार गुलाम शहर में थे। उन्होंने भी कुछ कम पैंतरे न किए, पर ताकत उस मुबारकशाह के हाथ लगी जिसने पहले तो छै साल के बच्चे बादशाह की अभिभावकता सँभाली, फिर उसे अंधा कर मरवा डाला। उसकी बेरहमी के किस्से कुछ थोड़े नहीं और मैंने तो इस तरह के अनेक अपने प्रासादों में होते देखे हैं। मैं यह कह सकती हूँ कि मुबारक की तरह का बेरहम सुल्तान शायद कभी मेरे महलों की फर्श पर नहीं उतरा। देवगिरि के हिन्दू राजा हरपाल के बगावत की सजा उसने दरबार में उसकी खाल जिन्दा खिंचवा कर दी। खाल खींचते वक्त की उसकी चीख आज भी मेरे कोने कोने में बस रही है। बगावतों का होना स्वाभाविक ही था। मुबारक के चचेरे भाई ने खुद ही बगावत की। इस पर न केवल उसने उसको मरवा दिया मगर उसके उन्तीस भाई बहनों को भी बेमुरब्बत मरवा डाला। खुद उसका शरीर भून उसकी बोटियाँ उसके घरवालों को खाने के लिए भेज दीं! अब वह खुद गद्दी पर था और उसने गुजरात के एक अछूत परवानी को अपना वजीर बना लिया था। उस परवानी के साथ वह दुनिया के सारे पाप करता और दोनों ने मेरे महलों में ज़ना का एक ताँता बाँध दिया। वे नंगे दरबार में आकर

अमीरों का अपमान करते और उनकी बेशर्मी देख मैं आँखें मीच लेती। एक दिन आखिर वही हुआ जो होना था। परवानी ने उसे कत्ल कर दिया और उसका धड़ लोगों ने एक रात किले की दीवार से बाहर गिरते देखा। परवानी जिसे मुबारकशाह ने ही खुसरो खाँ का खिताब दिया था अब नासिरुद्दीन के नाम से गद्दी पर बैठा और जिस बेशर्मी का उसने परिचय दिया उसका बयान नामुमकिन है। खिलजी सुल्तान के हरम पर उसने पूरा कब्जा कर लिया, जो शाहजादियाँ उसने जरूरत की न समझीं उनको उसने दूसरे परवानियों में बाँट दिया। मस्जिदों में उसने मूर्तियाँ बिठाईं और कुछ महीनों उसने तलवार के बल पर मेरे शहर में कोहराम मचा दिया।

अगर वह चाहता तो उसके हाथ में सब कुछ था। खजाना, फौज, किले और इनसे कहीं बढ़कर शहर और सल्तनत के मजलूम, और अलाउद्दीन के अस्सी हजार गुलाम जिनसे कुछ भी किया जा सकता था। मगर निरंकुश शासन की बुनियाद ही कुछ ऐसी है जो तख्त पर बैठने वाले को गुमराह कर देती है। नासिरुद्दीन ने भी वही किया जो उसकी स्थिति के लोग किया करते हैं, करते आए थे। पर आखिर यह स्थिति बराबर कायम न रह सकती थी और अमीरों ने लाहौर और उत्तर-पश्चिम के किलों के प्रहरी गयासुद्दीन तुगलक की ओर देखा। गयासुद्दीन मेरे नगर पर चढ़ आया। परवानी ने खजाने का सोना फौज को बाँट दिया और तलवार ले मैदान में उतर आया पर इसी वक्त तुगलक का बेटा जौना जो बाद में मुहम्मद तुगलक के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुआ और जो तब मेरे घुड़सवारों का सर्दार था, शाही रिसाले के साथ बाप से जा मिला। गाजी तुगलक गयासुद्दीन खिलजियों के तख्त पर आ बैठा और सीरी के महल को बरबाद कर उसने मुझे नए सिरे से बसाया और मेरी नई बस्ती को तुगलकाबाद

कहा। मुझे याद है दो साल के निरन्तर मेहनत से लाखों राजों और मजदूरों द्वारा तुगलकाबाद और उसके भीतर का मेरा शाही महल तैयार हुआ था। पर उस महल में तुगलक रह न सका। उसमें वह प्रवेश भी न कर सका और बेटे की मुहब्बत का वह शिकार हुआ। बंगाल की बदअमनी दबाकर वह लौटा था और अपने नए नगर में वह प्रवेश ही करना चाहता था कि बेटे की मुहब्बत ने उसे रोक दिया—कहा कि नए नगर में शाही दाखिला मुनासिब इस्तकबाल और जशन के साथ होना चाहिए। जशन हुआ पर जिस मण्डप में सुल्तान का स्वागत होने वाला था एन मौके पर वह बैठ गया। कैसे बैठ गया यह वह बेटा जाने जो आज इस दुनिया में उसकी कैफियत देने को जिन्दा नहीं।

मोहम्मद तुगलक की बादशाहत कुछ अजब थी। कुछ ऐसी कि जिसका सानी दुनिया के इतिहास में नहीं। लोगों ने उसे पागल भी कहा है, दूरदर्शी भी। मैं वह क्या था इसका फैसला अपनी कहानी पढ़ने वालों पर छोड़ती हूँ पर इतना जरूर कहूँगी कि मेरे तख्त पर कोई ऐसा बादशाह न बैठा जो इतना किस्मतवर रहा हो और सखुन में इतना लामिसाल जितना मोहम्मद था। गुजरात, मालवा, दक्कन, द्वारसमुद्र तक और सारा हिन्दुस्तान जीत कर बाप खुद उसे छोड़ गया था और दिमागी इल्म में जितना सही और जितना बेअन्दाज आलिम वह था उतना कभी कोई बादशाह मेरे तख्त पर न बैठा। गजब का दार्शनिक और ग्रीक दर्शन का पण्डित, असाधारण गणितज्ञ और आलिमों को भी अपने तर्क से चुप कर देने वाला तार्किक, उस वाक्प्रवीणता के युग में गजब का वक्ता, फारसी साहित्य का असाधारण जानकार और हरूफ नक्काशी में अपना नमूना आप वह मोहम्मद था। ऐसा भी नहीं कि वह रिआया की भलाई न चाहता हो पर बात यह

थी कि वह गुमराह था और उसकी सारी तरकीबें आसमानी थीं, जमीन की नहीं।

चीन जीतने के लिए उसने एक सेना भेजी जो पहाड़ों में गल गई, बची खुची उसने मरवा डाली। फिर उसने सोचा कि दिल्ली न केवल खूँखार मंगोली के खतरों की पहुँच में है, दक्खिन पश्चिम के सूबों से दूर, बहुत दूर है और वहाँ से आने वाली खिराज़ वियाबाँ की सड़कों पर लुट जाती है। अगर देवगिरि को राजधानी बनाया जाय तो वह सल्तनत के बीच में हो और हुकूमत मुनासिब तौर से हो सके। अपनी कामना को शुभ करने के लिए उसने देवगिरि का नाम बदलकर दौलताबाद रखा और मेरे शहर की प्रजा को, अमीर गरीब को उसने वहाँ जा बसने का हुक्म दिया। उसकी हुक्म उदूली का नतीजा क्या होगा यह मेरे नगरवासी जानते थे। सात सौ मील चल कर वे उस रूखे सूखे मराठे देश के बीच पहाड़ी देवगिरि पहुँचे, जहाँ न उनके खुशनुमे बाग थे, न जमुना का निर्मल पानी, न उनकी ऊँची मस्जिदें, न आरामदेह मकान। रियाया तबाह हो गई। ज्यादातर सात सौ मील की उस मुसाफिरी में चल बसे थे, बहुतेरे नए शहर की तकलीफों और नई बीमारियों के शिकार हो गए थे और जो बचे थे उनकी मुसीबत और उनकी तबाही देख उन्हें लौटने का हुक्म दिया। मैं उजड़ गई थी और अपनी मुसीबत की कहानी मैं क्या कहूँ जिसका बयान कुछ ही साल बाद मेरे शहर में आनेवाले मूर इब्नबतूता के हाल में पढ़ा जा सकता है। मैं उजड़ गई थी और मेरी सड़कों पर लाखों लाशें सड़ रही थीं।

सुल्तान झल्लाया हुआ था। उसने रिआया पर नए कर लगा दिए और कन्नौज तथा डलमऊ तक के प्रदेश उजाड़ डाले। खड़ी खेती छोड़ किसान जङ्गलों में भागे पर वहाँ उन्हें घेर कर सुल्तान ने बनैले जानवरों की तरह मरवा डाला। फिर जो उसे होश हुआ तो उसने

उनका सालाना कर माफ़ कर दिया। उन्हें नए सिरे से खेती करने के लिए सल्तनत की ओर से उधार रुपये दिए, बीज और जरूरत की चीजें दीं। कुबले खाँ ने चीन में चमड़े के सिक्के चलाए थे और ईरान के बादशाह ने कागज़ के रुपये चला कर रिआया को ठगना चाहा था मोहम्मद ने ताँबे के सिक्के चलाए और उन्हें चाँदी सोने के बदले लेना शुरू किया। मेरे शहर का हर घर तब ताँबे के सिक्के ढालनेवाला टकसाल बन गया और खजाना उनसे भर गया, सोने चाँदी के सिक्कों से खाली हो गया। बाहर से आनेवालों ने उन ताँबे के सिक्कों का अम्बार 'तुगलकाबाद के दरवाजे पर सालों बाद खड़ा देखा। सल्तनत तबाह थी, रियाया कुचल गई थी, भिखमंगी हो गई थी, फिर भी मोहम्मद अपनी फय्याजी की नई मंजिलें तय कर रहा था। विद्वानों को दान देने में उसने नई ऊँचाइयाँ नापी और विदेशी घुमक्कड़ों को तो उसने मालामाल कर दिया। जागीर और खिलत, घोड़े, हाथी और धन देना तो उन्हें उसकी मामूली बात थी। इब्नबतूता को उसने न केवल धन, दौलत और जागीर बख्शी, काजी बनाया, बल्कि उसे अपना दूत बनाकर चीन के सम्राट के पास भेजा। तुगलकाबाद में, गाजी के मेरे नए शहर में जिसमें गाजी एक दिन भी न रह सका था उसका वह सुनहरी खपरैलों से छाया महल खाली पड़ा रहा पर मोहम्मद उसमें एक दिन भी न पैठा। उसने लाखों खर्च कर अपना नया नगर बसाया और उसमें उसने जहाँपनाह नाम का अपना नया महल खड़ा किया। यह मैं इधर के जमाने में पाँचवीं बार बसी थी। पृथ्वीराज का हिन्दू-नगर कब का याद से भुलाया जा चुका था, कुतुबुद्दीन और अल्तमश की दीवारें भी कब की हिल चुकी थीं, सीरी की प्राचीरें तुगलक ने ही छोड़ दी थीं, तुगलकाबाद वीरान पड़ा था और अब दस मील लम्बी-चौड़ी मेरी आबादी जो जहाँपनाह के इर्द गिर्द फैली थी, उजड़ी पड़ी थी।

मोहम्मद से आखिर मुझे नजात मिली जब सिन्धियों से लड़ता वह सिन्धु के किनारे बुखार का शिकार हो गया और तब उसका चचेरा भाई इस्लाम का परमभक्त और इमारतों का मशहूर निर्माता मेरी गद्दी पर बैठा। इस नेकदिल बादशाह को सारी जिन्दगी मोहम्मद की गलतियों को दुरुस्त करने में लगानी पड़ी। इसने जिन जिन पर जुल्म हुआ था उनसे माफी लिखवा कर मोहम्मद के साथ दफना दिया जिससे कयामत के दिन उस बादशाह पर खुदा की रहमत बरसे! फिरोज को गुलामों का बड़ा शौक था। अक्सर गुलाम वह अपनी नजर में लेता, दो लाख के करीब उनकी संख्या मेरे नगर में हो गई थी। उनमें से चालीस हजार तो केवल महल की रक्षा में नियुक्त थे, उनकी अपनी सेना थी, अपना खजाना था, अपने अफसर थे और मैंने हसरत भरी नजर से बार बार उन गुलामों की ओर देखा और पूछा क्यों नहीं वे अपनी फौजों का अपने खज़ाने का अपने लिए इस्तेमाल करते? क्यों नहीं मेरे तख्त पर कब्जा कर वे अभिजात कुलियों को उनके विलास का मजा चखा देते। परन्तु कुचले हुए उन गुलामों में हिम्मत न थी, उनमें अरमान तक न थे, कोई हसरत न थी।

फिरोजशाह तुगलक ने मुझे छठीं बार आकार दिया और मेरी नई आबादी फिरोजाबाद के नाम से दुनिया में मशहूर हुई। फिरोजाबाद में ही फिरोज के वजीरआजम और खानानेखान मकबूल खाँ का वह हरम कायम था जिसकी चर्चा तबकी दुनिया में दबी मुस्कराहट से होती थी और जिसमें उसकी दो हजार बीबियाँ। जैतूनी रंग की ग्रीक बेगमों से लेकर पीली चीनी बेगमों तक। मैंने अपनी इस लम्बी उम्र में इतना बड़ा हरम कभी न देखा था और बाद में भी ऐसी तादाद मेरे महलों में न उतरी। मकबूल खाँ को बादशाह इतना मानता था कि उसके हर बेटे के लिए उसने एक हजार की आमदनी बाँध दी थी, और हर बेटी की शादी

के लिए खर्च। फिर दो हजार बेगमों से बराबर पैदा होती रहनेवाली औलाद के खर्च का अन्दाज लगाया जा सकता है। पर आखिर उस खर्च की कैफियत लेनेवाला कौन था जब कि खुदा का पेशवा वह बादशाह खुद उसे बख्श रहा था।

फिर भी अपनी उस चोट की कहानी मुझे कहनी ही होगी जिसकी याद अक्सर मेरी नींद तोड़ देती है। जब मेरे नगर में तुगलकों के वंशधर वजीरों के हाथ की पुतली हो रहे थे, जब मेरे नगर और कन्नौज में दो दो बादशाहतें खड़ी हो गयी थीं और जब अकेले मेरे ही नगर में दस मील के बीच मोहम्मद और नसरत सल्तनत के ख्वाब देखने लगे थे तभी समरकन्द से वह तैमूर निकला जिसने एशिया माइनर तक कुस्तुन्तुनिया की हदों तक अपना साम्राज्य खड़ा किया था। काबुल पर उसका पोता पीर मोहम्मद पहले से ही काबिज़ था। उसे मुल्तान की ओर भेज तैमूर सिन्ध नद के तट पर आ खड़ा हुआ, उस सिन्ध के किनारे जिसे चंगेज के सामने भागते खुरासानी शाह जलालुद्दीन ने तैर कर पार कर लिया था। और जिसके बहुत पहले सिकन्दर कभी खड़े होकर रोया था उस दरिया को नावों के बेड़े से पार कर तैमूर पञ्जाब के मैदानों में आ धमका! उसके लूट की कहानी मैंने कब से सुन रखी थी और उसके सामने भागते अपने पैरों की धूल से आसमान में बादल उठाते भगेड़ों ने जब आकर मुझ से जलते गाँवों और घण्टे भर में दस दस हज़ार दुश्मनों को तलवार के घाट उतार देने की तैमूर की बात कही तब मेरा कलेजा दहल उठा। पर होना वही था जो होकर रहा। पानीपत के मैदान में मोहम्मद ने जाकर उसका सामना किया पर रात के अँधेरे में उसे पहले किले में फिर पहाड़ों में पनाह लेनी पड़ी। सात रोज की राह चल राह के गाँवों को लूटता तैमूर मेरे दरवाजे पर आ खड़ा हुआ। सात रोज मेरे दिल की धड़कन बन्द रही। मेरे शहर के रईसों ने

जाकर मेरी रक्षा का मूल्य उससे पूछा। जो कुछ तैमूर ने माँगा वह मेरी जान बख्श देने के बदले देना मन्जूर किया। १३९८ के जाड़े के दिन थे; दिसम्बर का महीना, जब लेन देन में कुछ दिक्कत हुई और तैमूर ने अपनी फौजों को मुझे लूटने का हुक्म दे दिया। इस हुक्म का मतलब मैं आँक चुकी थी क्योंकि पानीपत के मैदान में लड़ाई के पहले इन्तजाम की कमी की वजह से जो तैमूर अपने एक लाख कैदियों को बिला किसी अहसास के मार सकता था उसका हुक्म था यह। हुक्म की देर थी। कत्ल और लूट के नाम पर दौड़ पड़नेवाले पठान और तुर्क खुरासानी और मंगोल मेरे मुहल्लों पर टूट पड़े। चार दिन लगातार मेरी गलियाँ खून उगलती रहीं और मैं बेरहमी से लुटती पिटती रही। अनन्त अनन्त धन तैमूर के सिपाहियों को मिला। अनन्त अनन्त जानें मेरी सड़कों पर बिछ गईं। सय्यदों और मुल्लों का मुहल्ला भर तैमूर के क्रोध से बच रहा। तब कहीं उसे संतोष हुआ और मेरठ और हरद्वार को उजाड़ता, मर्दों का कत्ल करता, औरतों और बच्चों को बन्दी करता, नगरकोट की राह पहाड़ों के पीछे ओझल हो गया। मैं बरबाद हो गई।

खैर आगे की कहानी सुनिए। फिरोज के बेटों ने खुद उसके कालिख लगा दी और तब फिर एक बार मेरे महलों में तलवारें चमकीं और रक्त उलीचा जाने लगा। तुगलक खान्दान के जिन बुजदिलों ने उस शाही नरमेध में अपनी आहुति दी उनका नाम मैं जबान पर भी न लाऊँगी। इतना कह देना काफी होगा कि उनके कमजोर हाथों से पहले दौलत खाँ लोदी ने राजदण्ड छीन लिया, फिर खिज्र खाँ ने और तब सय्यदों का राज मेरे नगर में कायम हुआ। पैगम्बर के नाम पर जीने वाले इन सय्यद बादशाहों में खुद तलवार सँभालने की ताकत न रही और वह लोदियों के हाथ में कुछ ही साल बाद चली गई।

बहलोल खाँ लोदी काफी दिलेर था और उसने अफगानों का एक

नया राजकुल मेरे सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। सिकन्दर ने उसके सल्तनत को दूर तक फैलाया पर इब्राहीम बहादुर होता हुआ भी नासमझ था और उसने मेरे महलों में बारबार जो तुर्क सरदारों और अफगानी अमीरों का अपमान किया तो वे भड़क उठे। बंगाल और बिहार में उनके दो प्रबल घराने कब के खड़े हो चुके थे। वे एकाएक स्वतन्त्र हो गए। इसी प्रकार मालवा और गुजरात में भी बगावत का झण्डा खड़ा हुआ और दक्कन और पश्चिम के दूर के सूबे कब के हाथ से निकल गए थे। इसी बीच हिन्दुओं में फ़िर सरगर्मी पैदा हो चुकी थी और जगह जगह उनके राजा सिर उठाने लगे थे। मालवा में नवाब न होकर भी मेदनीराय बहुत कुछ था और मेवाड़ में राणा साँगा ताकत और दिलेरी में काफी ख्याति पा चुका था। गुजरात और मालवा तक उसका आतंक छाया हुआ था और मारवाड़ और आगरे तक उसकी धाक थी। लोदियों ने मुझे छोड़कर आगरे को अपनाया था और इब्राहीम और साँगा की सल्तनतों की सीमा जमुना थी। दो दो बार राणा ने इब्राहीम को जीता था और दो दो बार मुझे ऐसा लगा कि मैं फिर मुसलमानों के हाथ से निकलकर हिन्दुओं के हाथ में चली जाऊँगी। मगर ऐसा हुआ नहीं क्योंकि जवाँमर्द साँगा ने मेरे तख्त की जिम्मेदारी सँभालने की ताब न थी। उसने दौलत खाँ को काबुल में उस बाबर के पास भेजा जो फरगना के मैदानों में सैकड़ों लड़ाइयाँ हार जीत चुका था। उसे उसने कहलाया कि मौका है, आकर वह दिल्ली ले ले और तब मेवाड़ और दिल्ली की सीमा जमुना होगी। पर अपने मंगोलों के साथ दुनिया में हदसा पैदा कर देने वाले खुदाई कोड़े चंगेज और समरकन्द से मेसोपोतामिया-एशियामाइनर तक साम्राज्य खड़ा करने वाले बीहड़ तैमूर के वंशधर उस बाबर को जीत के बाद हदें दिखाने की जरूरत न थी। बाबर आया और पानीपत के उस

कातिल मैदान में उसने बारह हज़ार घुड़सवारों से इब्राहीम की एक लाख सेना तितर बितर कर दी। अपने तोपखाने से उसने इब्राहीम के हाथियों में भगदड़ मचा दी। इब्राहीम खेत रहा और मुझ पर कब्जा उस बाँके जवान का हुआ जो बगल में दो दो जवान दबा किले की दीवार पर दौड़ जाता था और जिसने रास्ते की हर नदी तैर कर पार की थी। बाबर के हाथ में आ मैं बहुत प्रसन्न हुई और मेरी प्रसन्नता का कारण यह था क्योंकि उसने मेरे नगर में उस बड़े राजकुल की नींव डाली जिसने दो सदियों तक भारत पर अटूट राज्य किया। और जिसमें एक से एक जवाँमर्द और समझदार बादशाह हुए।

मगर बाबर को अभी बहुत कुछ करना था। उसने मुझे जीत तो लिया था पर चित्तौर मेरी ओर आँख गड़ाए देख रही थी और उसका स्वामी साँगा बाबर से मैदान लेने के लिए बियाने की ओर बढ़ा आ रहा था। जब तक वह न कुचल जाता मैं भला किस कदर अपनी प्राचीरों में इत्मीनान की नींद सो सकती थी। बाबर सीकरी की ओर बढ़ा पर उसकी सेना के अगले सिपाहियों को राजपूती चोट की बानगी तत्काल मिल गई और बाबर की सेना में आतंक छा गया। बाबर खुद कम डरा हुआ न था। उसने सैल्जुकों की चोट जानी थी, तुर्कों का तुलुगमा भी उसका अनजाना न था, पठानों के तेवर उसने देखे थे, खुरासानी रिसालों का हमला उसने बेकार कर दिया था पर अब दिलेरी की जो दीवार उसके सामने थी उसके तेवर कुछ और थे। राजपूती आन की बात वह सुन चुका था जिसका अन्दाज साँगा की पहली चोट ने उसे कुछ दे दिया था। साँगा खुद जाती ताकत में बाबर से कुछ कम न था, गोकि उसके बदन पर अस्सी घाव थे। एक आँख फूट चुकी थी, एक हाथ गायब था! सीकरी के मैदान में जब दोनों फौजें आमने सामने खड़ी हुईं तब बाबर के होश गुम हो गए और खासकर जबकि उसकी फौज में डर की सर्द

लहर दौड़ गई। उसने नमाज पढ़ी, कौल किया कि अब वह शराब कभी न पिएगा। शराब के बर्तन उसने तोड़ डाले और आदमी की जान की क्षणभंगुरता पर अपनी फौज को एक खासा लेक्चर दिया। लड़ाई जमकर हुई। दगती तोपों के मुँह पर राजपूत रिसालों की कतार की कतार टूटती आती और आग बरसाती तोपों का मुँह उन मौत में कूदते राजपूतों से बन्द हो जाता और अगर कही तोपें चमड़े की जंजीरों से जकड़ी न होतीं उस तरीके से जिसे बाबर ने अपने पश्चिमी युद्धों में जीता था और जिसका इस्तेमाल बोहेमिया के तोपची जर्मन रिसालों को रोकने में करते थे तब पाँसा पलट गया होता। जीत बाबर की हुई और मैंने सन्तोष की साँस ली। मेरी जान में जान आई। बाबर की छाया में मैं दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ चली। बंगाल बिहार मालवा गुजरात बारी बारी मेरी हुकूमत में दाखिल हुए मगर बाबर की तबियत मुझसे न भरी और उसने आगरे को अपना आवास बनाया। आगरे को ही उसने खुशनुमा और ठंडे बगीचों से भर दिया पर वहाँ भी वह हिन्दुस्तान की गर्मी में टिक न सका।

अब मैं नई शक्ति और नए गौरव के राजमार्ग पर आरूढ़ हो चुकी थी। मुझे अपनी भावी महत्ता साकार सी होकर साक्षात दीखने लगी यद्यपि उसमें हुमायूँ के गद्दी नशीन होने के कारण शुरू में ही कुछ ठेस लगी ऐसा नहीं कि हुमायूँ जवाँमर्द और दिलेर न था। ऐसा भी नहीं कि वह बाप की खड़ी की सल्तनत खो देना चाहता था पर इतना जरूर है कि वह दायित्व कम समझता था। ऐस विलास का जीवन उसे पसन्द था और अपनी लड़ाइयों के बीच बीच अक्सर वह नाच, रंग, शराब और अफीम के नशे में खो जाता था। गुजरात और मालवा की उसकी लड़ाइयाँ कुछ मामूली न थीं और उनमें जिस दिलेरी का परिचय उसने दिया था वह भी कुछ साधारण न था पर वहाँ से लौट कर आगरे में जो

उसने शराब के दौर शुरू किए तो शेरखाँ ने अपनी ताकत बिहार में मजबूत कर ली और जब चुनार को ले वह गौड़ पहुँचा तो वहाँ उसने इस कदर नाच रंग में दुनिया भुला दी कि शेरशाह ने अपने को बादशाह एलान कर दिया और हुमायूँ को मेरी गद्दी ही छोड़नी पड़ी। मैंने सल्तनत को बहादुरों की आन पर उनकी हार जीत के बात बिगड़ते बनते देखा है, कितनी ही बार मैं इस तरह छिन गई हूँ पर विशाल सेना लिए बिना एक गोली चलाए अगर किसी को मैंने भागते देखा तो हुमायूँ को। कन्नौज के मैदान में जब शेरशाह अपनी फौज लिए हुमायूँ के सामने उतरा तब वह मेरे सुल्तान के मुकाबले कुछ न थी। मगर उस अफगान का आतंक इस कदर शत्रु पर छा गया, हुमायूँ की सेना और खुद हुमायूँ पर उसका रोब इस कदर गालिब हुआ कि शाही सेना मय उसके शाह के मैदान छोड़ भाग चली। फिर तो जैसे हुमायूँ के पैर में चक्कर बँध गया और वह मेरे नगर से लाहौर, लाहौर से मुल्तान, मुल्तान से अमरकोट, अमरकोट से ईरान भागता फिरा।

मेरा स्वामी अब शेरशाह था। शेरशाह कुल पाँच साल मेरे तख्त पर रहा मगर उस पाँच साल में जो उसने किया हुमायूँ पाँच सौ साल में नहीं कर सकता था। पंजाब, मालवा, गुजरात, बंगाल और बिहार को तो उसने मेरे तख्त के पायों से बाँधा ही, राजपूताने की वह वीर प्रसवा भूमि जहाँ बड़े बड़ों के होश उड़ जाते थे शेरशाह ने सर कर ली। उसने अपने बिहारी और भोजपुरिये जवानों से राजपूताने की जमीन रौंद डाली। यह पहला अवसर था जब सूबे का एक सिपाही मुझे छीन मेरे तख्त पर कब्जा कर ले। अब तक रीति दूसरी रही थी—यानी कि या तो बाहर के विजेताओं ने मुझ पर कब्जा किया था या मुझ पर काबिज बादशाहों ने हिन्दुस्तान के सूबे जीते थे। शेरशाह बादशाह था। उसका इंच इंच बादशाह था। रोब, इल्म, दिलेरी का वह मूर्तिमान प्रतीक था।

पाँच साल की अपनी हुकूमत में उसने हिन्दुस्तान का रुख बदल दिया। सल्तनत के इन्तजाम में वह एकता था। कभी किसी बादशाह ने इतना इल्म, इतना सखुन सल्तनत के इन्तजाम पर खर्च न किया था। पुलिस और सेना, सूबे और राजधानी, सड़क और डाक सिक्के और फरमान सबमें उसने जरूरी और लाभकर परिवर्तन किए। कहा गया है और सही कहा गया है कि आज का हिन्दुस्तान बहुत कुछ शेरशाह का ऋणी है—अपने सिक्कों में, डाक के इन्तजाम में, सड़कों में और इनसे बढ़ कर जमीन के बन्दोबस्त में अब मैं दूर दराज की दिल्ली न थी बल्कि मेरी सड़कें एक ओर पटने और ससाराम को छूती थीं दूसरी ओर पेशावर को। अगले दिनों में अकबर ने जो कुछ किया उसका बहुत कुछ श्रेय इसी शेरशाह को है।

उसके मरने पर जैसा अक्सर मजबूत बादशाह के मरने पर होता आया है कमजोर हाथों में उसकी तलवार चली गई। सलीमशाह कुछ न कर सका। आदिलशाह ने बिहार बंगाल की राह ली। इब्राहीम और सिकन्दर आगरे दिल्ली में परस्पर टकराते रहे तभी हुमायूँ ईरानी मदद लिए लौटा। पहले उसने काबुल-कन्दहार लिए, फिर पञ्जाब-सरहिन्द और फिर सिकन्दर को हरा कर उसने पहाड़ों में धकेल दिया और खुद मेरे नगर में घुसा। मेरी गद्दी में तैमूर का वंशधर फिर बैठा यद्यपि वह मुझे देर तक भोग न सका। महल के जीने से उतरते समय उसके पैर रपट गए और वह इस दुनिया से कूच कर गया।

तब मेरे इतिहास में वह जमाना आया जो भारी सरपंज का हुआ करता है। हुमायूँ का बेटा अकबर तेरह साल का बालक था। दादा की जीती सल्तनत को बाप ने खोकर फिर पाया था पर उसमें पैर रखते ही वह चल बसा था। सूबे प्रायः आजाद थे और दुश्मनों के मुल्क में दुश्मनों की तायदाद कुछ कम न थी जब अकबर अभी बालक था। सरदारों में काना-

फूसी होने लगी। काबुल लौट चलने पर जोर देने वाले बहुत थे पर बैरम-खाँ अड़ गया। बाबर और हुमायूँ की लड़ाइयों में वह लड़ चुका था और अकबर का वह अभिभावक था। उसने मेरे .तख़्त पर पैर जमाए रखने की राय दी पर मेरे तख्त पर कितनी ही आँखें गड़ी थीं खासकर उस हेमू की जो ताकत, सेना-पतित्व और सूझ में तबके हिन्दुस्तान में एक था। वह बिहार बंगाल के अफगानों की विशाल सेना लिए मेरी ओर बढ़ा आ रहा था। आगरा पर उसने घुसते ही कब्जा कर लिया और अब वह पानीपत की ओर बढ़ा पर अभाग्यवश उसका तोपखाना जो उसकी फौज को रक्षा से बहुत आगे बढ़ आया था एकाएक उसके हाथ से निकल गया और बैरमखाँ ने उस पर कब्जा कर लिया। हेमू लड़ा और वीरता से लड़ा पर तीर की चोट से आँख फूट जाने पर जब वह लड़खड़ा कर बेहोश हो गया तब उसकी सेना भाग चली। अकबर बाबर की उस सल्तनत का अब सुल्तान था जिसकी नींव उसके गजब के दिलेर दादा ने रक्खी थी। और जिसके बढ़ाने और इन्तजाम करने में अकबर ने बादशाहों के सामने एक उदाहरण रख दिया।

हिन्दुस्तान के इतिहास में कई बार ऐसा हुआ है कि दादा बहादुर और बुद्धिमान हुआ पर बाप निकम्मा निकला और तब पोते ने दादा की बहादुरी और बुद्धिमानी पाकर फिर बाप का जमाना बदल दिया। पाटलिपुत्र के गुप्तों के समय ऐसा ही हुआ था जब साम्राज्य निर्माता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का पुत्र विलासी कुमारगुप्त हुआ और उसका पुत्रतपस्वी स्कन्द गुप्त। इसी प्रकार मेवाड़ के अप्रतिम लड़ाके राणासाँगा का बेटा उदय सिंह हुआ और उसका असाधारण पुत्र प्रताप। उसी उसूल के मुताबिक मुगल इतिहास के पन्ने भी लिखे जा रहे थे जब दिलेर बाबर का बेटा अफीमची हुमायूँ हुआ और उसका पुत्र अकबर महान्।

अकबर हिन्दुस्तान के ही बादशाहों में नहीं दुनिया के बादशाहों में

और उनकी अगली कतार में अपनी जगह रखता है। दुनिया का इतिहास शायद इस प्रकार का कोई बादशाह नहीं दिखा सकता जो निरक्षर होकर भी इतना बुद्धिमान, इतना सुन्दर शासक, इतना योग्य, इतना इन्साफ-पसन्द, विद्वानों का इतना आदर करने वाला हुआ हो जितना यह अकबर था। सच बात तो यह है कि अशोक के बगल में अगर कोई दूसरा बादशाह खड़ा हो सकता है तो वह अकबर है। यद्यपि उन दोनों के गुणों में असाधारण वैषम्य है, मैं केवल ऊँचाइयों की बात कह रही हूँ।

अकबर ने सल्तनत को खूब बढ़ाया और उसने उसे बढ़ाया ही नहीं उसके सुन्दर शासन की भी उसने व्यवस्था की। माना कि वह अक्सर आगरे में रहने लगा था, फतहपुर सीकरी के अपने बनाए किले और महलों में अब वह दर्बार करने लगा था जहाँ उसकी अध्यक्षता में मुल्ले और पंडित, पादरी और रब्बी दीन इलाही के उसूलों की चर्चा करते, सत्य की खोज में बहस करते, पर सल्तनत मेरी थी, तख्त मेरा था जिस पर अकबर विराजमान था। मेरे हो नगर में उसने अपना वह गजब का लाल किला बनवाया जो उसकी होनहार औलाद की पसन्द से बराबर बढ़ता गया। अकबर ने जो व्यवस्था की उसे लिखने के लिए बड़ी-बड़ी पोथियाँ चाहिए और पोथियाँ अबुलफजल और फिरिश्ता ने लिखी भी हैं। मैं महज इतना कहूँगी कि अकबर सा बहादुर, उसका सा नेकदिल और बुद्धिमान् मेरी गद्दी पर दूसरा न बैठा। उसके दर्बार में गजब के बुद्धिमान् बैठते जिनको वह नवरत्न कहता था। जिनमें मानसिंह, अबुल फजल, फैजी, तानसेन, टोडरमल, बीरबल, अब्दुल रहीम आदि थे।

मुझे याद है वैरमखाँ की अभिभावकता से निकल कर भी उसने उसकी बगावत को कैसे माफ कर दिया था और कैसे हेमू के से खतरनाक

दुश्मन पर भी जिसने उसकी सल्तनत खतरे में डाल दी थी उसने हाथ उठाने से इन्कार कर दिया था और किस तरह एक जमाने तक अपनी धाय माहम अनगा की जनानी राय को भी आदर से मन्जूर किया था। माहम अनगा के बेटे आदमखाँ की अनेक बुराइयाँ उसने दर नजर कर दी थीं मगर आखिर जब उसके एक प्रिय पात्र को आदम ने मार डाला तब घूँसे की एक चोट से बादशाह ने उसे गिरा दिया और परकोटे से फेंक दिए जाने का हुक्म दिया।

मेरे इस नए खूबसूरत और खूबसूरती परस्त बादशाह के बड़प्पन की अनेक-अनेक कहानियाँ हैं जिनका कहना मुझे इस समय इष्ट नहीं। केवल इतना कहूँगी कि उसने सूझ से हुकूमत का तो इन्तजाम किया ही बहादुरी से सल्तनत को बढ़ाया भी और मेरा मस्तक उसके स्पर्श से सदा ऊँचा उठता गया। उदयसिंह और प्रताप से उसकी टक्करें निश्चय होती रहीं पर चित्तौर को सर करते उसे देर न लगी। सोलहवीं सदी के मेरे नगर, आगरे और फतहपुर सीकरी में दुनिया के कलावन्तों का जमघट हो गया।

अकबर के बाद उसका बागी बेटा सलीम जहाँगीर के नाम से मेरी गद्दी पर बैठा पर ज्यादातर वह भी बाप और बेटे की तरह आगरे में ही रहने लगा। लाहौर और काश्मीर के उसके दौरे अक्सर मेरी ही राह होते थे और जब कभी वह मेरे महलों में उतरता मैं परित्यक्ता नायिका की भाँति कुछ खीझ, कुछ मान से भर जाती पर उस अफीमची औरत-पसन्द बादशाह ने मेरी ओर रुख न किया। एक बार जब बागी बेटे ने उसे कैद कर दिया तब जरूर वह मेरी दीवारों के पीछे आया पर मैं नहीं समझती मुझे उसे अपना स्वामी कहने का कोई अधिकार है भी।

खुर्रम शाहजहाँ के नाम से बादशाह बना। पर वह भी ज्यादातर आगरे में ही रहता था और उसका स्पर्श केवल जब तब ही हुआ

किया । पर इतना जरूर है कि मुझे उस इमारतपसन्द बादशाह ने कुछ ऐसी चीजें दीं जो न केवल हिन्दुस्तान में ही बल्कि दुनिया में नायाब हैं। जामा मस्जिद जो उसने अपने दादा के बनवाए किले के सामने खड़ी की अपनी खूबसूरती और लम्बाई चौड़ाई में जमीन पर अपना सानी नहीं रखती। मेरे किले के भीतर उसने जो दरबारे आम और खास बनवाए वे भी वास्तुकला में अपना एक ही स्थान रखते हैं।

शाहजहाँ को अपने बेटे के हाथ वही सलूक मिला जो उसने अपने बूढ़े बाप के साथ किया था। उसके बेटे औरंगजेब ने बुढ़ापे में उसे कैद कर लिया और उसके देखते ही देखते उसके और बेटों को मार डाला। औरंगजेब अब मेरा स्वामी था, मेरा सच्चा स्वामी जिसने आगरा छोड़ मेरे नगर में निवास किया। औरंगजेब की याद कर मुझे अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं। उसने सल्तनत की हदें इतनी बढ़ा दीं जितनी मुसलमान शासन काल में हिन्दुस्तान में कभी न बढ़ी थीं, हिन्दूकुश से दक्कन तक, गुजरात काठियावाड़ से उड़ीसा तक सारी जमीन उसके कब्जे में थी। हाँ, उसे खोने का श्रेय भी उसी के हाथ है। काश वह औरों की इमानदारी पर भी यकीन कर सकता। यकीन न कर सकने की वजह से ही उसे बेहद काम करना पड़ता था। माना कि वह गजब का काम करने वाला था पर सल्तनत और इतनी बड़ी सल्तनत जो इस काल मेरी थी अकेले इन्सान के बस की बात नहीं। अकेला इन्सान चाहे जितना बड़ा भी हो उसकी कुवत की हदें होती हैं और औरंगजेब की भी थीं।

औरंगजेब वीर था। वीरता में लासानी था और इस सम्बन्ध में अपने आचरण से जो दृष्टान्त उसने रख दिए हैं उन्हें मेरे किसी बादशाह ने कभी चरितार्थ नहीं किया, उसके पूर्वज तैमूर ने भी नहीं, बाबर ने भी नहीं, अकबर ने भी नहीं। फरगना के मैदान में जब दुश्मन

हावी था और औरंगजेब की सेना जूझ रही थी, जब लमहा-लमहा जान की कीमत का था, जब जरा सी लापरवाही गर्दन नाप सकती थी तब भी जवाँमर्द औरंगजेब नमाज का वक्त आते ही घोड़े से कूद पड़ा, बिछती हुई लाशों के बीच उसने जानमाज बिछा ली और खुदा की इबादत में घुटने टेक दिए। मैदान जीतती हुई दुश्मनों की फौज चकित हो ठमक गई और उसके सर्दार ने तलवार म्यान में कर कहा—बन्द करो लड़ाई आज की, पागलपन है इस दीवाने से लड़ना।

पर धर्मात की जीत के बाद जिसे बाँके दारा और दिलेर जसवन्त सिंह ने पीठ दिखा दी थी, सामूगढ़ की लड़ाई में भी जिसने उसे सल्तनत जीत दी थी, उसने बहादुरी का जो मिसाल दुनिया के सामने रखा उसका सानी नहीं दीखता। मुराद राजपूतों की चोट से तिलमिला कर मैदान छोड़ पीछे लौटा, गुजरात और मालवा की फौजों ने अपने घोड़ों की बाग पीछे फेर ली, औरंगजेब की खुद की दक्खिनी फौज ने भी लड़ाई पागलपन समझ अपने रुख पीछे कर लिए और तब औरंगजेब ने बूँदी के छत्रसाल के सवारों की चोटें पर चोटें खाकर भी एकाएक हुक्म दिया कि मेरे हाथी के पैर में कील जड़ी जंजीरें डाल दो और उन जंजीरों के सिरों को जमीन में गाड़ दो। औरंगजेब करबला के मैदान में खड़ा है पीछे नहीं लौटने का। मुराद लौटा, गुजरात और मालवा की फौजें लौटीं, दक्कन की औरंगजेब की निजी फौजें भी लौट पड़ीं, बूँदी के राजपूत बिखर गए। जहानआरा का छत्रसाल खुद खेत रहा। वही औरंगजेब अब मेरी गद्दी पर था।

औरंगजेब जो मजहब का कट्टर पुजारी था, जिसने जिन्दगी में कभी मांस नहीं खाया, जिसने कभी शराब नहीं छुई, जो बराबर अपने अटूट वैभव और धन के बीच दरवेश का सा जीवन बिताता था, जो सिवा शाही कपड़ों के तड़क-भड़क का एक सामान अपने ऊपर न लादता

था, जो टोपियाँ सी सी और कुरा! नकल कर अपनी जिन्दगी बसर करता था, और जिसने मजहबी पाबन्दी के मारे अपने जिस्म को गला डाला वही औरंगजेब अब मेरी गद्दी पर था। मजहब की उसकी इसी कट्टरता ने उसे तबाह भी कर डाला, और उसकी होने से खुद मुझे भी। दक्कन शिया रियासतों को उसने दुश्मन बना दिया। चीतों के से मराठों को उसने दुश्मन बना दिया, जाटों को उसने दुश्मन बना दिया और राजपूतों और सिखों तक को। मथुरा और काशी की लूट से मेरे खजाने भर गए। उनके मन्दिरों की मूर्तियाँ मेरी मस्जिदों की सीढ़ियों में लगीं। पर यही वैभव मेरा कफन भी बन गया। औरंगजेब नब्बे साल की उम्र में ज़ईफी के बोझ से दबा, अफसोस और चिन्ताओं का शिकार मुझसे दूर, खुशनुमा हिन्दुस्तान से दूर दक्कन के पहाड़ी इलाकों में मरा, औरंगाबाद में। और जो वह मरा तो चट्टान मेरी छाती पर तोड़ता गया। उसके निकम्मे बेटे किसी काम के न रहे।

मैं एक जमाने तक उसकी याद में रोती-बिसूरती रही और जब-जब उसकी निकम्मी औलाद ने मेरा रुतबा नीचा किया तब-तब मैंने अपनी ही जमीन पर रक्त के आँसू डाले, लहू के घूँट पिए। इतनी बड़ी सल्तनत जिसका इतना जवाँमर्द और लासानी रक्षक था औरंगजेब एकाएक लड़खड़ा कर गिर पड़ी और अपने ही खण्डहरों में खो गई! उसके बाद का इतिहास मेरे बड़प्पन का नहीं अवसान का है, पतन का। पर जो मैंने अपने बड़प्पन की कहानी कही है तो अपने पतन की कहानी कहने से भी मैं मुँह न मोड़ूँगी। सुनिए।

औरंगजेब ने मेरे ही नगर को, जैसा मैं पहले कह चुकी हूँ, अपनी राजधानी बनाया था, उसी शाहजहाँनाबाद में जिसे उसके बाप शाहजहाँ ने बसाकर मुझे सातवीं बार नया जन्म दिया था। उसी शाहजहाँनाबाद में जिसकी दीवारें कभी शान और डर पैदा करती थीं अब शराब के दौर

और भड़ैती के दर्बार होने लगे । बहादुरशाह के दर्बार को देख कर कोई सोच भी न सकता था कि अकबर या औरंगजेब कभी वहाँ बैठे होंगे, बाबर या शाहजहाँ ने कभी वहाँ कदम रखे होंगे । बहादुरशाह के बाद जहाँदार आया और जहाँदार के बाद फरुखशियर के जमाने में हुसैन भाइयों ने मुझ पर बुरी तरह अधिकार कर लिया था । फरुखशियर के तौर तरीकों ने उन्हें नाराज कर दिया और अपनी हिम्मत की कीमत उसे अपनी जान से चुकानी पड़ी । फिर मोहम्मदशाह मेरी गद्दी पर बैठा और तब जो कहर मुझ पर ढायी गई वह तैमूरी हमले की मुझे याद दिला देती है । खुरासान का गड़रिया नादिर कुछ काल पहले ईरान का शाह बन गया था और अब वह मुगलों के उस आला खान्दान की निकम्मी औलाद की ओर बढ़ा जो मुझ पर काबिज होने का दम भर रही थी । राह के गाँव और शहर लूटता नादिर मेरे दरवाजे पर आ खड़ा हुआ । मोहम्मदशाह ने मेरी रक्षा के लिए कुछ मोल तोल की पर मेरे नागरिकों ने नादिरशाह की फौज पर रात में जो छापे मारे तो उस खूँखार भेड़िये ने अपना गिरोह मेरे नगर पर ललकार दिया । मेरे सड़क पर खून की गंगा-यमुना बह चलीं, लूट और कत्ल से मेरी बुर्जियाँ तक चीख उठीं । उन्होंने जो कभी न देखा था वह अब देखा । करोड़ों रुपए, मेरे नगर का वैभव जो प्रायः दो सौ साल से अछूता बचा था जिसकी सम्पत्ति बादशाहों की एक मजबूत परम्परा ने जोड़ी थी और जिसे हिन्दुस्तान के नगरों की लूट से औरंगजेब ने गणनातीत कर दिया था नादिरशाह ने मुझसे छीन लिया । शाहजहाँ के उस ला मिसाल तख्त ताऊस को भी जिसे प्रसिद्ध फ्रेन्च सुनार ऊसिन दबोर्दो ने तैयार किया था झपट कर ले लिया और दुनिया का वह अनमोल हीरा कोहनूर भी जिसे हुमायूँ ने ग्वालियर के हिन्दू राजा से भेट पाई थी और जो अब इंगलैन्ड के बादशाह और मलका के ताजों का नूर है, वह छीन ले गया !

मेरी हालत दिन पर दिन नाजुक होती गई, अधोधः गिरती गई। हिन्दुस्तान के दक्खिन के पश्चिमी पूर्वी किनारों पर योरप के फ़िरंगी उस जमाने से सौदागर की हैसियत से आ बसे थे। सोलहवीं सदी में ही जब अकबर और जहाँगीर का मुझ पर साया था तभी आगरे के दर्बार में अंग्रेज बादशाह के दूत आए और उन्होंने अपनी मिन्नतों और भेटों से जहाँगीर और शाहजहाँ को खुश कर इस देश में अपने पाँव जमा लिए। धीरे धीरे जब मेरे बादशाह कमजोर होने लगे तब उन्होंने दक्खिन में अपना राज बढ़ाया। डच, पुर्तगालियों और फ्रान्सीसियों को भगा कर अंग्रेज मद्रास और बंगाल के स्वामी हुए और इस तरह उन्होंने अपने को जलील और हिन्दुस्तानियों को जेर कर इस मुल्क पर कब्जा किया यह मेरे कहने की बात नहीं। बक्सर की लड़ाई में मीर कासिम, शुजा-उद्दौला और साथ ही मेरे बादशाह शाहआलम को एक साथ हरा कर उन्होंने इलाहाबाद और कड़ा तक के मेरे प्रदेश ले लिए और शाहआलम को पेन्शन कर दी। मेरे पतन की वह सीमा थी जब मेरे बाबर की औलाद अंग्रेजों की पेंन्शन की उम्मीद करने लगी और जब वह उसे भी एक दिन खो बैठी!

ऊधर दक्खिन में मराठे बराबर जोर पकड़ते जा रहे थे। हैदरअली, निजाम वगैरह को उन्होंने कबकी धूल चटा दी थी और उनके हमले गुजरात, मालवा, आगरा और मुझ पर भी अक्सर होने लगे। उन्होंने हर तरफ से चौथ और सरदेशाई वसूलनी शुरू की। बालाजी विश्वनाथ और बाजीराव ने पेशवा के रूप में मराठों को एक नई शक्ति दी और उन्होंने मुझे और मेरे नाममात्र के बादशाह को बन्दी बना लिया। इन्हीं दिनों अफगानिस्तान के नए अमीर अहमदशाह अब्दाली ने मुझ पर हमला किया मुझे लूटा और मथुरा की तरफ बढ़ा। भरतपुर के

जाटों ने उसका मुकाबला किया और मथुरा की सड़कों पर लाशें बिछ गईं। अब्दाली लौट गया।

उजड़े अरक्षित देश को अपनी स्वाभाविक अमलदारी समझ मराठों ने तत्काल उत्तर की ओर रुख किया। काशी और मथुरा की लूट का बदला उन्होंने मुझे लूट कर लिया और मुझ पर कब्जा कर पञ्जाब में भी उन्होंने अपना शासक नियुक्त किया। मुसलमानी हुकूमत तेरहवीं सदी के आरम्भ में कायम होने से लेकर अब तक कभी हिन्दुओं की ताकत ऐसी न बढ़ी थी कि वे मेरी ओर तो क्या दूर की सीमा पर भी खुद मुख्तार होने का दावा कर सकते पर अब बाज की चपेट में जैसे अबाबील आ जाय वैसे ही मैं मराठों की पकड़ में आ गई थी। मेरा करवट लेना भी मुहाल था और पश्चिमी पञ्जाब पर उनका कब्जा हो गया। पञ्जाब मेरी लूट के बाद काबुल का हो गया था और अब्दाली उस पर मराठों को काबिज देख लौटा। पानीपत के मैदान में मराठों और अफगानों में फिर एक बार कशमकश हुई और भाऊ विश्वनाथ राव सूरजमल सब तहस नहस हो गए। पेशवा बाजीराव ने इस हार की खबर सुन दम तोड़ दिया। साम्राज्य के निर्माण के लिए हिन्दुओं का यह आखिरी प्रयत्न था, शिवाजी के बनाए राष्ट्र की यह अन्तिम जद्दोजिहद।

धीरे-धीरे मुझ पर भी उस अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी का राज्य कायम हुआ जो घटा की तरह बढ़ कर हिन्दुस्तान के सारे आसमान पर छा चुकी थी। पर उसके अफसरों की बदमिजाज़ी और गवर्नरों की बेइमानी ने हिन्दुस्तानियों को एक सबक सिखा दिया और वे अपनी आजादी फिर से हासिल करने के लिए कटिबद्ध हुए। १८५७ में मेरठ की हिन्दुस्तानी फौजों में विद्रोह की आग भड़की और आगरे, कानपूर, लखनऊ, बनारस, पटना, चारों ओर भड़कती चली गई। उसी बीच

मेरी हिन्दुस्तानी फौजें भी बागी हो गईं। उन्होंने अंग्रेज अफसरों को मार डाला और बहादुरशाह को मेरी कबकी खाली गद्दी पर बिठा मेरे लाल किले पर अपना हरा झण्डा गाड़ दिया। पर यह लड़ाई सही सही चल न सकी और गोकि नाना साहब, लक्ष्मी बाई, तात्याँ टोपे, कुँवर सिंह उसके नेताओं में थे देशी राजाओं, सिखों और गुरखों ने आजादी की मेरी वह लड़ाई दबा दी और मेरे अरमान धूल में बिखर गए। मुझ पर फिर अंग्रेजों का कब्जा हुआ और ईस्ट इंडिया के हाथ से निकल कर सारे हिन्दुस्तान के साथ मैं अंग्रेजी मलका विक्टोरिया की हुकूमत में आई।

जैसे-जैसे अंग्रेजों की हुकूमत देश के प्रान्तों पर बढ़ती गई थी वैसे ही वैसे राजनीतिक केन्द्र के रूप में कलकत्ते का प्रभाव बढ़ता गया था। वह प्रभाव १६११ तक वहाँ रहा। कलकत्ता इस बीच हिन्दुस्तान की राजधानी रहा। मैं तब बिल्कुल नाचीज़ थी; यद्यपि मैं अपनी उस गरीब हालत को कलकत्ते के प्रभाव से कुछ कम नहीं समझती। १६११ में जार्ज पन्चम मेरे किले में उतरा और यहाँ उसका हिन्दुस्तान की ओर से राज्याभिषेक हुआ। मैं शर्म से गड़ गई। ऐसा नहीं कि विदेशी राजाओं ने मुझ पर हुकूमत न की हो। मेरा इतिहास विदेशी विजयों से भरा पड़ा है। पर इतना जरूर है जिन विदेशियों ने इस मुल्क पर हुकूमत की उन्होंने इसे ही अपना घर समझा और ईमान या बेईमानी से इस मुल्क का लूटा हुआ धन इसी की जमीन पर उन्होंने खर्च किया। पर अंग्रेज जो आये तो उन्होंने समुन्दर पार के अपने खज़ाने इस देश की लूट से भरने लगे। दूर के विदेशी बादशाह को अपना बादशाह कहते मुझे कुछ खुशी न हुई पर जब मेरे रजवाड़ों ने ही मेरी अस्मत दूसरों के जिम्मे कर दी तब उसमें मुझे क्या कहना था। मेरी हकीकत ही क्या थी। मैं चुप-चाप आहें भरती उस सदमे को सहती रही।

पर हिन्दुस्तान चुप न रह सका। लगातार वह अपने अधिकार माँगता रहा और पिछले दिनों तो उसने अपनी स्वतन्त्रता का आन्दोलन भी शुरू कर दिया। पहले सन् २१ का असहयोग आन्दोलन फिर ३१ का, ३१ की लगान बन्दी फिर ३३ का सत्याग्रह। इन आन्दोलनों का एकमात्र नेता मोहनदास कर्मचन्द गांधी था जिसको इस देश की जनता ने महात्मा कहा और जिसके नाम के उच्चारण से मेरे शरीर का रोम रोम पवित्र हो जाता है।

सन् ३७ में प्रान्तों के कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल बने। सन् ३९ में उन्हें अंगरेजों के दाँव पेंच से मजबूर होकर इस्तीफा देना पड़ा। सन् ४२ में सरकार के सारे हिन्दुस्तानी नेताओं के पकड़ लेने के बाद देश में आग लग गई, रेल की लाइनें उखड़ गई, स्टेशन, थाने और कचहरियाँ फुँक गईं और साथ ही बदले में गाँव भी फुँके, रक्त की होली भी खेली गई, दूसरा महासमर यूरोप में चल रहा था। मजबूर होकर अंग्रेजों को नेताओं को रिहा करना पड़ा। और वाइसराय को उनसे समझौता करना पड़ा। देश ने क्रिप्स के प्रस्ताव को ठुकरा दिया पर माऊँटबैटन की सलाह से कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने अन्तरिम मन्त्रिमण्डल बनाया हिन्दुस्तान बँट गया और मेरे हाथ से सदा के लिये पंजाब, सिन्ध, सीमाप्रान्त और पूर्वी बंगाल निकल गये। हिन्दुस्तान आजाद हुआ पर बहुत कुछ खोकर। और सब से बड़ा तो जुल्म मैंने दुनिया में देखा वह इस बटवारे के बाद हिन्दू मुसलमानों का था, एक दूसरे पर। कलकत्ते, नोआखाली, बिहार और पंजाब में जो रक्त की धारायें बहीं उनका बयान मैं नहीं कर सकती। पन्जाब से उखड़ी हुई जनता की एक धारा मेरी ओर बहती और हिन्दुस्तान की जनता की उखड़ी दूसरी धारा मेरी ओर से पन्जाब की ओर और जो कुछ मेरी जमीन पर नाजिल हुआ उसका बयान मैं नहीं कर सकती। तैमूर और नादिर की चोट मैंने सही

थी, अब्दाली और मराठों की लूट भी मुझे न भूली पर भाई-भाई में जो यहाँ तलवार चली, एक ने दूसरे के खिलाफ जो इस जमीन पर साजिश की उसका बयान मैं क्या करूँ ?

और उस दर्दनाक नजारे की जिसका सानी दुनिया के इतिहास में कहीं नहीं। हिन्दुस्तान की आजादी जीतनेवाले, हिन्दुस्तान में राष्ट्रीयता का नारा बुलन्द करने वाले; हिन्दू मुसलमानों को भाई-भाई बने रहने की सलाह देन वाले, अहिंसा और सत्य के उस फरिश्ते गाँधी को मैंने अपनी ही जमीन पर अपने ही मन्त्रिमण्डल की रक्षा में, कांग्रेस के ही खजानची सेठ बिड़ला के बिड़ला भवन के मैदान में हत्यारे की गोली से घायल, खून से लथपथ गिरते देखा। मैं क्या, मानवता लुट गई, आसमान ने ऐसा काम कभी न देखा था। मेरी सड़कों पर उस सत्याग्रही महात्मा के शव के साथ जितनी अपार भीड़ रोती और सिसकती चली उतनी मैंने अपनी इस हज़ार साल की जिन्दगी में कभी न देखी। इतने आँसू एक साथ कभी मेरी जमीन पर न गिरे। इतनी कराहें कभी मेरी हवा में न उठीं।

१६११ में मैंने नई जिन्दगी पाई। पुरानी दिल्ली की दीवारों के बाहर, पृथ्वीराज और तोमरों की दिल्ली से दूरी गुलामों और अलाउद्दीन के सीरी से दूर, तुगलकाबाद, जहाँपनाह, और फिरोजाबाद से भी दूर, शाहजहाँनाबाद की उत्तरी पड़ोस में मुझे फिर एक जिन्दगी मिली, आठवीं बार, जो सर एडविन ने दी। मैं अब फिर भारत की राजधानी हूँ यद्यपि मेरा एक अंग कट कर अलग हो गया है। हाँ, मेरी जमीन पर अब महल नहीं खड़े हैं और न उन राजा, रानियों, शाहजादी, बेगमों के नजरबाग ही हैं जहाँ लोग प्यार और खून की साजिशें करते थे। पर मेरा कलेवर जो अब दफ्तरों और एक से बने मकानों की मनहूसियत से संवारा गया है वह भी कुछ खास मुझे माफिक नहीं पड़ता। मैं अपने

अफसरों के तेवर और पिसते हुए नौजवान क्लार्कों को देखती हूँ और फिर अपने उन नेता मन्त्रियों को देखती हूँ जो मेरे लाड़ले गाँधी के नाम पर दिन में सात बार सत्य और अहिंसा का उपदेश देते हैं जो इस गरीब देश का धन अपनी तड़क-भड़क और हवाई जहाजों के सफर पर लुटाते हैं। देश में दिन-रात होते हुये उद्घाटनों में 'सदर' की जगह लेते हैं। और उन्हीं की नाक के नीचे भूखमरी की सड़ी बदबू फैल रही है, उन्हीं की आँखों के नीचे चोरी का बाजार गर्म है। मैंने सदियाँ देखी हैं, सन् ६६३ में मेरी बुनियाद पड़ी और यह सन् १९५० का साल है पर इस हज़ार साल की अपनी दौरान में मैं जो आज देख रही हूँ वह मैंने कभी न देखा। इस अदृश्य चोट में तैमूर और नादिर की चोटें सौ गुनी होकर उठती हैं और मेरे रोम-रोम में भर जाती हैं। मैं तबाह हूँ और मेरे सामने आजादी का भी एक चेहरा लगा हुआ है। और मैं जानती हूँ वह मेरी सच्ची आजादी नहीं, फकत चेहरा है, झूठा। एक उम्मीद है जिससे मुझे दिलजमई होती है और वह यह कि जो है वह भी न रहेगा!